रासपञ्चाध्यायी

फेशालव व्याख्या

मूल लेखक :—डॉ० महानामव्रत ब्रह्मचारी एम० ए०, पीएच-डी, डी० लिट्

अनुवादक :—चतुर्भुज तोषणीवाल

संख्या ६९८
विषय १८

श्री श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास विरचित

श्रीमद्भागवतमहापुराणान्तर्गत

[दशम स्कन्धकी २६वीं से ३३वीं अध्याय]

६९८
९२

रासपञ्चाध्यायी

की

फेलालव व्याख्या

मूल लेखक :—डॉ० महानामव्रत ब्रह्मचारी एम० ए०, पी एच-डी०, डी-लिट्,

अनुवादक :—चतुर्भुज तोषणीवाल

प्रकाशक :

भारतीय सद्ग्रन्थ प्रकाशन
पो० सुमेरपुर—३०६९०२
जिला पाली (राजस्थान)

प्रथम संस्करण : ५०० प्रतियां

प्रकाशन तिथि :
रास पूर्णिमा,
आश्विन शुक्ला १५, वि० संवत् २०४९
११ अक्टूबर १९९२

न्यौछावर—२५) पच्चीस रुपये मात्र

मुद्रक :—
आचार्य मुद्रणालय
ए. १/१२ गायघाट
वाराणसी–२२१००१

698
92

श्रीहरिः

वाक्य पुष्पोपायनम्

अनुग्रह उत्तम कोई आत्मनिग्रह साधन अनुष्ठान आराधन उपासन नहीं। भक्तिमार्ग अनुग्रह मार्ग है। अनुग्रह से श्रीहरि के श्रीचरणों में सहज अनुराग होगा। श्रीमद्भागवतजी भगवान का वाङ्मय अनुग्रह विग्रह है। अनुश्रव भगवान् के निर्देशानुसार "द्वादशाङ्गोऽयं पुरुषः" द्वादशस्कन्धात्मक साक्षात् पूर्ण पुरुष का आनन्दघन विग्रह है। दशम स्कन्ध पूर्ण पुरुष का कृपामय हृदय है। अनुरागपूर्ण हृदय ही हृदय का निरोध कर पाता और कोई सरल एवं सफल उपाय नहीं होगा। श्रीमद्भागवत जी का दशम स्कन्ध हृदय है और हृदय का हृदय रासपञ्चाध्यायी है। रासपञ्चाध्यायी का श्री गोपीगीत है। साधन अनुष्ठान आदि सफल उपायों से चित्त शुद्धि सहज सिद्ध हो जाने पर स्निग्ध चित्तावस्था तो भगवल्लीलारसास्वादन से होगी। स्निग्धचित्त से सहज सेवानुराग होगा। सेवा में एवं उपासना में विक्षेपादि आने पर तीव्रता जगेगी। पुनः संयोग दशा की उत्कट अभिलाषा जाग्रत हो जायगी। "गुणगाने सुखावाप्ति गोविन्दस्य प्रजायते" आचार्य चरणों के निर्दिष्ट सिद्ध उपायों से ही श्री ठाकुर जी में मनः स्थिरता बन पाती है। रसविग्रह भगवान श्रीकृष्ण में सहज स्नेह सिद्ध करना हो तब श्री रासपञ्चाध्यायी का नित्य सेवन करें यह सिद्ध रसायन है लेकिन दैन्य अनुपान है। पञ्चपर्वात्मिका अविद्या की निवृत्ति अनायास रासपञ्चाध्यायी के सेवन से हो जाती है। रासपञ्चाध्यायी आनन्द सन्दोह है एवं भगवदनुराग की पुण्य सरिता है। उस सरिता के सोपान पर स्थिरासन बनकर सजल नयन गद्‌गद कण्ठ एवं आर्द्र हृदय अवस्था को प्राप्त कर नित्य शान्त एकाग्र चित्त से आचमन करने पर श्रीकृष्ण भगवान का हृदय में प्रवेश एवं स्थायी वास हो जाता है। रासपञ्चाध्यायी गोपी भाव का विपुल विशाल अगाध पीयूष सागर है। गोपी भाव का अर्थ यह है कि अनन्य भक्ति भाव। मैं रासपञ्चाध्यायी का निरूपण नहीं कर रहा हूँ। क्योंकि यह सामर्थ्य नहीं है न तो रहस्य लिख रहा हूँ। केवल निवेदन है कि रसिकजन रासपञ्चाध्यायी का अवश्य रसपान करें। श्रीमद्भागवतजी के पञ्चमहाप्राणरूप रास के पांच अध्याय हैं। श्रीमद्भागवतजी के सर्व श्रोताजन प्रायः रासपञ्चाध्यायी की महिमा को जानते ही हैं। भूतल पर ही नहीं तीनों लोक में ख्यातयशः श्रीमद्भागवतजी हैं। प्रायः १४३ जितने समर्थ आचार्यवर्य एवं विद्वद्वर सारस्वतों की टीकायें थी। भगवान् शङ्कराचार्य जी की भी टीका थी। विधर्मीओं के आक्रमण काल में इन टीकाओं का विनाश किया। प्रतीकार शक्ति ने भारी परिश्रम करके प्रायः ४३ या ४५ टीकायें प्राणों की तरह सुरक्षित की। श्री भागवत विद्यापीठ ने विनम्र दैन्य एवं परानुवृत्ति भाव से यावच्छक्य टीकाओं का संकलन कर मुद्रण शुरू किया है। रासपञ्चाध्यायी पर्यन्त दशम स्कंध एवं अन्य एकादश स्कन्धों को भगवान की कृपा एवं इच्छा से प्रकाशन हुआ और अवशिष्ट अध्यायों का कृपानिधान भगवान् श्रीकृष्ण प्रकाशन करेंगे। सर्व टीकाय संस्कृत में ही है और बङ्गला भाषा में भी कई टीकायें अनुवादित है। अत्यन्त आनन्द का विषय है कि परम भागवत सारस्वतमणि डॉ० श्री महानाम व्रत ब्रह्मचारी जी ने बङ्गला भाषा में रासपञ्चाध्यायी विस्तृत विमर्श किया है। श्री ब्रह्मचारी जी साहित्य क्षेत्र विशिष्ट विद्वान एवं विवेचक हैं संस्कृत के बहुश्रुत पंडित तो है ही। उन्होंने अथक परिश्रम करके श्री श्रीधर स्वामी जी श्री सनातन गोस्वामी जी श्रीरूप गोस्वामी जी श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती जी आदि समर्थ आचार्यों की टीकाओं अवगाहन किया एवं श्रीमद्भागवत जी पर प्रस्तुत किए निबन्धों का अवलोकन किया पुनः भगवत्कृपा से निष्कर्ष रूप में "फेलालव" नाम की मंजु मङ्गल मधुरतत्वप्रचुर व्याख्या प्रस्तुत की यह सर्वथा सराहनीय ही नहीं सर्वथा संसेवनीय है।

विशेष प्रसन्नता इसलिए है कि परम भागवत श्रीचतुर्भुज तोषणीवाल जी ने रासपञ्चाध्यायी की बङ्गला भाषा की फेलालव व्याख्या का राष्ट्रभाषा में अन्वर्थ भाषान्तर किया एवं प्रकाशित किया यह सौजन्य सदा समाचरणीय ही होगा। जो भक्तवृन्द है वह तो बड़भागी है कि आम तौर से रासलीला-रसपान करके रसराज "रसो वै सः" पूर्णानन्द भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र जी को स्नेह से हृदय सिंहासनासीन कर लेगें। आचार्य मुद्रणालय का सौशील्य सदा स्तुत्य रहेगा, विशेष कर मेरे परम सुहृद प्राणलाल आचार्य जी का उत्तरदायित्व उनके सुपुत्र श्री राजेन्द्र आचार्य ने भूरि श्रम लेकर भक्तिभाव से निभाया। भगवान् राजेन्द्र जी का सर्वविध उत्कर्ष करें यही श्रीनाथ जी प्रभु के श्रीचरणों में सदैन्य निवेदन है।

भागवत ऋषि कर्दम शास्त्री

कृष्णशङ्कर शास्त्री

मधुरातिमधुर श्रीरासलीला

(रचयिता :–नीत्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

(राग देश—ताल मूल)

थीं वे विकसित शारदीय मल्लिका-सुमन शोभित रजनी। देख उन्हें कर प्रकट 'योगमाया'—'अचिन्त्य निज शक्ति' धनी ॥
षडैश्वर्य भगवान पूर्णने किया तुरत संकल्प महान। रमण—'रमास्वादन-स्वरूप-वितरण'का कर सबको रस-दान ॥
दीर्घकाल पर दे दर्शन निज प्यारीको जैसे प्रियतम। रंग दे केसरसे उसका मुख मण्डल निज कर सुखद परम ॥
वैसे प्राची दिशा सुमुखि मुख सुखद स्वकिरण-अरुणसे रंग। उदय हुआ विधु जग-जीवोंका ताप मिठाता शीतल अंग ॥
लक्ष्मी-मुख-सम शोभित नव कुङ्कुम-सम अरुण वर्ण शशि देख। विधुकी कोमल किरणावलिसे उद्भासित अरण्यको लेख ॥
मधुर-मनोहर नेत्रवती शुचि व्रज-सुन्दरियोंका मन-हर। किया विचित्र वेणु-वादन माधवने सुललित मधुर-स्वर ॥
मुरलीके मधु स्वरमें पाकर प्रियतमका रसमय आह्वान। हुईं सभी उन्मत्त, चलीं तज लज्जा, धैर्य, शील, कुल, मान ॥
पति, शिशु, गृह, धन, धान्य, वस्त्र, भूषण, गौ, कर भोजनका त्याग। चलीं जहाँ जो जैसे थीं, भर मनमें प्रियतमका अनुराग ॥
नहीं किसीसे पूछा कुछ भी, कहा न कुछ भी, चित्त विभोर। चलीं वेगसे जहाँ बजाते थे मुरली मधु नन्द-किशोर ॥
प्रेमविवर्धक मुरली-स्वरसे हो अति विह्वल व्रजनारी। पहुँचीं तुरत निकट प्रियतमके भूल स्व-परकी सुधि सारी ॥
थीं वे कृष्णगृहीत मानसा, थीं वे उज्ज्वल रसकी मूर्ति। थीं वे शुचितम प्रेमपूर्ण नटवरकी मधुर लालसा-पूर्ति ॥
आत्मनिवेदन, पूर्ण समर्पण था पवित्रतम उनका भाव। जिसमें था न स्व-सुख-वाञ्छाका किंचित् लेश, न किंचित् चाव ॥
विविध भाँतिसे किया परीक्षण, दिखा मोह, भय, धर्म, विवेक। पर उन प्रेममयी शुचि व्रज-वधुओंने तनिक न छोड़ी टेक ॥
कहा—'विभो ! सर्वत्र विराजित ! सर्व-समर्थ ! सर्व-आधार। क्यों नृशंस तुम बोल रहे यों ? आयी हमें देख निज द्वार ॥
त्याग सर्व-विषयोंको—भुक्ति-मुक्तिको, हम आयीं पद-मूल। दुरवग्रह ! मत छोड़ो हमको, यों सारी रसमयता भूल ॥
प्रिय ! तुम ही हो प्राणिमात्रके बन्धु, आत्मा अति प्रियतम। पाकर छोड़ जाय जो तुमको, महामूर्ख वह, पतित, अधम ॥
तुम्हीं बताओ परम धर्मविद् ! नित्यप्रिय ! तुमसे कर प्रीति। भजे अन्य दुःखदका फिरसे, क्या है कभी उचित यह नीति ?
छोड़ कहाँ हम जायँ तुम्हें अब, चलते नहीं चरण पद एक। सुखसे लूट सभीका मन-धन, चले बताने हमें विवेक' ॥
आत्माराम-शिरोमणि सत्-चित्-परमानन्दरूप पर धाम। योगेश्वर-ईश्वर सब-लोक-महेश्वर नित्यतृप्त निष्काम ॥
अज भव-शेष-सनक-नारद सब करते नित जिनका गुण-गान। प्रेममयी व्रज-वनिताओंके शुद्ध प्रेम-वश वे भगवान ॥
अङ्ग विमल शुचि स्पर्श-दान कर किया सभीको पावन, धन्य। भावोद्दीपन किया, जगाया शुद्ध-काम रतियोग्य अनन्य ॥
आत्मरमण फिर किया परम शुचि पूर्णकाम हरिने अभिराम। शारदीय उन शशधर-किरण-सुशोभित रातोंमें रस-धाम ॥
सत्यकाम अवरुद्ध-सुसौरत हरिने किया पवित्र विहार। सत्-संकल्प चिन्मयी लीला-रसमय मधुर नित्य अविकार ॥
नहीं रमण यह था कदापि विषयासक्तोंका 'इन्द्रिय-भोग'। नहीं आत्माराम योगियोंका भी 'आत्मरमण'-संयोग ॥
'काम-विजय' का भी न कहीं था कुछ भी यहाँ कल्पना-लेश। क्योंकि नीच कामका तो हो सकता यहाँ न कभी प्रवेश ॥
था विशुद्ध वितरण माधवका 'निज-स्वरूप-आनंद' महान। था यह परम 'रसास्वादन'का निजमें ही निजका सुविधान ॥
आस्वादक आस्वाद्य न दो थे, था मधुमय लीला-संचार। था यह एक विलक्षण पावन परम प्रेमरसका विस्तार ॥
मधुर परम इस रस-सागरमें गोपीजनका ही अधिकार। परम त्यागका मूर्त रूप लख, जिन्हें किया हरिने स्वीकार ॥
प्रेममयी व्रज-रमणी-गण-मण्डलमें हुए सुशोभित श्याम। अगणित राशि तारिकामें अकलङ्क पूर्ण विधु विमल ललाम ॥
अथवा नव नीलाभ-श्याम-घन दामिनि-दलमें रहे विराज। घन-दामिनि, दामिनि-घन अन्तर अगणित उभय अतुल दुति साज ॥
रासेश्वरी राधिकाके एकाधिपत्यमें सुन्दर साज। शुचि सौन्दर्य मधुर रसमय असमोर्ध्व अमित बिजली-घनराज ॥
एक एकके मध्य मनोहर एक एक, सब मिल, दे ताल। रास-रसिक रस-नृत्य-निरत, शुचि बाज रहे मृदु वाद्य रसाल ॥
जो इस मधुर शुद्ध रसका किंचित् भी कर पाता आस्वाद। दृश्य जगत्का मिटता सारा शोक-मोह-भय लोभ-विषाद ॥
होता कामरोगका उसके जीवनमें सर्वथा अभाव। राधा-माधव-चरण-रेणु-कण-करुणासे वह पाता 'भाव' ॥
'भाव' प्राप्त हो वह हो पाता राधारानीका अनुचर। सभी दोष मिट, होती उसमें प्रकट गुणावलि शुचि सत्वर ॥
पाता वह फिर नित निकुञ्जमें अति दुर्लभ सेवा-अधिकार। जिसके लिये सदा ललचाते ऋषि-मुनि-तापस छोड़ विकार ॥

—:०:—

श्री ... पुस्तकालय
संख्या.........
विषय.........

उत्सर्ग

हे मातः !

शैशवमें ही तुम्हारे वियोग–हेतु जीवन-भर
मेरी वात्सल्य-पिपासा अतृप्त रही;
किन्तु तुम्हारे वात्सल्य की झलक ज्येष्ठा भगिनीं
महिमादेवी के स्नेहसिक्त व्यवहार में प्रकट दीखी।
तुम्हारे दैवी स्वभावकी द्वितीय झलक
कैशोरमें पूज्य मातुल श्री पूर्णचंद्रजी
एवं ज्येष्ठ भ्राता श्री किशनलालजी के
स्नेहिल किंतु कठोर अनुशासन में मिली;
जिसने सत्पथ पर सुदृढ रहते हुए
सत्पुरुषों के संग एवं सद्ग्रन्थों के स्वाध्यायमें
स्थायी रुचि उत्पन्न की।

हे पितः !

परिवारके कर्ता-धर्ता होते हुए भी
आपने सर्वदा निजपुत्रों की अपेक्षा
अपने भ्रातुष्पुत्रोंके हितको सर्वोपरि माना;
आपके इस दैवी चरित्रसे
मुझेभी व्यावहारिक शिक्षा मिली।

आपका यह अकृती पुत्र परमानन्दरसविग्रह श्री श्रीराधागोविन्दकी "सर्वपापहरां पुण्यां भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम्"
श्री रासपञ्चाध्यायी का 'अनुवर्णन' करके
वाञ्छाकल्पतरु श्री श्रीराधागोविन्द
"आप दिव्यात्माओंको अपने श्रीचरणोंमें परमाश्रय प्रदान करें"
इसी प्रार्थना के साथ उनकी ही वस्तु उन्हें ही समर्पण कर रहा हूँ।
"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।"

अकृती सन्तान
चतुर्भुज तोषणीवाल

फेलालव

व्रजातुलकुलाङ्गनेतररसालितृष्णाहरः
प्रदीव्यदधरामृतः सुकृतिलभ्य फेलालवः ।

श्री श्रीगोविन्द लीलामृत C/C

"सुकृतिलभ्य फेलालव" कहें बारबार ।
पूछे भक्त, कहिये प्रभु, इसका अर्थसार ॥
प्रभु बोले, मिला जो यह कृष्ण-अधरामृत ।
ब्रह्मादिदुर्लभ यह तो लजावे अमृत ॥
कृष्णका जो भुक्त-शेष उसका 'फेला' नाम ।
उसका एक 'लव' जो पाता वही भाग्यवान ॥
कोरे भाग्यबलसे नहीं कोई इसको पाता ।
कृष्ण-कृपा पूर्ण जाँ पर वोही उसे पाता ॥
'सुकृति' शब्द अर्थ—'कृष्ण-कृपा हेतु पुण्य' ।
ऐसा पुण्यशाली होता 'फेला' पाकर धन्य ॥

श्री श्रीचैतन्यचरितामृत (अन्त्य लीला १६ वां परिच्छेद)

[अनुवादक द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद]

श्रीहरिः

अनुवादकका विनम्र निवेदन

बर्हापीडाभिरामं मृगमदतिलकं कुण्डलाक्रान्तगण्डं,
कञ्जाक्षं कम्बुकण्ठं स्मितसुभगमुखं स्वाधरे न्यस्तवेणुम्।
श्यामं शान्तं त्रिभङ्गं रविकरवसनं भूषितं वैजयन्त्या,
वन्दे वृन्दावनस्थं युवतीशतवृतं ब्रह्म गोपालवेषम्॥

रासपञ्चाध्यायी की फेलालव व्याख्या का हिन्दी अनुवाद हिन्दीभाषी भक्तजनों को मधुरातिमधुर रासरसका आस्वादन कराने हेतु प्रस्तुत करते हुए मैं भावविभोर हो रहा हूं। लीलाविहारी नटवर व्रजेन्द्रनन्दनकी इस अहैतुकी अनुकम्पाका पात्र होनेका दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त होना मेरे जीवनकी सुख प्रदतम घटना है।

आज इस परमानन्दमय क्षणमें अपने सुदुर्लभ मनुष्य-जीवनके विगत ७१ वर्षोंकी धुंधली स्मृति मुझे जीवनके एक नये सत्यकी उपलब्धि करा रही है। जीवनमें सुख-दुःख मानी जानेवाली नाना घटनाएँ स्मृतिपटल पर प्रत्यक्ष उभर रही है। मात्र तीन वर्षकी आयुमें मातृवियोग, दुर्बल स्वास्थ्य, बारह वर्षकी अल्प वयमें सुदूर बांग्लादेशमें शिक्षा-हेतु दीर्घ प्रवास, जीवनमें मिलनेवाली सफलताएँ-विफलताएँ, जिनसे मन कभी खिन्न एवं कभी प्रसन्न होता था—ये समस्त घटनाएँ आज एक नये स्वरूपमें प्रतिभात हो रही हैं। तबकी दुःखदायी घटनाएँ भी असलमें छद्मवेषमें प्रभुकी परम अनुकम्पा ही थीं, यह प्रत्यक्ष अनुभूति हो रही है, मानो ब्रह्मस्तुतिके निम्न श्लोककी सत्यता प्रत्यक्ष हो रही हो—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥ १०।१४।८

गौड़ीय आचार्योंका श्रीमद्भागवत-सम्बन्धी साहित्य अत्यंत विशाल है, किन्तु अधिकतर संस्कृतमें ही है। परम पूज्य श्री श्रीधर स्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीरूप गोस्वामी, श्री जीवगोस्वामी, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती, श्री बलदेव विद्याभूषण प्रमुख टीकाकार एवं भक्तकवि जयदेव, विल्वमंगल, चैतन्यचरितामृत रचयिता कविराज श्रीकृष्णदास गोस्वामी, जगदानन्द ठाकुर, भक्त गोविन्ददास प्रभृति वैष्णव भक्तोंने संस्कृत एवं बंगलामें वैष्णव पदावली से जन-जनको श्रीराधामाधव की भक्ति-सरितामें आकण्ठ डुबाया है। साधारण व्यक्तिके लिये विशाल संस्कृत साहित्यमें तो प्रवेश ही दुष्कर है। अतः श्रीमद्भागवतके पञ्चप्राणरूपी श्रीरासपञ्चाध्यायी के माधुर्यरसका आस्वादन एवं इसमें प्रकटित सारभूत परमोज्ज्वल परमतत्त्व को हृदयङ्गम करना अत्यंत ही दुष्कर है। वस्तुतः रासलीलाका अर्थ अन्तःकरण की शान्त एवं मुदित, लीन तथा गतिशील सभी वृत्तियों में भगवत्तत्त्व का अनुपम रूप से स्फुरित होना है।

भागवत-गङ्गोत्तरी डॉ० श्रीमन् महानामव्रत ब्रह्मचारीजीने 'उद्धव-संदेश' 'गीताध्यान', 'चण्डीचिन्तन' 'गौरकथा' आदि अनेक ग्रन्थोंके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्ध पर श्रीधरी टीका पर आधारित एवं अन्यान्य गौड़ीय भागवताचार्यों एवं वैष्णव पदकर्ताओं के साहित्य-सारको समन्वित करके बंगलामें 'फेलालव' नामक व्याख्या लिखी है। दशम स्कंधकी ४६ वीं एवं ४७ वीं अध्यायों के हार्द-मर्मको प्रकट करने वाले 'उद्धव-संदेश' का हिन्दी अनुवाद 'कल्याण' में धारावाहिक प्रकाशित हो चुका है। परमभागवत पूज्य श्री डोंगरे महाराज को यह इतना पसंद आया कि उनके आग्रह पर 'गीताप्रस' ने इसे पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया है। इसीसे उत्साहित होकर मैंने 'रासपञ्चाध्यायी' की 'फेलालव' व्याख्याका हिन्दी अनुवाद किया है। इसे भी "श्रीमद्भागवत [अनेकव्याख्यासमलङ्कृतम्—श्री भागवत विद्यापीठ, (कृष्णधाम) सोला, अहमदाबाद

से प्रकाशित] के सम्पादक 'अभिनव शुक' पं० पू० श्रीकृष्णशङ्करजी शास्त्री ने अपनी बृहत् ग्रन्थमाला के 'रासपञ्चाध्यायी' खण्ड में परिशिष्ट रूप में सम्मिलित करने का अनुग्रह किया है। सीमित मात्रामें प्रकाशित होने वाली, सर्वसाधारणको प्रायः अनुपलब्ध इस ग्रन्थमाला के 'फेलालव' व्याख्या वाले अंशको ही मैंने पृथक् रूपसे अल्प संख्या में छपवाया है, जो आपके हाथों में है। पं० पू० श्री शास्त्रीजी का शुभाशीर्वाद तो मेरे जीवनका पाथेय है, अतः आभार प्रकट करना तो धृष्टता होगी। धन्यवादके पात्र आचार्य मुद्रणालय ने सावधानीपूर्वक मुद्रण कार्य करने पर भी कुछ मुद्रण त्रुटियां रह ही गयी हैं, जिन्हें विज्ञ पाठक कृपया स्वयं ही शुद्ध करके पढ़ने का कष्ट करेंगे।

अनुवादमें मैंने मूल लेखक के भावोंको अक्षुण्ण रखने का पूर्ण प्रयास किया है, भले ही उसके कारण कुछ स्थलों पर भाषा क्लिष्ट हो गयी है। मुझे पूर्ण आशा है कि सुविज्ञ पाठक इस व्याख्या के माधुर्यका आस्वादन करके आनन्दित तो होंगे ही, श्रीरासपञ्चाध्यायी के परम तत्त्वके निरूपण से सुतृप्त भी होंगे और इससे रासलीला सम्बंधित विभिन्न भ्रांतियोंका निरसन भी होगा। प्रारम्भ में सुविधार्थ मूल संस्कृत पाठ दे दिया गया है। यदि यह व्याख्या सुविज्ञ रसिक-भावुक भक्तों को पसंद आयी तो भविष्य में व्याख्या के साथ मूल श्लोक (पदच्छेद, अन्वय, हिन्दी अनुवाद एवं श्रीधरी टीका समेत) समायोजित करके स्वतंत्र ग्रन्थाकारमें प्रकाशन की योजना है; जिसका नमूना भूल से प्रथम तीन पृष्ठ पर छप गया है।

इस व्याख्या का अनुवाद करते समय मैं जितने क्षण रासलीला रसके परमानन्द-समुद्रमें निमज्जित रहा, वे क्षण जीवनके धन्यतम क्षण थे। उनकी स्मृति मेरे जीवन की अमूल्य निधि है।

वैष्णव-पाद-रजो-लेश-लोलुप
चतुर्भुज तोषणीवाल

आश्विन शुक्ला १५, रास पूर्णिमा,
विं० सं० २०४९
दिनाङ्क ११ अक्टूबर १९९२
पो० सुमेरपुर जि० पाली (राजस्थान)

श्री रासपञ्चाध्यायी (संस्कृत मूल पाठ)

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

श्रीशुक[1] उवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः । वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे [2]योगमायामुपाश्रितः ॥ १ ॥
तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥ २ ॥
दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम् ।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥ ३ ॥
निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥ ४ ॥
दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः । पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥ ५ ॥
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः । शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥ ६ ॥
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने । व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः ॥ ७ ॥
ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः । गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥ ८ ॥
अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः । कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥ ९ ॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः । ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥ १० ॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः । जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥ ११ ॥

राजोवाच

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने । गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥ १२ ॥

श्रीशुक उवाच

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः । द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥ १३ ॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप । अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥ १४ ॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च । नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥ १५ ॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे । योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते ॥ १६ ॥
ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः । अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन् ॥ १७ ॥

श्रीभगवानुवाच

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः । व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम् ॥ १८ ॥
रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता । प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥ १९ ॥
मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः । विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम् ॥ २० ॥
दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम् । यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥ २१ ॥
तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः । क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत ॥ २२ ॥
अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः । आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः ॥ २३ ॥
भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया । तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥ २४ ॥
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा । पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥ २५ ॥
अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् । जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः ॥ २६ ॥
श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् । न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥ २७ ॥

श्रीशुक उवाच

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् । विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥ २८ ॥
कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद्बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।
अस्रै[3]रुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥ २९ ॥

---

१. बादरायणिरुवाच । २. मयोऽच्युतः । ३. मलिनैः ।

प्रेष्ठ प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्संरम्भगद्‌गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥ ३० ॥

गोप्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुंनृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्य दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवोयथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥ ३१ ॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदात्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥ ३२ ॥
कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् नित्यप्रियेपतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥ ३३ ॥
चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद् यामः कथंव्रजमथो करवाम किं वा ॥ ३४ ॥
सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥ ३५ ॥
यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः ॥ ३६ ॥
श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववी[१]क्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासस्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥ ३७ ॥
तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥ ३८ ॥
वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥ ३९ ॥
का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥ ४० ॥
व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् ॥ ४१ ॥

श्रीशुक उवाच

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः। प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥ ४२ ॥
ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः।
उदारहासद्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचणाङ्क इवोडुभिर्वृतः ॥ ४३ ॥
उपगीयमान उद्‌गायन् वनिताशतयूथपः। मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम् ॥ ४४ ॥
नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम्। रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना ॥ ४५ ॥
बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥ ४६ ॥
एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः। आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ॥ ४७ ॥
तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः। प्रशामाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे [२] पूर्वार्धे भगवतो रासक्रीडावर्णनं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

---

१. क्षण उता। २. रासक्रीडायां कृष्णान्वेषणमेकोन०।

अथ त्रिंशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः । अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥ १ ॥

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥ २ ॥

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥ ३ ॥

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम् ।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥ ४ ॥

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोधनो मनः । नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः ॥ ५ ॥
कच्चित् कुरबकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः । रामानुजो मानिनीनामितो दर्पहरस्मितः ॥ ६ ॥

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये । सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥ ७ ॥
मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके । प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः ॥ ८ ॥

चूतप्रियालपनसासनकोविदारजम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥ ९ ॥
किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥ १० ॥

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रैस्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः ।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥ ११ ॥
बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ॥ १२ ॥

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः । नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥ १३ ॥
इत्युन्मत्तवचोगोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः । लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥ १४ ॥

कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम् । तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहञ्छकटायतीम् ॥ १५ ॥
दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम् । रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ॥ १६ ॥
कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन । [2]वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम् ॥ १७ ॥

आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुकुर्वतीम् । वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥ १८ ॥
कस्यांचित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु । कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ॥ १९ ॥
मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया । इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम् ॥ २० ॥

आरुह्यैका पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहापरां नृप । दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक् ॥ २१ ॥
तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम् । चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥ २२ ॥

बद्धान्यया स्रजा काचित्तन्वी तत्र उलूखले । भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम्[3] ॥ २३ ॥
एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून् । व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥ २४ ॥

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः । लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्राङ्कुशयवादिभिः ॥ २५ ॥
तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः । वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन् ॥ २६ ॥

---

१. नो गत । २. वत्सायितां गृहीत्वान्या तत्रैका तु बकायिताम् । ३. नाम ।

कस्याः पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना । अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा ॥ २७ ॥
अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः । यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः ॥ २८ ॥
धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः । [1]यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये॥ २९ ॥
तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत् । यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥ ३० ॥
न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः । खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ॥ ३१ ॥
इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम् । गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः ॥ ३२ ॥
[2]अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना ।
अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः । प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥ ३३ ॥
केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् । तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥ ३४ ॥
रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः । कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥ ३५ ॥
इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः । यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥ ३६ ॥
सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् । हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥ ३७ ॥
ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत् । न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥ ३८ ॥
एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति । ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ॥ ३९ ॥
हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज । दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥ ४० ॥
अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः । ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम ॥ ४१ ॥
[3]तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात् । अवमानं च दौरात्म्याद् विस्मयं परमं ययुः ॥ ४२ ॥
ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद् विभाव्यते । तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः ॥ ४३ ॥
तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः । तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥ ४४ ॥
पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः । समवेताः जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे [4]पूर्वार्धे रासक्रीडायां कृष्णान्वेषणं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

गोप्य[5] ऊचुः

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥ १ ॥
शरदुदाशये साधुजातसत् सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा ।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥ २ ॥
विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥ ३ ॥
न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥ ४ ॥

१. यान्न ब्रह्मादयो देवाः प्राप्नुवन्ति च मूर्धतः । २. प्राचीन प्रति में 'अत्राव.........महात्मना' यह श्लोकार्ध मूल में नहीं, टिप्पणी में है । ३. तथा । ४. रासक्रीडायां त्रिंश० । ५. गोपिका ।

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥ ५ ॥

[1]व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ॥ ६ ॥
प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥ ७ ॥

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः ॥ ८ ॥

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥ ९ ॥

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं[2] विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥ १० ॥

चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥ ११ ॥

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम्।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥ १२ ॥

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥ १३ ॥

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥ १४ ॥

अटति यद् भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् ॥ १५ ॥

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥ १६ ॥

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य [3]धाम ते मुहुरतिस्पृहा[4] मुह्यते मनः ॥ १७ ॥

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम्।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ॥ १८ ॥
यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे [5]पूर्वार्धे रासक्रीडायां
गोपीगीतं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

---

१. प्राचीन प्रति में 'व्रजजना ......चारु दर्शय' यह श्लोक नहीं है। २. क्षितं विरहिणां च। ३. वीर। ४. स्पृहं। ५. रास-क्रीडायामेकत्रिं०।

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

श्रीशुक[1] उवाच

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा । रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १ ॥
तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः । पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥ २ ॥
तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः । उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥ ३ ॥
काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा । काचिद् दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम् ॥ ४ ॥
काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम् । एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात् ॥ ५ ॥
एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला । घ्नतीवैक्षत् कटाक्षेपैः [2]संदष्टदशनच्छदा ॥ ६ ॥
अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् । आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा ॥ ७ ॥
तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च । पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता ॥ ८ ॥
सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः । जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥ ९ ॥
ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः । व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥ १० ॥
ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः । विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम् ॥ ११ ॥
शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमः शिवम् । कृष्णाया [3]हस्ततरलाचितकोमलवालुकम् ॥ १२ ॥

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥ १३ ॥

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥ १४ ॥

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा ।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥ १५ ॥

गोप्य ऊचुः

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम् । नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥ १६ ॥

श्रीभगवानुवाच

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते । न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥ १७ ॥
भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा । धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥ १८ ॥
भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः । आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥ १९ ॥

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥ २० ॥

एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं [4]मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः ॥ २१ ॥

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥ २२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
[5]रासक्रीडायां गोपीसान्त्वनं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

---

१. बादरायणिरुवाच । २. निर्दष्ट० । ३. लासित० । ४. नार्हं० । ५. रासक्रीडायां भगवद्दर्शनं द्वात्रि० ।

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

[1]श्रीशुक उवाच

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः। [2]जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥ १ ॥
तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः। स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥ २ ॥
रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः। प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥ ३ ॥
यं मन्येरन् नभस्तावद् विमानशतसङ्कुलम्। दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥ ४ ॥
ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः। जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥ ५ ॥
वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम्। सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥ ६ ॥
तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः। मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥ ७ ॥
पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासैर्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥ ८ ॥
उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः। कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥ ९ ॥
काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति। तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात् ॥१०॥
काचिद् रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः। जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥११॥
तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम्। चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥१२॥
कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम्[3]। गण्डं गण्डे सन्दधत्या अदात्ताम्बूलचर्वितम् ॥१३॥
नृत्यन्ती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला। पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम् ॥१४॥
गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम्। गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे ॥१५॥

कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्मवक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः[4]।
गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेशस्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥१६॥

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥१७॥

तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा।
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह ॥१८॥

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः। कामार्दिताः[5] शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥१९॥
कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः। रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥२०॥
तासाम[6]तिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः। प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना ॥२१॥

गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥२२॥

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्गघृष्टस्रजः स कुचकुङ्कुमरञ्जितायाः।
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद् वाः श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ॥२३॥

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥२४॥

---

१. बादरायणिरुवाच। २. हुस्तापं। ३. ते। ४. नादैः। ५. तः। ६. मिति।

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थलप्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे ।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिः ॥ २५ ॥
एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥ २६ ॥

राजोवाच[1]

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च । अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥ २७ ॥
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता । प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥ २८ ॥
आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् । किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥ २९ ॥

श्रीशुक उवाच

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् । तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥ ३० ॥
नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः । [2]विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥ ३१ ॥
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् । तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत् ॥ ३२ ॥
कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते । विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो ॥ ३३ ॥
किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् । ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥ ३४ ॥
यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानास्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥ ३५ ॥
गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव[3] देहिनाम् । योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥ ३६ ॥
अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थित । भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥ ३७ ॥
नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया । मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥ ३८ ॥
ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः । अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् [4]भगवत्प्रियाः ॥ ३९ ॥
विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे [5]पूर्वार्धे
रासक्रीडावर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

---

१. परीक्षिदुवाच । २. नश्यत्यावधाचर० । ३. षामपि । ४. वत्स्त्रियः । ५. रासक्रीडायां त्रयस्त्रिं० ।

|| श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ||

रासपञ्चाध्यायी

एकोनत्रिंशोऽध्यायः (उनतीसवां अध्याय)

श्रीबादरायणिरुवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः । वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥ १ ॥

पदच्छेदः-भगवान्, अपि, ताः, रात्रीः, शरदोत्फुल्लमल्लिकाः वीक्ष्य, रन्तुम्, मनः, चक्रे, योगमायाम्, उपाश्रितः ॥१॥

व्यासजीके पुत्र श्रीशुकदेवजीने कहा—

अन्वयः—भगवान् अपि (भगवान् होकर भी श्रीकृष्णने) शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ताः रात्रीः (शरत्कालीन प्रस्फुल्लित) मल्लिकादि कुसुमोंसे सुशोभित उन रात्रियोंको [समागत] वीक्ष्य (उपस्थित देखकर) योगमायाम् उपाश्रितः (योगमाया शक्तिका आश्रय ग्रहण करके) रन्तुम् (रमण करने के लिये) मनः चक्रे (संकल्प किया) ।

अनुवाद—ऐश्वर्य-वीर्यादि षड्विध गुणोंसे युक्त भगवान् श्रीकृष्णने चीरहरणके समय गोपकुमारियोंको दिये गये अपने वचन के अनुसार शरत्कालीन विकसित मल्लिका-चमेली आदि पुष्पोंसे सुशोभित उन रात्रियों को समागत देखकर अपनी ऊघटनघटनापटीयसी योगमाया शक्तिका परमाश्रय लिया और गोपियों के संग रमण करने का संकल्प किया ॥ १ ॥

श्रीधर—अनत्रिंशे तु रासार्थमुक्तिप्रत्युक्तयो हरेः । गोपिभी रासंसरम्भे तस्य चान्तर्द्धिकौतुकम् ॥ "ब्रह्मादिजयसंरूढ-दर्पकन्दर्पदर्पहा । जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः ।" ननु विपरीतमिदम् परदारविनोदेन कन्दर्पजेतृत्वप्रतीतेः । मैवम्, "योग-मायामुपाश्रितः" 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' 'साक्षात्मन्मथमन्मथः', 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः' इत्यादिषु स्वातन्त्र्याभिधानात् । तस्मा-द्रासक्रीड़ाविडम्बनं कामविजयख्यापनायेत्येव तत्त्वम् । किञ्च शृङ्गारकथापदेशेन विशेषतो निवृत्तिपरेयं पञ्चाध्यायीति व्यक्ती-करिष्यामः । ताः रात्रीः 'यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः' प्रतिश्रुता इत्यर्थः ॥ १ ॥

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥ २ ॥

पदच्छेदः—तदा, उडुराजः, ककुभः, करैः, मुखम्, प्राच्याः, विलिम्पन् अरुणेन, शन्तमैः सः चर्षणीनाम्, उदगात्, शुचः, मृजन् प्रियः, प्रियायाः, इव, दीर्घदर्शनः ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—दीर्घदर्शनः प्रियः (दीर्घकाल पश्चात् आगत पति) प्रियायाः (अपनी प्रियाका) [मुखं शंतमेन करेण अरुणेन विलिम्पन्] (मुखमण्डल अपने अत्यन्त सुखद हाथों द्वारा केसर से रंग दे) इव (उसी प्रकार) सः उडुराजः (वह नक्षत्रपति चन्द्रमा) तदा (उस समय) शन्तमैः करैः (सुखकर किरणों द्वारा) प्राच्याः ककुभः मुखम् (पूर्व-दिग्वधू का मुख) अरुणेन विलिम्पन् (अरुणराग से रञ्जित करता हुआ) चर्षणीनाम् शुचः मृजन् (दर्शकमात्र का संताप दूर करता हुआ) उदगात् (उदित हुये) ॥ २ ॥

अनुवाद—दीर्घकाल के पश्चात् प्रवास से पुनरागत प्रियतम जिस प्रकार अपनी प्रिया का मुखमण्डल अपने सुखद करोंसे केसरसे रंग देता है, तब उसी प्रकार नक्षत्रपति चन्द्रदेव अपनी सुखकर किरणसमूहों के द्वारा पूर्वदिग्वधू का मुख अरुणित करते हुये जगत् के दर्शकमात्र का संताप दूर करते हुये उदित हुये ॥ २ ॥

श्रीधर—तदा तस्मिन्नेव क्षणे तत्प्रीतये उडुराजश्चन्द्र उदगादुदितः । किं कुर्वन् ? दीर्घकालेन दर्शनं यस्य सः प्रियः स्वप्रियाया मुखमरुणेन कुङ्कुमेन यथा विलिम्पति, तथा प्राच्याः ककुभो दिशो मुखं शन्तमैः सुखतमैः करैः रश्मिभिररुणेन उदयरागेण विलिम्पन् अरुणीकुर्वन्नित्यर्थः, सः प्रसिद्धः उडुराजः, तथा चर्षणीनां जनानां शुचस्तापग्लानीर्मृजन् अपनयन् ॥ २ ॥

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुंकुमारुणम् ।
वनञ्च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥ ३ ॥

पदच्छेदः—दृष्ट्वा, कुमुद्वन्तम्, अखण्डमण्डलम्, रमाननाभम्, नवकुङ्कुमारुणम्, वनम्, च, तत्कोमलगोभिः, अञ्जितम्, जगौ, कलम्, वामदृशाम्, मनोहरम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—रमाननाभम् (लक्ष्मीदेवी के वदन-सदृश) नवकुंकुमारुणम् (नवकुंकुम की भांति अरुणवर्ण) कुमुद्वन्तम् (कुमुदसमूहों के विकाशकारी) अखण्डमण्डलम् [उडुराजम्] (पूर्णचन्द्र को) तत्कोमलगोभिः अञ्जितं वनं च (एवं उसकी स्निग्ध किरणों से उद्भासित वनभूमि को) दृष्ट्वा (देखकर) [सः] (श्रीकृष्णने) वामदृशाम् (सुनयना गोपियों के) मनोहरं कलं जगौ (मन को हरनेवाली सुमधुर वेणुवादन किया) ॥ ३ ॥

अनुवादः—रासलीला के इच्छुक श्रीकृष्ण के जन ने देखा कि कुमुदिनी को विकसित करनेवाले पूर्णचंद्र लक्ष्मीजी के मुख-सदृश अरुणवर्ण अपनी किरणप्रभासे आकाशमें सुशोभित है एवं चन्द्रज्योत्स्नासे वनभूमि उद्भासित हो रही है, तब इस समयको दिव्य उज्ज्वल रास-रसकी उद्दीपक समग्र सामग्रीसे युक्त समझकर उन्होंने सुन्दरनेत्रोंवाली व्रजसुन्दरियोंके मनको हरण करनेवाली मुरलीमें सुललित स्वर-संयुक्त रागिनीकी तान छेड़ी ॥ ३ ॥

श्रीधर—कुमुत् कुमुदं विकसनीयं विद्यते यस्य तत् कुमुद्वन्तम्, न खण्डं मण्डलं यस्य तम्, रमाया आननस्याभेव आभा यस्य तम्, नवकुङ्कुममिवारुणम् एवम्विधं चन्द्रं दृष्ट्वा तथा वनञ्च तस्य कोमलैः गोभी रश्मिभी रञ्जितं दृष्ट्वा कलं मधुरं जगौ अगायत् । कथम् ? वामदृशां वामा मनोहरा दृशो यासां तासां मनोहरं यथा ॥ ३ ॥

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥ ४ ॥

पदच्छेदः—निशम्य, गीतम्, तत्, अनङ्गवर्धनम्, व्रजस्त्रियः, कृष्णगृहीतमानसाः, आजग्मुः, अन्योन्यम्, अलक्षितोद्यमाः, सः, यत्र, कान्तः, जवलोलकुण्डलाः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—कृष्णगृहीतमानसाः व्रजस्त्रियः (जिन गोपियों का चित्त एवं उसकी वृत्तियां श्रीकृष्ण द्वारा पहले ही अपने वशमें कर ली गयी थी, वे) तत् अनङ्ग वर्धनं गीतं (उस कामोद्दीपक वेणु गीतको) निशम्य (श्रवण करके) अन्योन्यम् अलक्षितोद्यमाः (एक दूसरी के गमनोद्योग को लक्ष्य किये बिना ही) जवलोलकुण्डलाः (गमन वेग हेतु कर्णों के कुण्डल तेजीसे दोदुल्यमान हो रहे थे, ऐसी अवस्था में) सः कान्तः (प्रिय श्रीकृष्ण) यत्र (जहां अवस्थान कर रहे थे) [तत्र] आजग्मुः (उस स्थान के लिये गमन किया) ॥ ४ ॥

अनुवादः—व्रजगोपियोंका मन एवं उसकी भय, लज्जा, मर्यादा अदि मानसिक वृत्तियां तो श्रीकृष्ण ने पूर्व में ही हर ली थीं और उनका चित्त सम्पूर्ण रूपसे श्रीकृष्ण के अधीन होगया था। वेणु पर उस कामोद्दीपक स्वरलहरी को श्रवण करते ही वे भावाविष्ट होकर उस गीत के उद्गम स्थान की दिशामें वेग से चल पड़ीं। भावावेश हेतु वे एक दूसरी को परस्पर देख भी नहीं पायी। गमन के वेग हेतु उनके कानों के कुण्डल वेग से हिल रहे थे।

श्रीधरः—असापत्न्याय अन्योन्यमलक्षितो न ज्ञापित उद्यमो याभिस्ताः स कान्तो यत्र तत्र गीतध्वनिमार्गेण जग्मुः । जवेन वेगेन लोलानि चञ्चलानि कुण्डलानि यासां ताः ॥ ४ ॥

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥ ५ ॥

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः ।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥ ६ ॥

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः ॥ ७ ॥

पदच्छेदः—दुहन्त्यः, अभिययुः, काः, चित्, दोहम्, हित्वा, समुत्सुकाः, पयः, अधिश्रित्य, संयावम्, अनुद्वास्य, अपराः, ययुः ॥ ५ ॥ परिवेषयन्त्यः, तत्, हित्वा, पाययन्त्यः, शिशून्, पयः, शुश्रूषन्त्यः, पतीन्, काः, चित्, अश्नन्त्यः,

अपास्य, भोजनम् ॥ ६ ॥ लिम्पन्त्यः, प्रमृ जन्त्यः, अन्याः, अञ्जन्त्यः, काः, च, लोचने, व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः, काः, चित्, कृष्णान्तिकम्, ययुः ॥ ७ ॥

अन्वायर्थः—[गाः पयः] दुहन्त्यः (गो–दोहनरता) काः चित् (कोई–कोई गोपियां) समुत्सुकाः (उत्सुकतावश) दोहं हित्वा (दोहन कार्य परित्याग करके) अभिययुः (श्रीकृष्णाभिमुख चल पड़ी), [काश्चित्] पयः [चुल्याम्] अधिश्रित्य (कोई–कोई दूध को चूल्हे पर चढाकर [च] अपराः (और कोई–कोई) संयावम् (हलवा या लपसीं) अनुद्वास्य (चूल्हे से उतारे बिना ही) ययुः (चल पड़ी। काः चित् (कोई–कोई गोपियां) परिवेषयन्त्यः (भोजन परोस रही थीं) शिशून् पयः पाययन्त्यः (शिशुओं को दूध पिला रही थी) पतीन् शुश्रूषन्त्यः (पति की सेवा कर रही थी) [काश्च] अश्नन्त्यः (कोई–कोई गोपी भोजन कर रही थी) भोजनम् अपास्य (वे भोजन को वैसे ही छोड़कर ; अन्याः (अन्य कोई गोपियां) लिम्पन्त्यः (अपनी देहका अनुलेपन कर रथी थीं) प्रमृजन्त्यः (अपनी देह को स्वच्छ कर रही थीं) काः च (अन्य कोई) लोचने अञ्जन्त्यः (अपने नेत्रोमें कज्जल लगा रही था) [ताः] तत् हित्वा (वे ये सारे काम छोड़कर) काश्चित् (अन्य कोई) व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः (अपने वस्त्र एवं अलकार उलट–पुलट पहन कर) कृष्णान्तिकं (श्रीकृष्णके निकट) ययुः (पहुंची) ।५–७।

अनुवादः—कोई–कोई गोपियां अपनी गायें दुह रही थीं, कोई दूध गरम कर रही थी कोई चूल्हे पर हलवा या लपसी पका रही थीं, वे सब अपनी गृहस्थीके काम अधूरे ही वैसे ही छोड़कर चल पड़ी। कोई गोपी परिवारजनोंको भोजन परोस रही थीं, कोई अपने बच्चोंको दूध पिला रही थीं, कोई अपने पतिकी सेवा–शुश्रूषा कर रही थी, वे भी अपना गृहस्थ धर्मका त्याग करके चल पड़ीं। कोई गोपी भोजन कर रही थी, वह अपना भोजन वैसेहीं अधूरा छोड़कर चल पड़ी। कोई–कोई गोपी अपनी देहमें उबटन—चन्दनादि लेप कर रही थी, कोई अपनी देहको स्वच्छ कर रही थी, कोई नेत्रोंमें काजल लगा रही थी, वे सबभी अपने दैहिक काम अपूर्ण छोड़कर ही चल पड़ी। कोई कोई आवेशवश अपने वस्त्र और आभूषण उलट-पलट पहन कर विचित्र वेशभूषा एवं अस्त-व्यस्त अवस्थामें ही श्रीकृष्णाभिमुख चल पडी ॥ ५–७ ॥

श्रीधरः—श्रीकृष्णसूचकशब्दश्रवणेन तत्प्रवाहः चित्तानां तत्क्षणमेव त्रैवर्गिककर्मनिवृत्तिं द्योतयन्त्य इव अर्द्धावसितं कर्म विहाय ययुः। तदाह—दुहन्त्य इति। पयः स्थालिस्थं चुल्ल्यामधिश्रित्य एतत् क्वायमप्रतीक्षमाणाः काश्चिद् ययुः। संयावम् गोधूम-कणान्नं कद्वास्य अनुत्तार्य ॥ ५–६ ॥ अन्याः प्रमृजन्त्यः अङ्गोद्वत्तनादिकं कुर्वन्त्यः काश्च काश्चित्। कृष्णतुष्ट्यर्थं कर्म तदासक्त-मनसामन्यथा कृतमपि फलत्येवेति। द्योतयन्नाह व्यस्तेति। स्थानतः स्वरूपतश्चोर्ध्वाधोधारणेन विपर्ययं प्राप्तानि वस्त्राभरणानि यासां ताः ॥ ७ ॥

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः। गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥ ८ ॥

पदच्छेदः—ताः, वार्यमाणाः, प्रतिभिः, पितृभिः, भ्रातृबन्धुभिः, गोविन्दापहृतात्मानः, न, न्यवर्तन्त, मोहिताः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—गोविन्दापहृतात्मानः (श्रीगोविन्दके द्वारा हरे हुए चित्तवाली) मोहिताः ते (मुग्ध अर्थात् विवेकशून्य हुई वे गोपियां) पतिभिः (अपने पतियों) पितृभिः (माता-पिता) भ्रातृबन्धुभिः (भाई–बन्धुओं द्वारा) वार्यमाणाः (रोकी जाने पर भी) न न्यवर्तन्त (रुकी नही अर्थात् लौटी नहीं) ॥ ८ ॥

भावानुवादः—श्रीगोविन्दने उन गोपियोंके प्राण, मन- आत्मा सबका हरण लिया था; अतः वे सर्वथा मोहित एवं बाह्यज्ञानसे शून्य हो गयीं थी, उनके पति, पिता भाई–बन्धुओंने उन्हें जानेसे रोका किन्तु वे रुकी नही, रुक सकी नहीं ॥ ८ ॥

श्रीधर :—न च कृष्णाकृष्टमनसां विघ्नाः प्रभवन्तीत्याह – ता वार्यमाणा इति ॥ ८ ॥

श्रीगणेशाय नमः
श्रीमहाकाल्यै नमः
श्रीमहालक्ष्म्यै नमः
श्रीमहासरस्वत्यै नमः
श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

जय जगद्बन्धु

"सदा हरिकथा कहो" (बन्धुवाणी)

"अहो नृलोके पीयेत हरिलीलामृतं वचः" भा० १।१६।८

"चारिवेद दधि, भागवत नवनीत।
मथिलेन शुक, खाईलेन परीक्षित्।।" चै० भा०

भूमिका

धर्म, धरणी एवं धूर्त

"प्राचीं सरस्वतीम्"। पूर्ववाहिनी सरस्वती नदी के किनारे-किनारे चले जारहे हैं महाराज परीक्षित्। एक अद्भुत दृश्य देखकर चकित रह गये। एक शुभ्र-धवल वृष, एक कृशकाय गौ एवं एक दण्डधारी धूर्त व्यक्ति। वृष एकही पैर पर दण्डायमान था एवं भय से काँप रहा था (वेपमानं पदैकेन)। गौ भी मृतवत्सा की तरह करुणभावसे आसू बहा रही थी (विवत्सामश्रुवदनाम्)। धूर्त व्यक्ति ने राज चिह्न धारण कर रखे थे (नृपलाञ्छन) एवं एक लगुड द्वारा गोमिथुनके पुनः पुनः आघात कर रहा था।

दुर्बल पर अत्याचार होता देखकर महाराज परीक्षित् अग्निमूर्ति हो उठे। तत्क्षण धनुष पर बाण समायोजित कर (समारोपितकार्मुकः) गम्भीर स्वर से बोले—"दुःखितोंका दुःख दूर करना ही राजधर्म है (आर्तानामार्तिनिग्रहः।)। मैं अर्जुनका पौत्र एवं श्रीकृष्णका दास हूँ। तुम राजवेशमें पर पीड़क हो, अतः इसी वक्त तुम्हारा वध करूगा।" सुनते ही धूर्त व्यक्ति हतप्रभ होकर भय से कांपने लगा।

"आप दोनों कौन है ? परिचय पूछा उत्तरानन्दन ने। वृष बोला, मैं धर्म हूँ। सत्ययुगमें चार पैर थे—"तपः शौचं दया सत्यम्"। किन्तु अब किसी प्रकारसे एक पैरसे ही चल रहा हूँ। वह एक पैरभी यह दुष्ट कलि धूर्तताके आघातसे काट देना चाहता है। ये गौका रूप धारण किये धरणी देवी हैं। कृष्णहारा तो होही गयी हैं, तदुपरि कलिके प्रहारसे श्रीहीन भी होगई हैं अतएव निराश्रय होकर दुःखके आसू बहा रही हैं।"

क्रुद्ध अभिमन्युनन्दन कलिका वध करनेको उद्यत हुए। देखकर कलि उनके चरणोंमें शरणागति स्वीकार करके शिर पर गिर गये (पादयोः पतितम्)। परीक्षित् विचारमें पड़ गये-"शरणागत अवध्य होता है। वध करने से कहीं इसी छिद्र से कलि प्रवेश कर गया तो ?" अत एव वे बोले, मैं तुम्हें अब वधतो नहीं करूंगा किन्तु अविलम्ब मेरे राज्यसे बाहिर चले जावो।"

हाथ जोड़कर कलि बोला, "जीवदान ही जब दिया है, महाराज ? तो शिर ढ़ाँपने योग्य कहीं थोड़ा सा स्थान भी देने की कृपा करें।" परीक्षित् बोले, "जाओ, वहीं पर वास करो जहां "द्यूतं पानं स्त्रियः सूनाः" अर्थात् जुआ, मद्यपान, व्यभिचार एवं प्राणिहिंसा—ये चार अधर्म हों।" कातरकण्ठ होकर कलि बोला—"महाराज, आपके राज्यमें तो इनमेंसे किसीका अस्तित्व ही नहीं है।" "तो फिर निकल जावो यहांसे" पुकार उठे पाण्डववंशतिलक। पुनः पुनः दीनतापूर्वक याचना करने पर महाराज परीक्षितने कलिके निवास हेतु एक पञ्चम स्थान 'स्वर्ण बता दिया, जो कि वैरभाव का जनक है। निगृहीत कलि हटतो गया किन्तु उसके मनसे महाराजके प्रति आक्रोश दूर नहीं हुआ। वह किसी ऐसे दुर्बल क्षणकी तलाशमें आशा लगाये रहा जब महाराज पर आक्रमण किया जा सके। राजाके आदेशसे राज्यके नर-नारी सतर्क रहने लगे ताकि किसी छिद्र से कलि का प्रवेश न हो जाय।

एकदिन राजा परीक्षित् मृगयाके लिये वनमें गये। एक मृगका पीछा करते-करते वे अत्यन्त श्रान्त, क्षुधित एवं तृषित हो गये। क्लांत, क्षुधार्त एवं प्यासस बेहाल हुए परीक्षित्ने एक आश्रममें प्रवेश किया। देखा 'ध्यानस्मितलोचनं शमीक ऋषिको।

सूखे कण्ठ से पानी मांगा किन्तु किसी प्रकार का कोई उत्तर नहीं मिला तो क्रोध आगया। उनके पूरे जीवनमें इस प्रकार का राक्षसी क्रोध उन्हें कभी भी नहीं आया था—मानो क्षुब्धकलि किसी असावधानक्षण की बाट ही देख रहा था। क्रोधकी अभिव्यक्ति हुई—परीक्षित्‌ने धनुषके अग्रभागसे एक मृतसर्पको उठाकर समाधिस्थ ऋषिके गलेमें डाल दिया। महद्वमानना एक भयंकर व्यभिचार एवं अपराध होता हैं। कलिको प्रवेश करनेका एक प्रशस्त पथ मिल गया।

अभिसम्पति कृपासम्पात

शमीक ऋषिके आत्मज थे शृङ्गी। उन्होंने अपने क्रीडासङ्गियोंके मुखसे अपने ध्यानस्थपिता की अवमानना की कथा सुनी। क्रोधसे आरक्तलोचन हुए ऋषि कुमारने कौशिकी नदीके जलको हाथमें लेकर व्रजतुल्य अभिसम्पात दिया "वाग्वज्रं विससर्ज ह"। मर्यादालङ्घनकारी कुलांगारको आजके सातवें दिन विषधर तक्षक दंशन करेगा। "इति लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि दङ्क्ष्यति स्म कुलांगारम्"। शाप देकर ऋषिकुमारने करस्थ जल भूमि पर निक्षेप कर दिया। पृथिवी शिहर उठी।

इधर ऋषिका ध्यान भङ्ग हुआ तब सारा वृतान्त सुना। सुनकर दुःखसे अभिभूत हो उठे। हाय हाय करते हुए पुत्रको कहा—"लघुपापके लिये (अल्पीयसि द्रोहे) गुरुदण्ड (उरुर्दमः) देना अत्यन्त विगर्हित कार्य हुआ करता है। परीक्षित् पृथिवीके रत्न हैं, अतः जिसे वक्षपर धारण करना चाहिये था तुमने उस रत्नको पददलित किया है। श्रीकृष्ण तुझ अल्पबुद्धिको क्षमा करें! व्यथित ऋषिवरने राजाको यह मर्मान्तिक संवाद सुनाने हेतु गौरमुख नामक एक शिष्यको उनके पास भेज दिया।

इधर महाराज परीक्षित् भी जब अपने निवासस्थान पर पहुंचे तो तीव्र अनुतापकी ज्वालामें दग्ध होने लगे। "अहो मया नीचम् अनार्यवत् कृतम्"—हाय! मैं नराधम हूं, कितना नीच कार्य कर डाला मैंने! सम्भव है, कलिके आक्रोशके वशीभूत होकर ही मैंने ऐसा गर्हित कार्य किया है। "अपने पुत्र, अमात्य, मंत्री, माता उत्तरा आदि सभी को बुलाकर उनके सम्मुख आर्त स्वर में कहने लगे—" अब मेरी क्या गति होगी?"

इसी समय गौरमुख मुनि आ पहुंचे और अभिशापकी कथा बताई। महाराज परीक्षित् ने उनकी वाणी अत्यंत प्रशान्त मनसे ग्रहण की। मन ही मन उन्होंने तक्षक की विषाग्नि को अत्यंत हित साधन करने वाली वस्तु माना (स साधु मेने तक्षकानलम्)। सोचा, चलो जहरी फोड़े का अस्त्रोपचार हो गया। इससे अपराध का क्षालन भी होगा एवं विषयासक्ति भी दूर होगी।

अब मेरा कर्तव्य क्या है? भक्त शिरोमणिने एकक्षणमें कर्तव्य का निश्चय कर लिया। पुत्र जनमेजयके ऊपर प्रजापालनका भार अर्पण पूर्वक (स्वसुतन्यस्तभारः) निश्चय किया कि गंगातट पर प्रायोपवेशन ग्रहण करके श्रीकृष्णपादपद्मों की सेवाही मेरा एकमात्र करणीय कर्म है। औ उन्होंने क्रियारूप से किया भी यही।

"कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान उपाविशत् प्रायममर्त्यनद्याम्" भा० १।१९।५.

सभी भक्तों की हृदयतंत्री एक ही सुरमें बंधी होती है। किसी एक स्थान पर आघात पड़ा कि सर्वत्र समकालमें झंकृत हो उठती हैं। महाराज परीक्षित्‌ने गंगा तट पर प्रायोपवेशन किया हैं—तत्क्षणात् समस्त संत हृदयों में एक साथ स्पंदन हुआ। दिव्यमूर्ति ऋषि-मुनिगण सब वहीं आकर एकत्र होने लगे। अत्रि, वशिष्ठ, च्यवन, शरद्वान् अरिष्टनेमि, भृगु, अङ्गिरा, पराशर, विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, सुबाहु, मेधातिथि, देवल, भरद्वाज, गोतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व्य, कवष, अगस्त्य, व्यासदेव, नारद आदि—कितने नाम गिनायें? जितने देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, योगी, मुनि, तपस्वी आदि थे—सभी आये। उन्होंने सम्मिलित निश्चय किया, कि वे सभी सात दिन ही महाराज की सन्निधिमें गंगातटपर ही रहेंगे। महाराज परीक्षित् तो परमानन्दमें मग्न हो गये। अहो कैसा सद्भाग्य उपस्थित हुआ है! सोचने लगे कि पिछले इतने बीते वर्षोंमें तो राजधानी में इतने सारे महज्जनों की पदधूलि एक ही समय प्राप्त होने का शुभक्षण उपस्थित नहीं हुआ! अहो, ऋषिके शाप व्याजसे भी कितना महान् कृपासम्पात हुआ है! निश्चय ही स्वयं ब्रह्मण्य देवने ब्रह्मशाप रूप से मुझे कृतार्थ किया। राजर्षि परीक्षितने उपस्थित समस्त जनसमुदायको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके सबकी चरणरज मस्तक पर धारण की एवं हर्षातिरेक सहित बोले—"ऋषि-मुनिगण, आप सब गोविन्द नाम का कीर्तन करिये (गायत विष्णुगाथा)। तक्षक द्वारा दंश जानेकी अब मुझे कतई चिंता नहीं है, कारण मैंने अब श्री गोविन्द के चरणों में आश्रय प्राप्त कर लिया है। आप लोग एवं माँ सुरधुनी भी मुझे अपने चरणों में स्थान देने की कृपा करें। मुझे अब मृत्युसे कोई भय नहीं है। अब केवल एक ही अन्तिम प्रार्थना है कि मैं कहीं भी जन्म लूं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णके श्रीचरणोंमें मेरी अखण्ड रति (अनन्तेरेति) एवं उनके भक्तोंका सत्संग मुझे सर्वदा सर्वत्र प्राप्त होता रहे (महत्सु प्रसङ्गः)। सर्वजीवोंके प्रति मेरा सख्यभाव (मैत्र्यस्तु) सर्वदा बना रहे। लगता है, महाराज की हृदय की कामनाको कवि विद्यापतिने अपनी निम्न वाणीमें रूप दिया है—

किये मानुष, पशु पाखी जनमिये, अथवा कीट पतङ्गे ।
करम विपाके, गतागति पुनः पुनः, मति रहु तुया परसंगे ॥

महाराज परीक्षित् की आन्तरिक अभिलाषा सात दिन ही कृष्ण कथा में व्यतीत करेंगे। आहार-निद्रात्याग पूर्वक एकासेन स्थित रहकर श्रीकृष्ण कथा श्रवण करेंगे। किन्तु कथा कहेंगे कौन? सात दिन पर्यन्त अविश्राम कृष्ण कथा सुनाने योग्य योग्यता एवं महाभक्ति सम्पद है किसके पास? यदि श्रीकृष्ण कथा स्वयं ही मूर्त्ति धारण करके पधारे तभी यह सम्भव है।

तब श्रीकृष्णकी अमोघ इच्छा एवं अपार करुणावश श्रीपरीक्षित्‌के सौभाग्य गगनमें प्रकाशित हुआ—

"श्रीशुकोदय"

तत्राभवद् भगवान् व्यासपुत्रो यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः ।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो वृतश्च बालैरवधूतवेषः ॥
तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपादकरोरुबाह्वंस कपोलगात्रम् ।
चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्णसुभ्र्वाननं कम्बुसुजातकण्ठम् ॥
निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षसमावर्तनाभिं वलिवल्गूदरं च ।
दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम् ॥
श्यामं सदापीच्य वयोऽङ्गलक्ष्म्या स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन । १।१९।२५।
प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यस्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम् ॥ २८

श्रीभगवान् स्वयं व्यासपुत्र बनकर आ गये (तत्र भगवान् व्यासपुत्रः अभवत्) श्रीशुकदेवजी किसी से भी कोई अपेक्षा न रखते हुए पृथिवी पर स्वेच्छासे विचरण करते रहते हैं। वर्णाश्रमके बाह्यचिह्नोंसे रहित, आत्मानुभूति में ही संतुष्ट वे अवधूतवेशमें रहते हैं। बच्चों एवं स्त्रियोंने उन्हें घेर रखा था। सोलहवर्ष की अवस्था थी। चरण, हाथ, जङ्घा, भुजाएँ, कंधे, कपोल आदि सभी अंग अत्यंत सुकुमार थे। नेत्र बड़े मनोहर थे, नासिका बहुत ऊँची थी, कान बराबर थे। सुन्दर भौंहोंसे मुख बहुत शोभायमान हो रहा था। गला तो सुन्दर शंख सदृश ही था। हंसली ढकी हुई, वक्षस्थल चौड़ा और उभरा हुआ, नाभि भँवर सदृश गहरी और उदर बड़ा ही सुंदर, त्रिवलीसे युक्त था। लम्बी लम्बी भुजाएँ थीं, मुखपर घुँघराले बाल बिखर रहे थे। दिगम्बर वेषमें वे श्रेष्ठ देवतासे तेजस्वी लग रहे थे। श्याम रंग था। चित्ताकर्षक यौवन था। शरीरकी छटा एवं मधुर मुस्कानसे वे स्त्रियोंको सदा मनोहर लगते थे। उन्होंने अपने तेजको छिपा रखा था, फिर भी उनके लक्षण जानने वाले मुनियोंने उन्हें पहचान लिया और वे सबके सब अपने आसन छोड़कर उनके सम्मान हेतु उठ खड़े हुए। यह सब देखकर अभिमन्यु-सुत हर्षातिरेकसे रोमांचित हो गये और मन ही मन अपने अपूर्व भाग्योदयको सराहने लगे।

गलदश्रु महाराज परीक्षित् स्वयं अपने शिर पर वारिपूर्ण कलश वहन कर लाये एवं अत्यंत भक्तिपूर्वक महाभागवत श्रीशुकमुनिका पादप्रक्षालन किया। ऋषिसमाजमें श्रीशुकदेवजी इस प्रकार सुशोभित हुए मानो (यथेन्दुर्ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः) पूर्णिमाके पूर्ण शशधर ग्रह, नक्षत्र तारकाओं से परिवेष्टित होकर शोभित हो रहे हों।

परीक्षित् की जिज्ञासा

श्रीशुकदेवजी के चरणयुगल चन्दनचर्चित करके, कण्ठमें पुष्पहार धारण कराकर उन्हें नम्रतापूर्वक श्रीगुरुपद पर वरण करते हुए महाराज परीक्षितने अपनी अन्तरात्माकी जिज्ञासा व्यक्त की। उस समय उनके हस्तद्वय थे कृताञ्जलिबद्ध, वस्त्र था गललग्नीकृत, दृष्टि थी ढलढल, नयन थे छलछल और कण्ठ था भक्तिभावसे गद्‌गद।

"पुरुषस्येह यत् कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा।" भा० १।१९।३७

गुरुदेव! मेरी जिज्ञासा है कि "आसन्नमृत्यु जीवका कर्तव्य क्या है? कृपया इसका उपदेश करिये।" इस जिज्ञासा का उद्‌देश्य केवल सुनना ही नहीं है किन्तु श्रवणानन्तर जीवन में प्रयोग करना है। इस प्रकार की जिज्ञासा अति दुर्लभ वस्तु है। जिज्ञासु महाराज अपनी अंगुलियों पर दिन गिन रहे हैं। सात दिनकी अवधिमेंसे एक दिन तो प्रायः गतप्राय हो चुका। सभी मनुष्योंको अपनी शेष आयुके दिन इसी प्रकार गिनने चाहिये, किन्तु गिनते हैं कहां? प्रतिदिन हम धीरे धीरे नित्य ही

मृत्युके ग्रास बनते जा रहे हैं, किन्तु नश्वर देह एवं दैहिक आसक्तियोंसे जुड़े रहकर प्रतिदिन देखते हुए भी अनजानसे बनकर यह तथ्य देखते नहीं है। "निधनं पश्यन्नपि न पश्यति"।

रात्रि व्यतीत होती है निद्रा एवं भोगविलासमें। दिन बीत जाता है परिवार-पोषण हेतु धनार्जनकी प्रचेष्टामें। इसलिये निश्चित मृत्युका मुख-व्यादान दृष्टिगोचर ही नहीं होता। आचार्य श्री शङ्करने कहा है, "कालः क्रीडति गच्छत्यायुः"। काल गतिशील रहता है, आयु घटती है, बढ़ती नहीं। एक वर्ष बाद एक वर्ष बड़े नहीं होते किन्तु मृत्युके एक वर्ष निकट पहुंच जाते हैं। नीतिशास्त्रकार की उक्ति है :—

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्। ग्रहीत एव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

जब विद्यार्जन अथवा अर्थोजन का प्रसंग उपस्थित हो, तब सोचना चाहिये "वृद्ध भी नहीं होऊँगा, मरूँगा भी नहीं। किन्तु धर्माचरणके प्रसंगमें तो हमेशा स्मरण रखना चाहिये कि समय समाप्तप्राय है, मृत्यु के दूतों ने केशराशिको मुट्ठीमें पकड़ रखा है। मृत्यु आसन्न-प्राय है, यह जो अनुभव करते हैं, परीक्षित् की जिज्ञासा उन सबकी अन्तरकी जिज्ञासा है। जो सदा स्मरण रखता है कि जागतिक वस्तुमात्र नश्वर है, वही सत्यको जानता एवं देखता है। जिसे मृत्युकी छाया दिखाई पड़ती है, उसीके हृदयमें अमृतत्वकी लालसा जाग्रत होती है।

श्रीशुकदेवजी का उत्तर

श्रीशुकदेवजीने महाराज परीक्षित् की जिज्ञासा का जो उत्तर दिया, उसीका विस्तारितरूप श्रीग्रन्थ है। प्रथमतः श्रीशुकदेवजी महाराजके प्रश्नकी उच्छ्वसित प्रशंसा करते हुए बोले—

"एष ते प्रश्नो वरीयान्" (भा० २।१।१)

तुम्हारा प्रश्न श्रेष्ठतर है। तुम्हारे पितामह अर्जुनने युद्धक्षेत्रमें भगवान् श्रीकृष्णसे जो प्रश्न किया था, तुम्हारा प्रश्न उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। रणांगनमें सैन्यदर्शनसे विषादयुक्त होकर उन्होंने प्रश्न किया था—"यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे"।

श्रीअर्जुनने जानना चाहा था कि युद्ध करने एवं युद्ध न करने—इन दोनोंमें से कौन-श्रेय हैं। और तुम जीवनरण-भूमिमें उपस्थित होकर विचार कर रहे हो कि अब और समय नहीं है-पर पारकी सुव्यवस्था करनी है। अतएव भव-कर्णधार श्रीहरिकी कथा श्रवण करना चाहते हो। इसीलिये तुम्हारा प्रश्न वरीयान् है।

देह, गेह, स्त्रीपुत्र, परिजन, विषय-सम्पत्ति इत्यादि में आसक्त जीव की दृष्टि आसन्न-मृत्युकी तरफ भी नहीं जाती। आत्मकल्याण कामी व्यक्तिमात्रकी दृष्टि हमेशा मृत्युकी तरफ रहनी ही चाहिये। इसीलिये जगत्के समस्त सज्जनों के अन्तर में भी तुम्हारी जिज्ञासा सदा जाग्रत रहती है।

तुमतो भगवान् श्रीकृष्णके चिह्नित दास हो। उन्होंने मातृगर्भमें भीषण ब्रह्मास्त्रसे तुम्हारी रक्षाकी थी। अवश्यही किसी महान उद्देश्य हेतुही-तुम्हारी देह की रक्षा की होगी।

अब अपने प्रश्नका उत्तर सुनलो। मृत्युकाल उपस्थित होने पर सर्वप्रथम कर्तव्य है—मृत्युभय से अभिभूत न होना। द्वितीय कर्तव्य है—अनासक्तिरूपी तलवार द्वारा नश्वर विषयोंके प्रति मनमें जो स्पृहा है उसका छेदन करना। तृतीय कर्तव्य है-मनको श्रीहरिके चरणोंमें पूर्णतः लगा देना। याद रखो, जब तक किसी अन्य वस्तु या व्यक्तिके प्रति स्पृहा रहेगी तब तक मन श्रीहरिके पादपद्मों में नहीं लगेगा।

श्रीहरि एवं श्रीहरिकथा अभिन्न हैं। दोनों ही शाश्वत हैं। दोनो ही अमृतमय हैं, परमामृत-स्वरूप हैं। अतः श्रीहरि-कथा श्रवण करो। मनमें इस बातका तिलमात्र भी खेद न करना कि तुम्हारी आयुके मात्र सात दिवस बचे हैं। भोगमत्त व्यक्तिके जीवनके वर्षो पर वर्ष बीत जाते हैं, किन्तु उसका फल क्या मिला? "जीवन वृथा व्यतीत हो रहा है"-इस बोधपूर्वक तो एक क्षणका सदुपयोग भी अनेक व्यर्थवर्षोंसे श्रेष्ठ है। तुम सप्ताहकाल निरवच्छिन्नभाव से श्रीकृष्णकथा श्रवण करो। कृत कृतार्थ हो जवोगे। तुम्हें जो कथा सुनाने जा रहा हूँ, वह मुझे गुरुपरम्परा द्वारा प्राप्त हुई है। अतः प्रथम गुरु-परम्परा का श्रवण करो—

गुरुपरम्परा

सृष्टिके आदिकालमें ब्रह्मा श्रीनारायणके नाभिकमल पर बिराजमान थे। एक वाणी कानोंमें पड़ी "तपः तपः तपः"। इस वाणीका वक्ता कौन है, उसे देखनेकी प्रबल इच्छा हुई। एतद् हेतु ब्रह्माणीने जब बहुकाल तक तपस्या की तब कृपा करके

श्री नारायणने दर्शन दिये और उन्हें वर मांगने हेतु कहा। (वरं वरय)। ब्रह्माने कहा, "मुझे वर नहीं चाहिये, मुझपर तो आप ऐसी कृपा करिये कि मैं आपके रूपरहित सगुण एवं निर्गुण दोनों ही रूपों को जान सकूँ।"

"परावरे यथा रूपे जानीयां ते त्वरूपिणम्॥" भा० २।९।२५ तब श्रीभगवान्ने ब्रह्माको "चतुःश्लोकी" भागवत सुनाई। ब्रह्माने उसीका विस्तार करके दशलक्षणा भागवतके रूपमें निज मानसपुत्र नारद को उपदेश दिया। देवर्षि नारदने अशेष कृपा करके वही भागवत् महर्षि कृष्ण द्वैपायनको उनके सरस्वती-नदी-तटस्थ आश्रममें पाधारकर उन्हें अर्पित की।

तस्मा इदं भागवतं पुराणं दशलक्षणम्। प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूतकृत्॥

नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप। ध्यायते ब्रह्म परमं व्यासायामिततेजसे॥ भा. २।९।४३-४४

श्रीकृष्णद्वैपायन मेरे जन्मदाता और ज्ञान दाता—पितृदेव एवं गुरुदेव दोनों ही है। द्वापर के अन्तिम दिनोंमें मेंने अपने पिता श्री से उसका अध्ययन किया था। वही पितृदत्त महान सम्पद मैं आज तुम्हें दूंगा।

मधुर कथा श्रवण करके तुम मधुमय हो जावोगे। यह माधुर्यमण्डित भागवती कथा कितनी चित्ताकर्षक है, यह समझा पाना मेरी बुद्धिसे परे है। अपना स्वयंका ही दृष्टांत सुनाता हूँ, लो सुनो।

मैं जन्मसे ही था निर्गुण, निरञ्जन, ब्रह्मनिष्ठ (परिनिष्ठितेऽपि नैर्गुण्ये); ब्रह्मज्ञानसमुद्रमें सदैव सम्पूर्ण निमग्न रहता था। श्रीभागवतीकथा की ऐसीही अपूर्व गहिमा और चित्ताकर्षणी शक्ति है कि, मुझे बलपूर्वक आकर्षित करके (गृहीतचेता) स्वमाधुर्य आस्वारन हेतु लोभातुर बना दिया था। मैं मौनी था, यहां तक कि पिताजी की "हे पुत्र, हे पुत्र" पुकारका भी कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया था। किन्तु आज तुम्हारे सम्मुख तो मुखर होकर मधु-कथा कहूँगा। पिताश्री श्रीकृष्णद्वैपायनके अनुग्रहसे एवं श्रीकृष्णकृपाधन्य तुम्हारे आग्रहके वशवर्ती होकर मधुब्रह्मकी कथा सरिता मधुरतर होकर प्रवाहित होगी। तुम आनन्दपूर्वक इस सरिता में अवगाहन करो।

श्रीमद्भागवता का स्वरूप

श्रीग्रन्थके स्वरूपके विषयमें श्रीशुकदेवजीने स्वयं ही कहा है—

"इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्म सम्मितम्।" भा.२।१।८

'ब्रह्मसम्मितम्' पदका श्रीधरस्वामीपादने दो अर्थ किये हैं। 'ब्रह्म' पद का अर्थ किया है वेद एवं 'सम्मितम्' पदका अर्थ है 'तुल्य'। अतः भागवत वेदतुल्य ग्रन्थ एवं वेदों का प्रतिनिधि स्वरूप ग्रन्थ है। यह तो हुआ एक अर्थ। दूसरा अर्थ किया है—"ब्रह्म अर्थात् वेद सम्यक् मितं येन।" अर्थात् जिसके द्वारा वेदका सम्यक् परिमाप करा जा सके। तात्पर्य हुआ—वेदोंकी गभीरता का पूर्णतः अनुधावन श्रीमद्भागवके मानदण्डसे ही किया जा सकता है।

शाश्वत ज्ञानके भण्डार है वेद। वेदोंका निर्यास है वेदान्त। भागवत और वेदान्त अभिन्न हैं, एवं वेद वृक्षका परिपक्व फल है श्रीभागवत। ज्ञानवृक्षकी सार्थकता ही होती है शुद्धाभक्ति के रसायित फलप्रदानमें। क्योंकि वेदान्त तत्व-प्रधान है अतः दुरधिगम्य है। किन्तु श्रीमद्भागवत रस-प्रधान है, अत एव सर्वजनोंके लिये अनुभववेद्य है, सहजबोध्य है। वेदान्तमें वर्णित है परब्रह्म की कथा जबकि भागवतमें वर्णित हुई है लीलापुरुषोत्तम श्रीभगवान् की कथा।

परब्रह्म और श्रीभगवान्

एक है शुद्ध सोने का गोला और एक है उतनी ही मात्रा एवं मूल्यके सोने से बना हुआ कण्ठहार। इनमें विभिन्नता क्या है? सोने का गोला तो तिजोरीमें बंद करके सुरक्षित रखने की वस्तु है जब कि सोने का कण्ठहार गलेमें पहनके योग्य सौन्दर्यवर्धक अलंकार है। परब्रह्म मानो सच्चिदानन्द-रूप स्वर्ण के गोलक हैं और श्रीभगवान् मानो उसी स्वर्णसे तैयार किये गये वैचित्र्यपूर्ण नानाविध अलंकार हैं। एक बरफका खण्ड एवं एक घटपूर्ण जलराशि। स्वरूपतः तत्त्वतः दोनों एक ही वस्तु हैं फिर भी पार्थक्य किस बातमें है? पिपासार्त व्यक्ति की प्यास जल से तृप्त होगी, बरफ से नहीं। यदि बरफ ही मिलेगी तो वह उसे गलाकर जलमें परिवर्तित करके ही पियेगा। बरफ में तृष्णा-निवारणी शक्ति अव्यक्त है, जबकि पानीमें वह सुव्यक्त है। परब्रह्म स्वरूपमें करुणा-शक्ति अव्यक्त यानि अप्रकाशित है जबकि श्रीभगवान्में वही शक्ति सुप्रकटित है। जब तक समस्त शक्तियां अव्यक्त हैं, वह परब्रह्म हैं। कारुण्यादि शक्तियां विगलित होते ही वह श्रीभगवान् हो जाते हैं।

एक अन्य दृष्टांतद्वारा भी यही बात समझें। कुण्डली बनाकर अपने शरीरको छोटासा बनाकर पड़ा हुआ सर्प एवं धावमान सर्प है तो एक ही; किन्तु प्रथम प्रकार वेगरहित है जबकि द्वितीय प्रकार वाला गतिशील है। वैसे ही परब्रह्म स्थिर,

अचल, एवं स्थाणु हैं जबकि श्रीभगवान् क्रियाशील हैं। परब्रह्म सर्वगत एवं सर्वव्यापी हैं, श्रीभगवान् लीलाधाममें लीलारत हैं। परब्रह्म निर्गुण, निराकार निष्क्रिय हैं; श्रीभगवान् सगुण, साकार क्रीडाशील है। सगुण का अर्थ है 'अशेष कल्याणकारी गुणों के आधार। साकार अर्थात् चिद्‌घनाकार। क्रीडाशील माने नित्य नवायमान लीलाके आगार। वेदके प्रतिपाद्य हैं परब्रह्म; भागवतके आस्वाद्य हैं श्रीभगवान्। वेद एवं भागवत—दोनोंकी लक्ष्य वस्तु एक ही है। अतएव भागवत ब्रह्मसम्मित वेदतुल्य है। धावमान अवस्थामें सर्पको देखने पर कुण्डलीकृत सर्पके दैर्घ्य एवं गतिवेगका परिमाप किया जा सकता है। वैसे ही श्रीभागवत अधिगत होने पर ही परब्रह्म की करुणा, लीलारङ्ग, आस्वादन-वैचित्र्य इत्यादिका एक परिमाप उपलब्ध होता है। इसीलिये भागवत ब्रह्मसम्मित है अर्थात् जिसके द्वारा वेद सम्यक्‌रूपसे मापा (मित) जा सकता है।

स्वर्णका गोला एवं स्वर्णका अलंकार मूल्यकी दृष्टिसे अथवा स्वर्णकारके विचारसे समान हो सकते हैं; किन्तु व्यवहार की दृष्टिसे गृहवधूके विचारसे दोनों समान नहीं होते। सोनेके गोलेको तो गृहवधू तिजोरीमें बंद करके रख देगी किन्तु अलंकार को तो स्वयंके अंगोपर सजावेगी। इसी प्रकार ज्ञानीकी दृष्टिमें वेदान्त और भागवत समान हैं; किन्तु भक्तकी दृष्टि एवं व्यवहारमें दोनोंमें पार्थक्य है। भक्त वेदान्तको मस्तकपर धारण करके रखता है किन्तु श्रीभागवतको हृदयकपाटमें बंद करके रखता है।

श्रीमद्भागवतमें क्या है ?

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः। मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥ भा० २।१०।१

श्रीमद्‌भागवत महापुराण है। महापुराणके आलोच्य विषय होते हैं दश। ये हैं—सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय।

(१) परब्रह्मसे तत्त्वोंका, पञ्चतन्मात्राओंका, इन्द्रियोंका मनका जो जन्म होता है उसको कहते हैं—सर्ग।
(२) ब्रह्मा द्वारा ब्रह्माण्डकी सृष्टि विसर्ग।
(३) सृष्ट पदार्थकी यथायोग्य मर्यादा—स्थिति।
(४) श्रीभगवान्‌का भक्तोंके प्रति अनुग्रह—पोषण।
(५) अनादिसिद्ध कर्मप्रवाह —ऊति।
(६) मन्वन्तराधिपतियों द्वारा पालनीय धर्म—मन्वन्तर।
(७) अवतारों एवं भक्तोंकी कथा—ईशानुकथा।
(८) माया एवं जीवका ईश्वरमें लय होना—निरोध।
(९) जीवका स्वरूपमें अवस्थान—मुक्ति।
(१०) जो सबके मूलमें हैं वह परब्रह्म परमात्मा श्रीभगवान् ही—आश्रय तत्त्व हैं।

अन्तिम विषय—जो आश्रय तत्त्व है, वही श्रीभागवतका विशेषरूपसे आलोच्य विषय है। शास्त्रकारने आश्रय तत्त्वको सम्यक्‌रूपसे समझाने हेतु ही सर्ग, विसर्ग प्रभृति नौ विषयोंकी अवतारणा की है।

"आश्रय जानिते कहि ए नव पदार्थ।" (चैः चः)
"दशमस्य विशुद्‌ध्यर्थं नवानामिहलक्षणम्।" भा. २।१०।२

स्वयं श्रीभगवान् ही आश्रय-तत्त्व हैं। सर्ग आदि नौ विषयोंके मूल भी वही हैं। श्रीमद्‌भागवतमें उक्त नौ विषयों का ज्ञान कराने हेतु ही नवमे स्कन्ध पर्यन्त उक्त नौ विषयों की आलोचना की गई है। दशम स्कन्धमें दशम वस्तु आश्रय—तत्त्व वर्णित हुआ है।

"दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रयविग्रहम्।" (श्रीधर) अब हम सर्वाश्रय आनन्दनिकेतन श्रीकृष्णकी असीम अनुकम्पा-के भरोसे ही दशम स्कन्धमें वर्णित आश्रयतत्त्व का अनुध्यान प्रारम्भ करते हैं।

दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रयविग्रहं। आश्रिताश्रयविग्रहम्—आश्रितानां जगताम् आश्रयः "आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते। स आश्रयः परं ब्रह्म" इत्युक्तलक्षणो विग्रहः स्वरूपं यस्य तत् तथा एतादृक् लक्ष्यं श्रीकृष्णे एव इति अतः लभ्यते। तथा हि अं वासुदेवम् आश्रिता आश्रिता रमा राधा गीर्वा तस्याः आश्रयः विग्रहः देहः यस्य लक्ष्यस्य तत् तथा। (श्रीवंशीधर) इस व्याख्याके अनुसार श्रीराधाकृष्ण युगलमूर्त्ति ही आश्रय रूपसे निरूपित होते हैं।)

२

आश्रय-विषय-वैचित्र्य

आश्रय होगा तो आश्रित भी होना ही होगा। आश्रितका शास्त्रीय नाम है 'विषय'। दोनों शब्द आपेक्षिक हैं। आश्रय विषय नियत सम्बन्ध युक्त होगा। पत्नी होगी तो पति भी होगा। युगल की ही सत्ता होगी। एककी सार्थकता अन्य पर आश्रित होगी।

व्याकरण में आश्रय कहते हैं 'कर्ता' को। क्रिया, कर्म, करण आदि को विषय कहते हैं। दर्शन शास्त्रमें आश्रय कहेंगे 'ज्ञाता' को। यावत् जो कुछ भी ज्ञेय होगा वह 'विषय' है। रसशास्त्र में रस जिस आधारमें रहेगा वह होता है 'आश्रय-आलम्बन। जिसको अवलम्बन करके रस की सृष्टि होगी वह होता है विषयालम्बन। आश्रय, वस्तु को पकड़ में रखता है। जिस खटिया पर मैं सोया हुआ हूँ, वह मेरा आश्रय है। उसको हटा दें तो मैं आश्रयहीन होकर गिर पड़ूंगा। किन्तु खटिया पृथिवीके वक्ष पर दण्डायमान है; अतः पृथिवी हुई मेरे की आश्रय, यानि 'परमाश्रय'।

श्रीकृष्ण ही समस्त विश्व के परम अवलम्बन अर्थात चरम आश्रय हैं। उनकी अन्तरङ्गा स्वरूप-शक्तिका कार्य है अनन्त लीलाओं को प्रकट करना। बहिरङ्गा मायाशक्ति का कार्य है वैचित्र्यमय प्रपञ्च की रचना करना एवं तटस्था शक्तिका कार्य है अनन्त जीव समूह। ये तीनों शक्तियाँ ही परमाश्रय श्रीकृष्ण के आश्रित हैं। अनन्त विश्वमें कृष्ण-भिन्न यावद्-वस्तु—जो कुछ भी है सब 'विषय' है, श्रीकृष्ण ही परमाश्रय हैं। तत्त्वदृष्टिसे आश्रय एवं विषय के सम्पर्क में यही सिद्धान्त प्रतिपन्न होता है। रस दृष्टिसे देखने पर यही सम्पर्क अन्य प्रकारका हो जाता है। इसकी दृष्टिभङ्गी से समझना हो तो पहिले भक्तिके द्विविध भेदों के बारे में कुछ ज्ञान होना आवश्यक है।

भक्ति का द्वैविध्य

वैधी और रागात्मिका भेद से भक्ति दो प्रकार की होती है। वैधीभक्तकी दृष्टि होती है तात्त्विक एवं रागी भक्तकी दृष्टि होती है रसात्मिका। भक्तके हृदयमें भक्ति-सरिता प्रवाहित रहती है। यदि उस सरिताका उत्स शास्त्र-विधि हैं, तो वह भक्ति वैधी भक्ति कहलाती है। किन्तु यदि सरिताका उद्गम-स्थल शुद्ध अनुराग हो तो वह रागात्मिका भक्ति कहलायेगी।

शास्त्र सुनकर जानकारी होती है श्रीभगवान् कितने महान् कितने शक्तिशाली, व्यापक और अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न हैं। अतः उनका भजन करने से इहकाल एवं परकालमें कितना सुख, कितनी शान्ति मिलेगी। यह ज्ञान हो जाने पर जीवका कर्तव्य निश्चित हो जाता है—सतत हरि भजन। ऐसा निश्चय होकर जिस भक्ति का आविर्भाव होता है वह वैधी भक्ति है।

किन्तु रागात्मिका भक्ति का कोई हेतु खोज पाना ही कठिन होता है। अच्छे लगते हैं, अतः इनके प्रति लोभ हो गया है। क्यों और कैसे हो गया, यह खोज पाना मुश्किल है। उन्हें प्रेम करनेसे शान्ति अथवा सुख की कोई आशा नहीं, स्वर्ग अथवा मोक्षकी भी कोई लालसा नहीं। इसके विपरीत शायद दुःख एवं कष्ट का वरण करना पड़ सकता है। लोकनिन्दा, समालोचना इत्यादि तो मिलेगी ही। फिर भी उनसे प्रेम करते हैं। न जाने उनके प्रति कैसा एक प्रबल एवं अप्रतिरोध्य आकर्षण सारे अन्तरमें व्याप्त है। उनका रूप सुन्दर लगता है, उनकी वाणी मधुर लगती है, उनकी सारी चेष्टाएं एवं तज्जनित लीला-खेला सारे मनको सरस एवं आनन्दमग्न कर देते हैं। इस प्रकारकी अहैतुकी, आकर्षण-जनित आन्तरिक जो भक्ति होती है, उसका नाम रागात्मिका भक्ति है।

यह भक्ति व्रजमण्डलकी ही विशेष सम्पद है। व्रजमें ही प्राप्य है, अन्यत्र नहीं मिलती। अथवा व्रजके अनुकरण, अनुसरण एवं आनुगत्य द्वारा जो लोग भजन करते हैं, उनके ही हृदयमें रहती है।

विधिमार्गीय भक्तकी दृष्टि तात्त्विक होती है एवं रागमार्गीय भक्तकी दृष्टि रसमय होती है। तात्त्विक दृष्टिसे आश्रय एवं विषयका सम्बन्ध किस प्रकारका होता है, वह संक्षेपमें ऊपर बता चुके हैं। अब रस-सृष्टिके विषयमें कुछ विचार करें।

रसदृष्टिमें आश्रय एवं विषय

रसलीला की भूमि (स्तर) तीन हैं—वात्सल्य, सख्य और मधुर। वात्सल्यभूमिके पात्र हैं नन्द-यशोदा आदि और श्रीकृष्ण। सख्यभूमिके पात्र हैं श्रीदामा आदि और श्रीकृष्ण। मधुररसके पात्र है श्रीराधा-ललिता आदि और श्रीकृष्ण।

तत्त्वतः श्रीकृष्ण निखिल ब्रह्माण्डके आश्रय हैं। श्रीनन्द-यशोदा, श्रीदामा-सुदामा, श्रीराधा-ललिता सभी आश्रित हैं, अतः सभी विषय हैं। किन्तु वस्तुतः स्थिति विपरीत है। वात्सल्य, सख्य, मधुर—इन तीनों रसों के ही श्रीकृष्ण विषयालम्बन श्रीनन्द-यशोदादि, श्रीदाम-सुदामादि, श्रीराधा-ललिता आदि ही तत्तत् रसके आश्रयालम्बन हैं।

विषय रहता है आश्रयकी अधीनतामें। इसीलिये व्रजके बाल-गोपाल नन्दलाल नन्द-यशोदाके अधीन हैं। गोष्ठभूमिमें "भैया कन्हैया" श्रीबलराम-श्रीदाम-सुदामके अधीन हैं। कुञ्ज वनमें श्रीराधा विहारी भानु दुलालीके अधीन हैं। केवल अधीन ही नहीं "सर्वतो भावेन अधीन" (श्रीचरितामृत) अर्थात् सम्पूर्णरूपसे अधीन हैं। यह अधीनता ही रस का प्राण हैं। प्रेमाधीनता ही रसको सजीव रखती है और पुष्ट करती है। श्रीदामके अधीन हैं, इसीलिये तो पराजित होकर उसको कंधेपर चढ़ाकर वहन करते हैं। जननोके अधीनता वश ही "भीतवत्" पलायन करते हैं और रज्जु द्वारा बंधन स्वीकार करते हैं। सर्वतोभावे अधीन हैं इसीलिये श्रीराधा जैसे चलती हैं वैसे ही चलते हैं। जैसे नचाती हैं वैसे ही नाचते भी हैं।

श्रीराधार-प्रेम गुरु आमि शिष्य नट। सदा आमाय नाना नृत्ये नाचाय उद्भट॥ (श्रीचरितामृत)

यदि सर्वतो भावे अधीन नहीं होते तो फिर क्या "देहि पदपल्लवमुदारम्" बोलकर मानभञ्जन हेतु प्रयासी हो सकते थे? "न पारयेऽहं" बोलकर प्रेमऋण की स्वीकारोक्ति कर सकते थे?

श्री श्रीबन्धुसुन्दरके पदमें भी श्रीकृष्ण की उक्ति सुनिये—

दन्ते तृण धरा ये रे भाई, नियाछेन दासखत कमलिनी राई,
आमि कायमने से चरणे करे छि सब समर्पण।

(साक्षी अष्टसखी) (हेरि बन्धु हासे)

है न चमत्कार? जिनकी इच्छा विना वृक्षका एक सूखा पत्ता भी नहीं गिरता, उन्होंने ही श्रीराधाके चरणकमलोंमें सर्व समर्पण कर दिया है! यह चमत्कारिता-बोध ही रासलीलाके आस्वादन का प्राण-सर्वस्व है।

"रसे सारश्चमत्कारो यद्विना न रसो रसः।"

रसलीलाकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति श्रीरासलीला के माधुर्यावगाहनमें हमारे प्राणोंके ठाकुर श्रीश्रीबन्धुसुन्दर हमारे सहायक बनें! जय श्री गौरहरि! जय राधा गिरिधारो! जय जगद्बन्धु हरि!!

—:०:—

अनुवादक—चतुर्भुज तोषणीवाल
सुमेरपुर

ॐ

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवतम्

रासपञ्चाध्यायी (फेलालव)

लेखक : डॉ० श्रीमहानामव्रत ब्रह्मचारी एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट्

द्वापर और कलियुगके सन्धिकालमें श्रीमद्भागवत महापुराणका इस जगत्में आविर्भाव हुआ था। जब संसारमें कलि का घोर अंधकार घोरतर हो रहा था, उस दुर्दिनमें श्रीमद्भागवत-सूर्यके प्रकाशने (पुराणार्कः) इस भारतीय महाजातिके लुप्त कल्याणमय पथको पुनः प्रकाशित करके पथप्रदर्शन किया था। आजदिन अवधि हम उसी प्रकाशसे प्रकाशित पथ पर ही चल रहे हैं।

किसी युगसंधिके प्रचण्ड आघातको सहन नहीं कर पानेके कारण ही प्राचीन ग्रीस, रोम, बेबिलोन, मिश्र प्रभृति देशोंकी विख्यात सभ्यताएं नष्ट हो गई। कुरुक्षेत्रके युद्धके महाभयानक आघातके पश्चात् हमारी संस्कृति भी समागत कलिके भीषण प्रहारसे मर ही जाती; किन्तु हमारी संस्कृति इस भीषण प्रहारको भी सहन करके आजतक जीवित कैसे रह गई, इसी कारण की हम अब आलोचना करेंगे।

देवर्षि नारदकी असीम करुणा और महर्षि वेदव्यासकी अमित साधना—इन दोनोंने संयुक्त होकर ही हमें इस महामृत्युके चगुलसे रक्षाकी है। जिस प्रकार कृषक द्वारा भूमि कर्षण और मेघ द्वारा जलवर्षण, दोनों एकत्र मिलनेसे ही शस्यक्षेत्रोंकी शाभावृद्धि होती है, उसी प्रकार देवर्षि एवं महर्षिकी करुणा और साधनाके समन्वयसे ही भारतीय धर्मसाहित्यमें भास्वर-सम्पद श्रीमद्भागवतका आविर्भाव हुआ था। श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासका सर्वश्रेष्ठ अवदान यह महाग्रन्थ ही है। अनेक पुराण, उप-पुराण, महाभारत, तदन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीता इत्यादि सभी ग्रन्थ उन्हींकी लेखनी प्रसूत हैं। उनकी अन्तिम रचना है—श्रीमद्भागवतमहापुराण। नारदजीकी कृपा अर्थात् नारदरूपी कृपाशक्तिद्वारा प्रणोदित होकर ही उन्होंने इस महाग्रन्थकी रचनाकी। श्रीमद्भागवत ही इस जातिकी रक्षा करेगा। पहले भी उसीने इस जातिकी रक्षा की है, अब भी यदि हम इस श्रीग्रन्थका अनुशीलन करेंगे तो यही हमारी रक्षा करेगा।

हमारे मूल धर्मशास्त्र वेद हैं, जिनका अपर नाम श्रुति भी है। श्रुतिके सारको ही उपनिषद् अर्थात् वेदान्त कहा गया है। वेदान्तके तत्त्वसमूह सूत्ररूपसे ब्रह्मसूत्रमें ग्रथित हैं। वही तत्त्व श्रीमद्भागवतमें काव्यरससे रसायित होकर प्रकटित हुए हैं। सूत्रोंमें प्रवेश का अधिकार केवल सुविज्ञ दार्शनिकों को है। साहित्यरसको आस्वादन करनेमें अल्पाधिक मात्रामें जन-साधारण सभी सक्षम होते हैं।

ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भागवतके तत्त्व एक ही हैं—यह स्पष्टरूपसे ज्ञापित करने हेतु ही श्रीमद्भागवत ग्रन्थका सूत्रपात ही ब्रह्मसूत्रके द्वितीय मंत्र "जन्माद्यस्य यतः" द्वारा किया गया है। युगोंसे दार्शनिकोंने वेदान्तसूत्रकी नाना वैचित्र्यमय व्याख्याएँ एवं भाष्योंके माध्यमसे श्रुतिके महादानको निरन्तर प्रवाहित रखा है। दूसरी तरफ लाखों नरनारियोंने श्रीमद्भागवतके माध्यमसे जीवनादर्श की उज्ज्वल अनुभूतियोंके सहारे अपने आध्यात्मिकजीवनका पथ चुना है। इसीके फलस्वरूप हमारी संस्कृति बच गई और आज भी हमें उसपर गर्व है।

वर्त्तमानकालमें भी एक और युगसंधिकाल चल रहा है। श्रीश्रीप्रभु जगद्बंधुसुंदरने लिखा है कि, महाप्रभु श्री गौरांगदेवके आगमनसे कलिकी आयु क्षयप्राप्त हो गई। अतः अत्यन्त धीरे-धीरे सत्ययुग आ रहा है। वर्त्तमानमें युगसंधिक्षण चल रहा है। संधिकालमें जातिके जीवन-मरणकी समस्या उपस्थित होगी। उस महानैराश्यकालके अंधकारमें हमारा पथ आलोकित करेगा 'श्रीमद्भागवतरूपी प्रकाश'। इसीलिये प्रभु जगद्बन्धुसुन्दरने इस दुर्दिनके विषयमें लिखा है—"भक्तिशास्त्र भागवत सार करो आवरत।"

श्रीमद्भागवत समस्त पुराणोंमें श्रेष्ठ गिना जाता है और महापुराणोंकी श्रेणी में आता है। महापुराणके आलोच्य विषय होते हैं दश—सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय। इन सबमें से आश्रय-तत्त्वका अनुशीलन ही सर्वाधिक प्रयोजनीय है। जगत् एवं जीवका व्यक्तिगत एवं समष्टिगत, चरम एवं परम आश्रय

कौन है एवं किस उपायसे उसका आश्रय प्राप्य है—इस मुख्य बातको कहने हेतु ही शास्त्र का सारा प्रयास लक्षित होता है। आश्रय-तत्त्वको जानना होगा, समझना होगा, धारण करना होगा एवं उसीका आश्रय ग्रहण करना होगा—यही सारी बातें तो शास्त्रके विषय हैं।

श्रीमद्भागवतशास्त्र द्वादश स्कंधोंमें विभक्त है। उनमेंसे दशम स्कंधको ही श्रेष्ठ स्कंध कहा जाता है, कारण पूर्वोक्त दशम विषय अर्थात् आश्रय-तत्त्व का पूर्णाङ्ग विवेचन एवं आस्वादन इस दशम स्कंधमें ही हुआ है। "दशमे दशमं लक्ष्यम्।" दूसरे जो नौ विषय आलोचित हुए हैं उनका उद्देश्य भी इस दशमके वक्तव्यको उज्ज्वल करना ही है। "आश्रय जानिते कहि ए नव पदार्थ।" "दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।" (भा० २।१०।२) पूरे ग्रन्थमें जितनी बातोंकी अवतारणा या आलोचना हुई है, उन सबका उद्देश्य आश्रय-तत्त्व को निखारना (रूपायित करना) ही है। यह रूपायन पूर्णरूपसे निखरा है दशम स्कंधमें ही।

दशम स्कंधमें श्रीकृष्णके आविर्भावसे प्रारम्भ करके उनकी सारी लीलाएँ वर्णित हुई हैं। इन लीलाकथाओंके वर्णन हेतु ही श्रीमद्भागवतका आविर्भाव है। श्रील सनातन गोस्वामी पादने श्रीमद्भागवत को कहा है —"श्रीकृष्णः परिवर्तितः"।

वैदिक शास्त्रोंमें कहा है—ब्रह्मके दो स्वरूप हैं, परब्रह्म और शब्दब्रह्म—"द्वे ब्रह्मणि वेदितव्ये शब्दब्रह्म परब्रह्म तत्।" श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं और श्रीमद्भागवत शब्द-ब्रह्म है—श्रीकृष्णकी वाङ्मयी मूर्त्ति।

एक अन्य मन्त्रमें भी श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कंधोंकी श्रीकृष्णके द्वादश अङ्गोंसे तुलना की गई है। उसमें कहा गया है कि दशम स्कंध श्रीगोविन्दके अधरोंका मधुरहास्य (मञ्जुहास्यताम्) है। एक अन्य प्रसङ्गमें श्रीमन्महाप्रभुने श्रीकृष्णके हास्यके माधुर्यका वर्णन इस प्रकार किया है—

कृष्णाङ्ग लावण्यपूर, मधु हइते सुमधुर, तार माझे मुख सुधाकर।
मधु हइते सुमधुर, ताहा हइते सुमधुर, तार माझे स्मित जोहनाभर॥

श्रीकृष्णके सर्वाङ्ग लावण्यकी खान हैं। समस्त अंगोंकी लावण्यराशि श्रीवदन (श्रीमुख) में घनीभूत होगई है। श्रीमुखका समग्र माधुर्य, उनके मधुरिम हास्यमें गाढताप्राप्त हो गया है। इस दृष्टि से भी श्रीमद्भागवत समस्त शास्त्रोंमें श्रेष्ठ गिना जा सकता है। फिर उसका दशम स्कंध तो श्रीकृष्णचन्द्र के मुखचन्द्रकी उज्ज्वल स्निग्ध ज्योत्स्ना है। दशम स्कंधको जो श्रीमुखका हास्य कहा है, यह केवल एक रूपकमात्र ही नहीं है। इस कथनमें तत्त्वका सुस्पष्ट संकेत निहित है, कारण अन्तरके आनन्दका आस्वादन हास्य में ही व्यक्त हुआ करता है। पशु, पक्षी, मनुष्य—ये सभी अनेकांशमें एकही प्रकारके हैं। मनुष्यकी एक विशेषता है कि वह हंसता है जब कि पशु-पक्षी हंसते नहीं। कोई रसमय प्रसंग उपस्थित होतो मनुष्य उसको ग्रहण करनेकी क्षमता रखता है। शास्त्रकारोंमें भी मानो एक जिज्ञासा है—श्रीभगवान् हंसते हैं कि नहीं। वे सृष्टि-स्थिति-लयके कारण हैं-यह बात तो वेद-वेदान्तने बतादी। अब यह जाननेकी इच्छा होती है कि वे हंसते भी हैं या नहीं। आज तक किसी शास्त्रने यह बात नहीं बताई थी। श्रीमद्भगवद् गीतामें श्रीकृष्ण ने जब अर्जुनको उपदेश देना प्रारम्भ किया तब—"तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत (गी. २।१०) ऐसा आया है। इसका अर्थ है—श्रीभगवान् मानो जरा मुस्कराते हुएसे बोले। प्रथमतः तो यह खुला हास्य नहीं था—हल्की सी मुस्कराहट थी और वह भी शायद व्यंगभरी। व्यंगभरीइसलिये कि अर्जुन बाते तो ज्ञानियों जैसी बघार रहा था किन्तु असली ज्ञान मोह एवं आसक्ति से आच्छादित था, जिस पर श्रीभगवान् को अर्जुन की दशा पर हंसीसी आ गई। फिर 'इव' का प्रयोग भी किया गया है। किन्तु हमारी जिज्ञासा यह है कि श्रीभगवान् भी कभी प्राणोंको मत्त करनेवाला उन्मुक्त हास्य भी करते हैं क्या? हमें यह जानने की लालसा है कि उनके हृदय में पूर्णरसके आस्वादन की योग्यता है क्या? इस जिज्ञासाका उत्तर हमें श्रीमद्भागवतके दशम स्कंधमें मिलता है। यहां श्रीभगवान् का रूप है "आनन्दरसैकमूर्त्ति" अर्थात् श्रीकृष्ण यहां हास्यमय एवं रसमय ठाकुर हैं।

श्रीमद्भागवतके दशम स्कंध की लीला तीन भागोंमें विभक्त है। व्रजलीला, मथुरालीला एवं द्वारकालीला। इनमेंसे व्रजलीला ही सर्वाधिक माधुर्यमण्डित है। व्रजलीला समस्त नरनारियों की नयन-मनरसायन, प्राणस्पर्शी एवं चित्ताकर्षी है। व्रजमें कहीं ऐश्वर्यका प्रकाश भी हुआ है तो भी वह माधुर्यके अधीन है, उसका अङ्गीभूत है। श्रीभगवान्में दो वस्तु विद्यमान हैं—ऐश्वर्य और माधुर्य। जिन लीलाकथाओं के श्रवणसे मनमें यह भाव जाग्रत होता हो कि श्रीभगवान् कितने महान् हैं, वह ऐश्वर्यका परिचायक है। किन्तु जिन लीलाकथाओंके श्रवणसे मनमें यह भाव उदित होते हो कि वे हमारे कितने अपने हैं, कितने प्रिय हैं, वे उनके माधुर्य को प्रकाशित करती हैं। श्रीभगवान् श्रेष्ठ भी हैं, प्रेष्ठ भी हैं। ऐश्वर्यसे उनके श्रेष्ठत्व का ज्ञान होता है जबकि माधुर्य उनके प्रियत्व का आस्वादन कराता है। श्रीगीतामें विश्वरूप प्रदर्शनसे उनका ऐश्वर्य प्रकाशित हुआ है, किन्तु यमुना पुलिनपर गोपशिशुओं का उच्छिष्ट ग्रहण करनेमें उनके माधुर्यकी अभिव्यक्ति हुई है।

आचार्यपादोंने माधुर्य को ही भगवान् की भगवत्ता का सार बताया है—

माधुर्य भगवत्ता सार, व्रजे कैल परचार, ताहा शुक व्यासेर नन्दन।
स्थाने स्थाने भागवते, वर्णियाछेन नाना मते, जाहा शुनि माते भक्तगण ॥

माधुर्य श्रीभगवान् की भगवत्ताका निर्यास है। इस माधुर्यविलासके लिये व्रजलीला ही सर्वश्रेष्ठ है। श्रीभगवान् जब वात्सल्य, सख्य और मधुर—इन तीन रसोंके विषय बनकर रसके आस्वादनमें तन्मय हो जाते हैं, तभी वे सर्वातिशायी माधुर्यमण्डित होते हैं। व्रजलीलामें ये तीन रस ही मुख्यरूपसे आस्वाद्य है। मोर पुत्र मोर सखा मोर प्राणपति।"

श्रीव्रजधाममें श्रीकृष्ण किसीके पुत्र हैं, किसीके सखा हैं और किसीके प्राणवल्लभ हैं। श्रीकृष्ण व्रजमें कुल दश वर्ष आठ महीने रहे, जिसका प्रथमांश गोकुलमें एवं शेषांश श्रीवृन्दावनमें बीता। पूतना-मोक्ष, शकट-भञ्जन, माता यशोदाको मुख-विवरमें विश्वरूप-प्रदर्शन एवं दाम-बंधन आदि लीलाएँ गोकुलमें हुई। ये सभी श्रीकृष्णकी बाल-लीलाएँ हैं। इन सभी लीलाओंमें वात्सल्यरसका माधुर्य आस्वादित और विस्तारित हुआ है।

जब गोकुलमें श्रीकृष्णके ऊपर नाना प्रकारके उपद्रव होने लगे तो नन्दादि गोपप्रमुखोंने गोकुलका त्याग करके श्रीवृन्दावनको अपना निवासस्थान बनाया। वहां पर श्रीकृष्णने पौगण्ड-वयकी गोष्ठलीला की, जिसमें सख्य रसका माधुर्य आस्वादित और विस्तारित हुआ। गोचारण लीलाओंमें वत्सासुर, बकासुर, अघासुर आदिके वधके पश्चात् ब्रह्ममोहन लीला सम्पादित हुई। उसके बाद धेनुकासुरवध, यमुनाह्रदमें कालियदमन, दावानल-पान, प्रलम्बासुर-वध और अरण्याग्नि-पान आदि लीलायें हुईं। इन सभी लीलाओमें वात्सल्य और सख्य-इन दोनों रसोंके आस्वादनकी चमत्कारिता वर्तमान है।

श्रीकृष्ण जब किशोर हुए तो यमुनापुलिन पर वेणुवादन करते थे, जिसके श्रवणसे गोपबालिकाओंमें पूर्वराग का उदय हुआ। इन बालिकाओंने श्रीकृष्णको पतिरूपसे प्राप्त करने हेतु कात्यायनीव्रत किया। व्रतकी समाप्तिपर बालिकाएं यमुना तटपर अपने वस्त्र रखकर नदीमें स्नान करने लगीं, तब श्रीकृष्णने अपने साथियोंके साथ आकर उन वस्त्रोंको छिपा दिया। फिर उन्हें अपने पास बुलाकर उपदेश एवं आश्वासन देकर वस्त्र लौटा दिये। इसी लीलासे मधुर रसात्मक परम रमणीय रासलीलाका सूत्रपात हुआ।

तत्पश्चात् याज्ञिक ब्राह्मणपत्नियोंसे अन्न-याचना, गोवर्धनधारण इत्यादि कुछ लीलाओंके बाद रास-लीला वर्णित हुई है। दशम स्कंधकी २९वीं अध्याय से लेकर ३३वीं अध्यायतककी पांच अध्यायोंको रास-पञ्चाध्यायी कहा जाता है। मनुष्यकी देहमें पञ्च-प्राणोंका जो महत्त्व है, वही महत्त्व श्रीमद्भागवतमें रास-पञ्चाध्यायी का है। यह पञ्चाध्यायी सम्यक्रूपसे आस्वादित हो जाय तो श्रीमद्भागवतके प्राणपुरुषके दर्शन प्राप्त होते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायमें श्रीभगवान्ने अर्जुनको अपने जन्म-कर्मके रहस्यके सम्बंधमें कहा है—

"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ४।९

अर्थात् मेरे जन्म कर्म दिव्य हैं। जो इस बातको तत्त्वतः जान लेता है उसको फिर जन्म-कर्मका बन्धन नहीं रहता। देहान्त होनेके बाद वह मुझे ही प्राप्त करता है।

भूमाका भूमिपर अवतरण, और अवतीर्ण होनेके बाद नाना प्रकारके कार्य-साधन—ये घटनायें भूमिपर घटित होने पर भी भौम नहीं हैं, दिव्य हैं। इन समस्त दिव्यलीलाओंके माध्यमसे जन्म-कर्मका तत्त्व-ज्ञान हो जाने पर ही परमात्माकी प्राप्ति और जन्मान्तरकी निवृत्ति होती है। किन्तु इन लीलाओंका दर्शन अन्य जागतिक घटनाओंके दर्शनकी भांति करनेसे कार्य सिद्ध नहीं होगा। इनको तत्त्वतः जानना होगा। इस 'तत्त्वतः' शब्दमें अत्यन्त गम्भीर आशय एवं इशारा छिपा हुआ है।

हम रासलीलाका आस्वादन करने हेतु लालसान्वित हैं। किन्तु इसका आस्वादन तात्त्विक भूमिका द्वारा करना होगा। इस महत्कार्यहेतु हमें श्रीमद्भागवतके आचार्यपादगणोंके पादपद्मोंमें प्रणत होकर उनकी कृपारूपी पाथेयका अवलम्बन करके अग्रसर होना होगा।

तथ्य और तत्त्वमें अङ्गाङ्गी सम्बन्ध है। तथ्य पल्लवित है, तत्त्व मूलानुगत है। वृक्षकी शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प आदि तथ्य हैं और वृक्षका मूल तत्त्व है। तथ्य स्थूल होता है जब कि तत्त्व सूक्ष्म होता है। तथ्य व्यवहारिक होता है जब कि तत्त्व पारमार्थिक वस्तु है। देह तथ्य है, इसके मूल उपादान क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम—ये पांच तत्त्व हैं। फिर देखें तो ये पांच महाभूत तथ्य हैं और इनका मूल महत्तत्त्व है। इससे भी सूक्ष्म विचार करें तो महतत्त्व तथ्य है और मूला प्रकृति तत्त्व है। और सूक्ष्मतर विचार करें तो मूला प्रकृति तथ्य हैं एवं श्रीभगवान् की परा प्रकृति चरम तत्त्व है। तथ्य का बाहुल्य

तत्त्वमें सुविन्यस्त रहता है। विश्वकी समस्त वस्तुओंका साख्यदर्शनने पच्चीस तत्त्वों में पर्यवसान कर दिया है। किन्तु वेदान्त दर्शनने तो पूरे विश्वको यावद् वस्तुमात्र का एकही परम तत्त्वमें समाधानकर दिया है। इस प्रकार वस्तुतत्त्व का संधानतो मिला, अब घटनावली का तत्त्व क्या होता है यही आलोच्य है।

हमारा आलोच्य विषय है, श्रीभगवान् के अवतारो के दिव्य जन्म-कर्म के तत्त्वका अनुध्यान। श्रीरामचन्द्र दशरथ नन्दन हैं, यह परिचय तथ्य है। श्रीरामचन्द्र श्रीवैकुण्ठधामके अधीश्वर नारायण हैं, यह तत्त्व हुआ। रावण लङ्केश्वर है—तथ्य है। रावण वैकुण्ठका द्वारपाल जय है–यह तत्त्व हुआ। राम-रावणका युद्ध चल रहा है–यह तथ्य है। श्रीनारायण अपने स्वयंके प्रिय द्वारपाल को शत्रुका रूप धराकर उसके शापकी निवृति कर रहे हैं और साथ-ही-साथ अपनी युयुत्सा वृत्ति की तृप्ति भी कर रहे हैं यह तत्त्व हुआ। इस तत्त्वके जो ज्ञाता हैं, वही राम-रावण-युद्ध व्यापार के प्रकृत ज्ञाता है। जो अतत्त्वज्ञ होता है, उसका लीलामें प्रवेश असंभव है। वह तो लीलाका कदर्थ करके स्वयं भी आनन्दसे वञ्चित होता है, दूसरोंको भी विभ्रांत करता है।

आपने दूर से देखा, एक व्यक्तिके हाथमें एक तीक्ष्ण छुरी है, और वह व्यक्ति उस छुरिकाको एक अन्य व्यक्तिके उदर में प्रवेश करा रहा है। इस घटनाको देखकर आपने सोच लिया कि एक डकैत उस व्यक्तिको छुरी द्वारा वधकरने की चेष्टा कर रहा है। यह देखकर आप क्रोध से अभिभूत होगये और एक शस्त्र लेकर डकैतको मारने हेतु दौड़े आये। किन्तु वहां पहुंचकर देख पाते हैं कि एक डाक्टर रोगी के उदर का अस्त्रोपचार कर रहा हैं। वह व्यक्ति छुरा-धारी है–यह तथ्य है किन्तु वह डकैत है—यह अतत्त्व है। तत्त्व यह है कि वह तो डाक्टर है। वह व्यक्ति जीवनघातक है—यह अतत्त्व है। तत्त्व यह है कि वह तो जीवनरक्षक है। आप अतत्त्वज्ञ थे इसलिये क्रोधान्वित होकर उसपर आघात करने हेतु अग्रसर हुए थे। यदि आप तत्त्वज्ञ होते तो उत्साहपूर्वक उसकी सहायता करने हेतु दौड़े आते।

इसी प्रकार श्रीभगवान् जब लीला करने हेतु अवतार लेते हैं तो अतत्त्वज्ञ लोकजन उनकी अवज्ञा करते हैं। अतत्त्वज्ञ लोग मूढ होते हैं। इसीलिये श्रीभगवान्ने अर्जुनको कहा है—"अवजानन्ति मां मूडा मानुषीं तनुमाश्रितम्। गी. ९।११ श्रीकृष्णदास कविराज महाशय ने भी कहा—

"बुझिवे रसिकजन ना बुझिवे मूढ।" (चै. च.)

जिनका चित्त तमोगुणसे अभिभूत (व्याप्त) है, वे मूढ हैं। लीलाके अनुशीलन कार्य हेतु वे अनधिकारी हैं। जिनका हृदय सत्त्वगुणमय है एवं महत्कृपाबलसे समुज्ज्वल हैं, असलमें तो वेही प्रकृत लीलास्वादन के अधिकारी हैं। इसीलिये लीला-वर्णना हेतु प्रस्तुत पर्व दीर्घ होता है। श्रीशुकदेवजी पूरे नौ स्कंधोंमें न जाने कितने भक्तोंके चरित्रोंका गान करके फिर श्रीकृष्ण चरित्र का गान करने हेतु प्रस्तुत हुए हैं। दशम स्कंधके भी अठ्ठाइश अध्याय पर्यन्त प्रस्तुति-पर्व का ही अङ्ग माना जा सकता है। उनतीसवें अध्याय में जाकर उन्होंने रासलीला का वर्णन प्रारम्भ किया है।

इतने उच्चस्तरीय लीला तत्त्वों को आस्वदनका आनन्द महत्पुरुषों के पदाङ्कोंका अनुसरण किये बिना प्राप्त होना कतई सम्भव नही है। अतएव हमभी प्रारम्भमें ही परमपूज्य आचार्यवर्य श्री श्रीधर स्वामिपादका अनुसरण करने का प्रयास करेंगे।

रासलीला व्याख्या के प्रारम्भमें ही श्रीधर स्वामीपाद ने एक मधुर श्लोक द्वारा श्रीगोपीवल्लभ को प्रणाम किया है—

"ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकं दर्पदर्पहा। जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः॥"

रासमण्डलमण्डन अर्थात् रासमण्डल की शोभाकी बहुगुणा वर्धित करनेवाले श्रीपति श्रीकृष्णकी जय हो। वे कैसे हैं? इसके उत्तरमें वे एक दीर्घ समासयुक्त पदद्वारा विशेषित हुए है—'ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्प दर्पहा'। ब्रह्मादि देव गणोंको भी विपर्यस्त (परास्त) करके कामाधिष्ठातृ देवता कन्दर्प को जो दर्प हो गया था, उस दर्पका जिन्होंने नाश किया, एवम्भूत (इस प्रकारके) गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णकी जय हो। कामके अधिष्ठातृ देवता मदन हैं। उनकी उन्मादनाके सम्मुख देवराज इन्द्र, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, चन्द्र आदि सभी हार मान चुके हैं। 'आदि' पदसे शिव भी लक्ष्य हैं। कन्दर्प एक बार हरकोपानल द्वारा दग्धीभूत हो गया था। फिर भी उसका मानना यह है कि शिव उसे परास्त तो नहीं कर सके कारण दग्ध होकर अनङ्ग बन जानेके कारण उसकी शक्तितो नष्ट नहीं हुई वरंच वृद्धिप्राप्त ही हुई थी। मदनदेव गर्वसे कहते फिरते हैं—शंकर मेरा बालभी बांका नहीं कर सके। अरे, वह कामार्त नहीं हुए तो क्या हुआ, क्रोधार्त तो हो ही गये। अतः क्रोधके वशीभूत होने हेतु शिवका योगेश्वरत्व-गर्व खण्डित ही हुआ है। इसीलिये मदन त्रिलोकी में विजय गर्वसे गर्वान्वित होकर घूम रहा है। इधर मदनकी हेकड़ी कुछ अधिक बढ गई। उसकी मन–ही–मन गर्वपूर्वक इच्छा होती है कि एक बार श्रीहरिसे भी सामना हो तो उन्हे भी

देखलूं—पञ्चशरोंके आघातसे उन्हें भी परास्त कर सकता हूँ या नहीं। इसीलिये रासमण्डलमें गोपीपरिवृत श्रीगोविन्दने उसके सम्पूर्ण गर्व को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया।

मत्स्यादि अवतारोंमें श्रीभगवान् को मनुष्य जातिके साथ विशेष घनिष्ठता करने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। श्रीरामचन्द्र जब सीताके वियोग में रुदन कर रहे थे तब मदन को लगा कि शायद ये स्त्रीके वशीभूत हो गये हैं। स्त्री-वशीभूत व्यक्ति पर पञ्चशरों के आघातका तत्क्षण एवं सहजही असर होगा। द्वापरयुगके शेषभागमें गोलोकविहारी श्रीकृष्णके रूपमें नन्दराजके घर पधारे। बाल्यक्रीड़ाओंमें वात्सल्य एवं सख्यरस का आस्वादन करते-कराते कुछ वर्ष बिताये। बाल्यरस विलासके ऊपर मदनका आधिपत्य नहीं चला करता। अतः मदनदेव श्रीकृष्णकी किशोर अवस्था की अपेक्षामें रहे! जिस दिन कात्यायनी व्रत परायणा गोपकुमारियों के वस्त्र लेकर कदम्ब वृक्ष पर जा बिराजे, उस दिन भी नाना हास्य-परिहास्य करने के बाद उनके वस्त्र प्रत्यर्पण कर दिये। मदनदेवका कोई वश नहीं चला। तत्पश्चात् यज्ञपत्नियां पति-पुत्रों का त्याग करके अशोकवनमें श्रीकृष्णके सान्निध्यमें आगई एवं अपना जीवन एवं यौवन उन्हें समर्पण करने हेतु प्रवृत्त हुई। किन्तु श्रीकृष्णने उन्हें समझा बुझाकर पुनः अपने पतियोंके पास भेज दिया। अतः मदनदेव यहां भी अपने प्रभावकी परीक्षाका सुयोग नहीं पा सके।

वस्त्र-हरणके दिन श्रीकृष्णने गोपियोंको आश्वासन दिया था कि आगामी शरदपूर्णिमाके दिन तुम लोगों का मनोरथ पूर्ण होगा। आज वही शारदीय पूर्णिमाका दिन उपस्थित है, महारासके महामिलन का दिन। आज मदनदेवके साथ श्रीकृष्णका महासमर होगा। वस्तुतः रासलीला एक समर-विशेष ही। इस समरमें गोपजनवल्लभने कन्दर्पका सम्पूर्ण दर्प चूर्ण-विचूर्ण कर दिया था। वही रास विहारी जय युक्त हों। हम उन्हें प्रणाम करते हैं।

इस प्रणाम-मंत्रको लक्ष्य करके पूर्वपक्ष निम्न आपत्ति उपस्थित करता हैं—"ननु विपरीतमिदम् ? परदारविनोदेन कन्दर्पजेतृत्वप्रतीतेः।"

पूर्वपक्षके प्रतिवादी का कथन है—'आपने प्रणाम-मंत्र में जो कहा है वह पूर्णतः विपरीत बात होगई है। रात्रिके समय परवधूओंको घरसे बाहर बुलाकर नृत्य किया है—यही तो रासलीला है। इसके द्वारा तो पर दारविनोदन ही हुआ है अर्थात् पराई स्त्रियोंके साथ विनोद-व्यवहार ही हुआ है। इससे तो यही प्रतिपादित होता है कि श्रीकृष्ण कन्दर्प द्वारा सम्पूर्ण भावसे पराभूत हो गये। इससे तो कन्दर्प का ही जय-जयकार घोषित हुआ। 'श्रीकृष्णद्वारा मदनका गर्व चूर्ण हुआ'—यह प्रतीति किस आधार पर होती है ?

श्रीधरपाद इस पूर्वपक्षका उत्तर देकर फिर रास-वर्णना के कार्य में प्रवृत्त हुए हैं। हम भी ऐसा ही करेंगे।

पूर्वपक्षी अतत्त्वज्ञ हैं, वह तो किसीके उदरमें अस्त्र प्रवेश कराया जाता देखकर उसे डकैत समझकर दौड़े आये हैं। श्रीधर पाद प्रमाणित करेंगे कि ये डाकू नहीं है किन्तु डाक्टर हैं; अहितकारी नहीं हैं बल्कि परम मंगलविधायक हैं। श्रीधर पाद अतत्त्वज्ञके सम्मुख लीलाके तत्त्वको खोलकर रख देंगे, जिसके फलस्वरूप अंध और मूढधी व्यक्ति भी सत्त्वगुणमय होकर लीला आस्वादनकी योग्यता लाभ करेगा।

—:०:—

(२)

रासलीला की व्याख्या हेतु प्रवृत्त श्रीधरस्वामिपाद श्रीकृष्णको प्रणाम करके बोले हैं—"कन्दर्पहारी श्रीकृष्णकी जय हो।" इस उक्ति पर पूर्वपक्ष ने यह आपत्ति उठाई है कि रासलीलामें परदारविनोदन करके तो श्री कृष्ण पराभूत ही हुए हैं, कन्दर्पके ऊपर जय प्राप्ति कहां हुई ? इस आपत्ति पर श्रीधर स्वाणिपाद उत्तर दे रहें हैं—"मैवम्", "योगमायामुपाश्रितः", "आत्मारामोऽप्यरीरमत्", "साक्षात् मन्मथमन्मथः", "आत्मन्यवरुद्धसौरतः", इत्यादिषु स्वातन्त्र्याभिधानात्"। श्रीस्वामिपाद आपत्तिकारीको अधिकारपूर्वक कर रहे हैं—"मैवम्" अर्थात् मा एवं ब्रूहि—इस प्रकारकी बात दुबारा मुंह से उच्चारण मत्त करियेगा। एक बार मुंह से भ्रमवश निकल गई यहीं विराम दीजिये। आपने तो प्राकृत जीव के कार्यको और अप्राकृत भगवान् के कार्य को एक सा ही समझ लिया है। मर्त्यजीवके कार्य और अमृतमय श्रीहरिके कार्यको एक-सा ही मान लिया है। क्या आप नहीं जानते कि भूमिस्थित जीवमात्र का जन्म और कर्म भौम होता है ? किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण नित्य-लोक से इस अनित्य भूमि पर अवतरण करने पर भी उनके जन्म और कर्म भौम नहीं हो जाते, किन्तु सर्वतो भाव से दिव्य ही रहते हैं (जन्म कर्म च मे दिव्यम्-गीता)। पार्थिव एवं अपार्थिव कार्यको एक प्रकारका ही न समझें। भौम और दिव्य कर्म बाह्यिक

सादृश्यमें अनुरूप (एक-से) होने पर भी तात्त्विक दृष्टिसे भी उन्हें एक-सा न समझें, किन्तु उनके तात्त्विक पार्थक्य का विशेषरूप से अनुसंधान करें। आपका प्रश्न हो सकता है कि भौम और दिव्य कर्मों का तात्त्विक पार्थक्य किस प्रकार जानें। श्री स्वामिपादसे इसका उत्तर श्रवण करें।

आपको चार-पांच वैशिष्ट्य की बात बतावेंगे जिससे आप सहज ही समझ सकेंगे कि प्राकृत व्यापार एवं अप्राकृत व्यापार में भेद कहाँ है। मेरे द्वारा वर्णित विशेषत्व की बातें दिव्य लीलाके प्रति बंद आपकी तत्त्वदृष्टि खोल देगी एवं दिव्य अप्राकृत लीलाका जो असाधारण स्वातन्त्र्य होता है उसका 'अभिधान' यानि विवरणकी जानकारी आपको हो जावेगी। "स्वातन्त्र्याभिधानात्"—में श्रीस्वामिपादने चार स्वतन्त्रता के नाम गिनाये हैं एवं 'इत्यादिषु' कहकर एक और स्वतन्त्रता की तरफ भी इंगित (इशारा) किया है। वह है—"स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः"। अब इन विशेषताओंके सम्बन्धमें क्रमवार आलोचना करेंगे। (१) "योगमायामुपाश्रितः (भा० १०।२९।१) योगमाया पराख्याचिन्त्यशक्तिः तां उपसामीप्येन आश्रितः (सनातन)। योगमाया है पराख्या अचिन्त्य शक्तिः। हम प्रथमतः माया को पहचाननेके बाद योगमायाको पहचानने का प्रयास करेंगे। आवरण-विक्षेपात्मिका शक्ति का नाम है माया। मायाके दो कार्य होते हैं—सत्य को ढकना (आवरण करना) और मिथ्याको सत्यरूपसे प्रदर्शित करना। जो है उसको तो देखने नहीं देना और जिसका अस्तित्व ही नहीं है उसे दिखा देना—ये हैं मायाके कार्य। पथमें एक रज्जु पड़ा है—अंधेरे ने उसको ढंक दिया और वह दिखाई नहीं पड़ा। किन्तु पथ पर कोई सर्प नहीं था, उस रज्जुमें सर्प दिखाई पड़ गया। यह सारा भ्रम हेतु हुआ—यही माया का कार्य है, यह बताना कठिन है, किन्तु उसके स्वभावके सम्बन्धमें कुछ अन्दाज लगाया जा सकता है।

श्रुति वाक्य है—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।" इस जगत्‌में सब कुछ ब्रह्ममय है, ब्रह्म-भिन्न कोई वस्तु नहीं है। यह परम सत्य है। किन्तु माया इस परम सत्य को देखने नहीं देती। श्रुति कहती हैं "नेह नानास्ति किञ्चन"। ब्रह्म भिन्न नानात्व या बहुत्व बोलकर कोई चीज नहीं है। ब्रह्मनिरपेक्ष बहुत्व मिथ्या है। किन्तु माया इस मिथ्याको दिखाती है। हम ब्रह्म नहीं देख पाते किन्तु ब्रह्म व्यतीत घट, पट आदि नाना वस्तुएँ देखते हैं। हम जो गुणमय जीव हैं, वे सभी मायाके अधीन हैं। माया द्वारा अंधे बनकर हम परम सत्य को नहीं पहचान पाते एवं फलस्वरूप दुःख भोग करते हैं। सारा जीव-जगत् इस मायाके अधीन है। माया दुरत्यया है अर्थात् इसका अतिक्रमण करना दुष्कर है।

किसी प्रकार मायाको थोड़ा-सा पहचाना, अब योगमायाको पहचानना होगा। माया आवरण करती है; योगमाया भी आवरण करती है। इस सादृश्य हेतु ही दोनोंका नाम माया है। किन्तु माया जीवको ढँकती है, भगवान् को नहीं ढँक सकती। जिस शक्ति द्वारा स्वयंको आवृत करके श्रीभगवान् पृथिवी पर मनुष्य के जैसी लीलाएँ करते हैं, उसका नाम ही योगमाया है। यह एक आश्चर्यकी ही बात है। क्यों और किस प्रकारसे योगमाया भगवान्‌को ढँकती है, अब जरा उस पर विचार करें।

श्रीभगवान् निज-माधुर्यका आस्वादन करने हेतु ही नरलीला करते हैं। यह नर-लीला उनकी मधुर लीला है। "सर्वोत्तम नरलीला; किन्तु यदि उनकी भगवत्ता सर्वदा प्रकाशित रहे तो श्रीभगवान्‌के लिये नर लीला करना सम्भव नहीं होता। श्रीभगवान् हैं सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान्। सब समय यदि उनकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्रकाशित रहे तो फिर उनके लिये नर-लीला असम्भव हो जाती है। गोष्ठमें सखाओं के साथ लुका-छिपी का खेल चल रहा है। सखा छिप गये हैं, श्रीभगवान् उन्हें खोज रहे हैं। किन्तु सर्वज्ञ होने पर भी श्रीकृष्णको पता नहीं है कि भाई लोग कहाँ छिपे हैं। जानकारी रहने पर तो अविलम्ब पकड़ा जा सकता है किन्तु उस हालतमें अनजान द्वारा खोजनेका जो एक बालसुलभ आनन्द मिलता है उससे वञ्चित रह जायेंगे। श्रीदामभाई कहां छिपा है यह जाने बिना नाना जगह उसका अनुसंधान करने में खेल का एक मजा है, आनन्द है। किन्तु कहां है यह जानने वाला तो तत्क्षण उस स्थान पर जाकर उसे पकड़कर निकाल लायेगा; उसमें फिर आनन्द कैसे मिलेगा ? खेल भी पूरा जमेगा कैसे ? इसीलिये सर्वज्ञको अज्ञवत् होकर रहना पड़ता है। इन सर्वज्ञको जो शक्ति अज्ञवत् बनाती है, इन सर्वशक्तिमान् को जो शक्तिहीन-सा बना देती है, वही शक्ति योगमाया है। योगमाया सर्वाश्रयको निराश्रय-जैसा बना सकती है, जगन्नाथको अनाथ शिशु भी बना सकती है। बंधनहर्ता को बंधन ग्रस्त भी बना सकती है। श्रीभगवान् लीला करते वक्त, इस योगमाया शक्तिके अधीन होकर रहते हैं।

योगमाया शक्तिकी अधीनता स्वीकार करनेसे श्रीभगवान्‌के सार्वभौमत्वकी हानि नहीं होतीं क्या ? नहीं, ऐसा नहीं होता, कारण यह शक्ति उनकीही निजशक्ति है। गीताकी भाषामें यह माया उनकी 'आत्ममाया' है (सम्भवाम्यात्ममायया—गी० ४।६)। निजशक्तिकी अधीनता स्वीकार करने हेतु उनका स्वराटत्वक्षुण्ण नहीं होता। राजा यदि अपने भृत्यको आदेश देता है कि उसे नित्य प्रातः चार बजे जगा दिया जावे, और भृत्य उस आदेशानुसार नित्य राजाको जगानेके लिये आवाज

लगाते ही राजा तुरंत उठ पड़ता है, तो इससे राजा भृत्यके अधीन नहीं हो जाता, अथवा इस अधीनतावश उसकी राजशक्ति क्षुण्ण नहीं होती। कारण भृत्य तो उसीका आदेश-पालनकर्ता भृत्य ही है, उसीकी आज्ञाके अधीन रहता है। आज्ञाधीनकी अधीनतामें तो माधुर्य होता है, किन्तु उससे ऐश्वर्य-हानि नहीं होती। आत्ममाया का अर्थ ही होता है—स्वकीया आज्ञाधीना शक्ति।

यह योगमाया शक्ति ही पराख्य अचिन्त्यशक्ति है। पराशक्तिका अर्थ होता है स्वाभाविकी शक्ति, जैसे कि अग्निकी दाहिका शक्ति। अग्नि जो दग्ध करती है, यह उसकी स्वभावगत शक्ति है। किन्तु अग्निका वर्ण जो कभी नीला, लाल, पीला आदि दिखाई पड़ता है, वह उसकी स्वाभाविक शक्ति हेतु नहीं है, किन्तु दाह्यवस्तु की विशिष्टताके कारण है, अतः आगन्तुक है। अचिन्त्यशक्तिका अर्थ होता है अघटन-घटन-सामर्थ्यविशिष्टा शक्ति। अघटन किसे कहें? श्रीकृष्ण-इच्छासे तो सभी घटन हैं। किन्तु जिसके विषयमें श्रीकृष्णने भी इच्छा नहीं की, न उसके विषयमें जानते भी हैं, वही प्रकृतरूपसे अघटन है।

ऊपर कहा गया है कि योगमाया श्रीकृष्णकी आज्ञाकारिणी हैं। आज्ञा-वहा (आज्ञाकारिणी) होने पर भी प्रत्येक बातमें वह श्रीकृष्णकी आज्ञा लेकर ही कार्य करती हों, ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकारसे भी श्रीकृष्णकी लीला सौष्ठवयुक्त हों, माधुर्यपूर्ण हों, इसी उद्देश्यको ध्यानमें रखकर योगमाया उनका आदेश लिये बिना ही कार्य करती हैं। कभी कभी तो लीलाके समय ऐसा भी होता है कि श्रीकृष्ण स्वयंको ही मालुम नहीं रहता कि इसके बाद योगमाया कौन सा अभिनय करायेंगी। उस वक्त तो श्रीकृष्ण मानों योगमायाके हाथके क्रीड़नक (खिलौने) मात्र है, उस समय श्रीकृष्णके आदेश अथवा इच्छा व्यतीत भी जो कुछ घटता है, वही अघटन है। योगमाया जब इस प्रकारके अघटन घटाती हैं तब परम माधुर्यकी सृष्टि होती है। ऐसे अघटन कार्योंके सम्बंधमें ही कहा गया है—

"योगमाया करिवेन आपन प्रभावे।"

योगमाया जब अपने प्रभावसे कार्य करती हैं तब श्रीकृष्ण अथवा उनके संगी-साथी कोई भी नहीं जानते कि अगले क्षण क्या घटना घटेगी।

"आमिह ना जानि ना जाने गोपीगण। दोंहार रूपगुणे नित्य दोंहार हरे मन॥"

श्रीभगवान् सब समय योगमायाके आश्रयमें लीला करते हैं। किन्तु जिस लीलामें कोई विशेष अघटन घटता है, उस लीलामें वे केवल आश्रित नहीं होकर उपाश्रित हो जाते हैं। उप-आधिक्येन आश्रितः। उस समय वे योगमाया का अधिक बल्कि अत्यन्त प्रचुरभावसे अवलम्बन करते हैं। वे अपनेको सर्वतोभावसे योगमायाके हाथोंमें सौंप देते हैं। जैसा योगमाया कराती है, वे वैसा ही करते हैं।

लीला हेतु अवतरण करने से पूर्व ही श्रीकृष्णने योगमाया को आदेश दिया था—'गच्छ देवि व्रजं भद्रे" (भा०१०।२।७) देवि, आप व्रजमें पधारें। इसीलिये योगमाया व्रजकी अधिष्ठात्री देवी रूपसे समस्त लीलाओं की सुव्यवस्था करती हैं। आज रासलीला होगी। इस लीलामें श्रीकृष्ण स्वयंको सर्वतोभावसे योगमाया देवीके हाथोंमें छोड़ देंगे, इसीलिये यहां 'उपाश्रितः' पदका प्रयोग किया गया है। इससे यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि इस लीलामें जो कुछ भी घटेगा सब अघटन ही है।

श्रीभगवान् ने अर्जुनको गीतामें कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ ७।२५

मैं योगमाया द्वारा ढका रहता हूँ, इसलिये सबके निकट प्रकाशित नहीं होता अर्थात् सब प्राणी मेरा असली स्वरूप नहीं देख पाते। मैं जो अज एवं अव्यय हूँ, यह बात मूढ़लोक नहीं समझ पाते।

श्रीधर स्वामिपाद पूर्व पक्ष को कह रहे है कि, आप मूढ हैं इसलिये योगमाया-समावृत श्रीभगवान् को पहिचान नहीं पाते हैं। अतएव मायावृत जीवके कार्य को एवं योगमाया-उपाश्रित श्रीभगवान् के कार्यको एक ही दृष्टिसे देख रहे हैं। कारागार के कैदी एवं कारागारके अधोक्षकको जब एक ही कारागारमें देखते हैं तो उभय व्यक्तिको एक ही पर्यायभुक्त मान लेते हैं। मर्त्य वासी जीवको एव अमृतलोकसे मर्त्यलोकमें अवतीर्ण ईश्वरको एकसा मानकर जैसी इच्छा होती है वैसा ही मन्तव्य कर बैठते हैं। इसीलिये कह रहा हूँ, "मैवम्"। अब फिर ऐसा भूलकर भी न बोलियेगा। ऐसी गलत बात बोलने से निरस्त होइये।

श्रीधरस्वामिपाद पूर्वपक्षका उत्तर दे रहे हैं। उनका मुख्य वक्तव्य यह है कि अप्राकृत दिव्य लीला को साधारण प्राकृत घटना न समझें। प्राकृत और अप्राकृतके पार्थक्य-ज्ञापक कुछ लक्षण आपको बता रहे हैं। 'योगमायामुपाश्रितः"—इस एक विशेष लक्षणके विषयमें तो ऊपर चर्चा कर ही चुके हैं। एक और लक्षण देखिये-"आत्मारामोऽप्यरीरमत्"। भा.१०।२९।४२ अर्थात् आत्माराम होकर भी विहार किया था।

'आत्माराम' का तात्पर्य समझना आवश्यक है। 'आत्माराम' का विपरीतार्थक शब्द है 'इन्द्रियाराम'। 'इन्द्रियाराम' शब्द गीतामें प्रयुक्त हुआ है। "अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति"—(गी ३।१६)। साधारण जीव इन्द्रियाराम अर्थात् भोग-सर्वस्व होते हैं। इन्द्रियाराम व्यक्ति पापी होता है और उसका जीवन व्यर्थ है। उनको इन्द्रिय-ग्राह्य शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि बाह्य वस्तुओं से ही सुख मिलता है। यदि बाह्य विषयोंके साथ सम्बन्ध नहीं हो तो इन अपूर्ण जीवों को सुखका अनुभव नहीं होता। आत्मारामके सम्बन्धमें किन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। "आत्मनि रमते इति आत्मारामः"। वे आत्मामें ही रमण करते है। देह एवं इन्द्रियोंके अतिरिक्त 'आत्मिक सत्ता" नामकी एक अलग ही वस्तु है। आत्माराम व्यक्ति समस्त सुख आत्मिक सत्ताके माध्यमसे ही आस्वादित करते हैं, सुख प्राप्ति हेतु पार्थिव विषयों की अपेक्षा उन्हें नहीं रहती।

आत्माराम सर्वदा ही स्वरूपानन्द से भरपूर रहते हैं। श्रुतिवाक्य है—"आनन्दं ब्रह्मेति व्यजनात्; श्रीभगवान् स्वयं आनन्दस्वरूप हैं। आनन्द-आस्वादन करने हेतु उन्हें किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। इससे यह स्पष्ट हो गया कि इन्द्रियाराम जीव अपूर्ण है और आत्माराम भगवान् सर्वदा पूर्ण हैं। पूर्ण और अपूर्णके कार्यों की परस्पर तुलना करना उचित नहीं है, कारण हम अपूर्ण जीव तो यावद् कर्म करते हैं अपूर्णताके चाप (दबाब) से अर्थात् अभावके वशीभूत होकर। किन्तु पूर्ण पुरुष कार्य करते हैं पूर्णता की प्रेरणावश। इन दोनों के कर्मों में बाह्यिक सादृश्य थोड़ा-बहुत रह सकता है किन्तु केवल इसी कारणसे उन्हें एक-सा मान लेना महान भ्रान्ति होगी। यह प्रश्न भी उठ सकता है कि पूर्णता की प्रेरणा कैसे हो सकती है। छोटे बच्चे दिन भर दौड़-धूप करते हैं, हल्ला-गुल्ला भी करते रहते हैं और नाचा-नाची भी खूब करते हैं। मना करने पर भी बात सुनते नहीं। किन्तु आप और हम तो इतना दौडना-चिल्लाना-नाचना नहीं कर सकते। जानते हैं, इसका कारण क्या है ? इन सबका हेतु यही है कि बच्चे की जीवनी-शक्ति प्रति दिन वर्धित हो रही है और वह भी इतने अधिक परिमाणमें कि उनके दैनन्दिन कार्यमें उसका पूरा व्यय नहीं हो पाता। बहुत-सारी शक्ति जमा रहती है। उस जमा शक्तिके आतिशय्य हेतु ही बच्चे इतनी दौड़-धूप करते हैं। जमा शक्तिकी अभिव्यक्ति ही आनन्द में होती है। आपके पास शक्तिकी बचत नहीं रहती, अतएव आप बालकों की तरह नाच-कूद नहीं कर सकते। छोटा गौ-वत्स खूब दौड़-कूद करता है किन्तु बूढ़ा बैल वैसा नहीं कर सकता। बकरी का छोटा बच्चा खूब कूदता-फादता है, किन्तु वयस्क बकरी ऐसा नहीं कर सकती। इन सबका एक ही हेतु है—बचत-जमा शक्ति।

हम लोग काम करते है, अभाव की ताड़ना हेतु। श्रीभगवान् कार्य क्यों करते है ? उनको तो किसी वस्तुका अभाव नहीं है। वे कार्य करते हैं अपनी असीम बचत-जमा शक्ति की प्रेरणासे। शक्ति का आतिशय्य उन्हें नचाता है, क्रीड़ा कराता है, लीला कराता है। श्रीभगवान् की शक्ति के विषयमें श्रुति कहती हैं—

"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"।

उनकी एकपाद शक्तिद्वारा यह अनन्त विश्व चल रहा है। एक पाद अर्थात् चौथाई भाग। गीतामें भी कहा है—"एकांशेन स्थितो जगत्" (१०।४२)। मेरे एकांश द्वारा यह सारा विश्व धारण किया हुआ है। तो बाकी तीन पाद शक्ति द्वारा वे क्या करते हैं ? वह शक्ति विराजमान रहती है उनके अमृत लोक में, जिसके द्वारा वे आनन्दमय क्रीड़ा करते हैं, लीला करते हैं, रासमें नृत्य करते हैं। असीम, अक्षय शक्तिके आतिशय्य हेतु, उसके उच्छ्वास हेतु, उनकी लीला होती है। अत एव अमृतमय श्रीभगवान् की लीला और मर्त्य-इन्द्रियाराम जीव की भोग तृष्णा-निवारण हेतु किये गये क्लेशकर कार्यों की तुलना कैसे की जा सकती है ?

श्रीधरस्वामिपाद पूर्वपक्ष से कह रहे हैं-आप भूल कर रहे हैं। एक अभावग्रस्त कंगाल व्यक्ति भिक्षा हेतु निकला है और उधर शाक्यसिंह बुद्धदेव भी भिक्षापात्र लेकर भिक्षा मांग रहे हैं—इन दोनों को आपने एक-सा ही मान लिया। कंगाल व्यक्तितो अभावकी ताड़ना से भिखारी बना है किन्तु बुद्धदेव ज्ञान एवं करुणा की परिपूर्णता हेतु भिखारी बने हैं। इन दोनों में तो असीम पार्थक्य है। एक इन्द्रियाराम जीवके भोगमय कार्य और एक आत्मारामके विहार कार्य को आप समपर्यायी समझकर अपनी मूढता का प्रदर्शन मात्र कर रहे हैं।

पूर्व में कहा जा चुका है कि आत्मारामका कार्य पूर्णता की प्रेरणा हेतु हुआ करता है। इसके अतिरिक्त इसका एक अन्य हेतु अथवा परिपोषक कारण भी है। मेघ का कार्य है जलवर्षण करना, किन्तु पवन इसको सहायक होता है। प्रबल पवन वेग से वृष्टि झड़ या तूफान में भी परिवर्त्तित हो जाती है। श्रीभगवान् परिपूर्णता की शक्तिके आतिशय्यके वेग हेतु कार्यकरते हैं किन्तु उन्हें एक और गुण उद्वेलित करता है, जिसका नाम है प्रेमाधीनता।

श्रीमद्भागवत में एक विख्यात श्लोक है—

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ भा १।७।१०॥

जिनकी अविद्या ग्रन्थि कट चुकी है, जो सब प्रकारके विधि-निषेधके अतीत हैं, इस प्रकारके आत्माराम मुनिगण भी श्रीभगवान् की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं, ऐसा करनेमें उनका कोई प्रयोजन नहीं रहा करता। यदि कोई इस कारण की खाजमें प्रवृत्त हो जाँय कि वे लोग श्रीगोविन्दके चरणोमें भक्ति क्यो करते हैं तो वे कोई कारण था उद्देश्य खोजनमें निष्फल ही होते हैं और तब निरुपाय होकर यही स्वीकर करना पड़ता है कि "इत्थम्भूतगुणो हरिः" ही इसका कारण है। सर्व चित्तहारी श्रीहरिमें ही कोई ऐसा गुण-विशेष है, कि आत्माराम मुनिजन भी श्रीचरणों का भजन किये बिना रह नहीं सकते।

उसी प्रकार प्रेमातुर भक्तका भी इस प्रकारका भाव रहता है कि, श्रीभगवान् आत्माराम होते हुए भी अनके साथ क्रीडा करने को बाध्य होते हैं। श्रीभगवान् ने महर्षि दुर्वासा को कहा था—

"अहं भक्तपराधीनो ह्य स्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रहतहृदयो भक्तै र्भक्तजनप्रियः" ॥

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। भा० ९।४।६३-६४। दुर्वासाजी, मैं तो भक्तके पराधीन हूँ, मेरी अपनी कोई स्वतत्रता नहीं है। चूकि मैं भक्तों का अत्यंत प्रिय हूँ, अतः सज्जन भक्तोंने तो मेरे हृदय पर हीं कब्जा कर लिया है। अपने भक्तोंका त्यागकर तो मैं अपनी आत्मा को भी नहीं चाहता। इससे स्पष्ट है कि भक्त भगवान् को स्वयंकी आत्मा की अपेक्षा भी प्रेमाधीमता उनके लिये अधिक आनन्दप्रद है प्रेमातुर भक्तके प्रेमकी अनिर्वचनीय विषेशता हेतु, श्रीभगवान् ने आत्माराम होकर भा क्रीडा की है व्रजदेवियोंका प्रेम तो इतना अधिक गभीर है कि आत्मारामगणाकर्षी भगवान ने भा आकृष्ट होकर उनके साथ नाना प्रकारकी क्रीडायें की है।

जीव कार्य करता है अपूर्णताकी ताड़ना से, इन्द्रियोंकी अधीनता के वश होकर। श्रीभगवान् कर्मातीत होकर भीं पूर्णता के आतिशय्यवश प्रेम विवश भक्तकी अधीनता से उद्वेलित होकार कार्य करते हैं। जीव रोता है अपने दुःख से जब कि अद्वैत ब्रह्म रोता है जीवके दुःख से। इन दोनों प्रकारके रुदन को एक-सा मानकर अपनी मूढताका परिचय न दें।

पूर्वपक्षने श्रीकृष्णकी लीला में दोष दृष्टि हेतु जो आपत्ति उठाई है. उसके उत्तरमें श्रीधरस्वामिपाद ने श्रीकृष्णकी स्वतन्त्रता की तरफ ध्यान आकर्षित किया है। जीवके साथ श्रीभगवान का पार्थक्य कितना विशाल है प्रदर्शित कर रहे हैं। प्रथम वैशिष्ट्य "योगमागामुपाश्रितः" पदके द्वारा और द्वितीय वैशिष्ट्य "आत्मारामोऽप्यरीरमत्" पद के द्वारा प्रकटित किया है। अब तृतीय विशेषत्व प्रकटित करके श्रीकृष्ण की स्वतन्त्रता का अभिधान कर रहे हैं।

"आत्मन्यवरुद्धसौरतः" (भा० १०।३३।२६) पदका अर्थ होता है—"मिलनजनित सुखको आत्मामें ही अवरुद्ध करके क्रीडा सम्पादन की थी"। सुरत का अर्थ है "सुन्दर मिलन का आनन्द"। उसका जो भाव, अभिव्यक्ति अथवा प्रकाश होता है वही सौरत है। यह वस्तु अर्थात् रासमें गोपी-गोविन्दके मिलन-जनित जिस आनन्दकी सृष्टि हुई, वह भगवान् श्रीकृष्ण की आत्मामें ही पर्याप्त था।

हम जीव हैं; हमारा सुख इन्द्रियों तक ही सीमित है, श्रीकृष्णका सुख आत्मामें अवरुद्ध है। जीव इन्द्रियाराम होता है जबकि श्रीकृष्ण केवल आत्मा राम ही नहीं, आत्मारामोंके भो शिरोमणि है। 'आनन्द' वस्तु किस चीज का नाम है, यह नहीं जानने हेतु हम इन्द्रिय सुख को ही आनन्द मान बैठते हैं। इन्द्रिय के साथ किसी वस्तुके संयोगसे जो सामयिक संवेदन होता है, वह यदि अनुकूल हुआ तो उसको 'सुख' कह देते हैं और 'प्रतिकूल हुआ, तो उसे 'दुःख' की संज्ञा दे देते हैं। ये दोनों ही 'आगमापायी' हैं अर्थात् आते जाते हैं, घटते बढ़ते हैं किन्तु सर्वदा एक-जैसे नहीं रहते। आत्मारामका आनन्द ही प्रकृत आनन्द है। आनन्द कोई विनाशशील वस्तु नहीं है, न ही वह इन्द्रिय-जन्य है। आत्मा और परमात्माके मिलनसे ही आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। श्रीकृष्ण तो आनन्दकी मूर्त्ति हैं; उनके सभी आनन्द आत्मगत अर्थात् आत्मामें ही निबद्ध हाते हैं।

कोई कोई शायद सोच सकते हैं कि, "देह इन्द्रिय आदि तो श्रीकृष्णके भी हैं; अतः उनका आनन्द आत्मगत है, देहेन्द्रियसे कोई लेना-देना नहीं है", तो यह बात विश्वास करने को मन नहीं मानता। इसका उत्तर यह है कि श्रीकृष्ण की देह ही आत्मा है। हमारे देह और आत्मा दो अलग वस्तु हैं—देह जड़ है और आत्मा चेतन है; किन्तु श्रीकृष्णके ऐसा नहीं है। श्राकृष्णकी देह और आत्मा एक ही वस्तु है, दो नहीं है। "देह देही नाम नामी कृष्णे नाहि भेद।" "देह-देहिभिदा चात्र नेश्वरे विद्यते क्वचित्।" ईश्वरके कोई-देह-देही भेद नहीं होता। हम चक्षु द्वारा देखते हैं, कर्ण द्वारा सुनते हैं; कारण चक्षु तेज-तन्मात्रका विकार है और कण शब्द-तन्मात्र क विकार है। चक्षु तेज-तरंग को ही ग्रहण कर सकता और कर्ण शब्द-तरंग का ही ग्रहण कर सकता है। किन्तु श्रीकृष्णके प्रत्येक इन्द्रियमें समस्त इन्द्रियोंकी वृत्ति है।

"इन्द्रियेषु सकलेन्द्रियवृत्तिरस्ति'।

श्रीकृष्णकी सभी इन्द्रियोंमें सभी इन्द्रियोंकी वृत्तियां मौजूद हैं। वे चक्षु द्वारा भी सुन सकते हैं; कर्ण द्वारा भी देख सकते हैं। किन्तु यह बात सहसा बुद्धिको ग्राह्य होती नहीं। एक उदाहरण द्वारा समझिये—दुग्धको घनीभूत करनेसे क्षीर (मावा) बनती है। उस मावे से यदि एक पुत्तलिका निर्माण करें तो उस पत्तलिकाके हाथ, पैर इत्यादि सभी अंग मावा—के ही होंगे; तद्रूप श्रीकृष्णके अंग-प्रत्यंग सभी घनीभूत सच्चिदानंदस्वरूप हैं। क्षीरमय पुतलिका को किसी भी अंगका आस्वादन करेंगे, सबमें क्षीरका स्वाद ही आयेगा। इसी प्रकार श्रीकृष्ण—देहके सर्वत्र चिदानन्द का आस्वाद मिलेगा। इसलिये जड़-देहधारी जीवके साथ चिदानन्दविग्रह श्रीकृष्णकी तुलना करना योग्य नहीं है।

तीन वैशिष्ट्योंकी बात हो गई, अब चतुर्थ वैशिष्ट्यकी बातकी आलोचना करेंगे—"साक्षात् मन्मथमन्मथः" (भा० १०।३२।२) "मन्मथ-मन्मथ" पद का अर्थ है 'मदन देवके मनको भी मोहन करने वाला' अर्थात् 'मदनमोहन'। रासलीलामें मदनको मोहित करने हेतु ही श्रीकृष्ण मदनमोहन कहलाये। यदि रासलीला नहीं होती तो यह तत्त्व अनजाना ही रह जाता। दो योद्धा यदि समरमें आमने-सामने भिड़ते हैं, तभी पता चलता है, कौन कितना वीर है। हाथीको लोहेकी मोटी सांकल से बांधने पर भी यदि वह उसे तोड़ डालता है, तभी उसको शक्तिका पता चलता है। रासलीलाको मदन-समर कहा गया है। श्रीधर स्वामिपादने भी कहा है मदन का दर्प चूर्ण करेंगे। शत्रुको दो प्रकार से परास्त किया जा सकता है। एक तरीका तो यह है कि उस पर आघात करके उसे दुर्बल बना देना। दूसरा तरीका है कि शत्रुके निरन्तर आघातोंको अवलीला-क्रमसे सहन करके उसके आघातों को मान्यता ही प्रदान नहीं करना ताकि वह हैरान हो जाये। दूसरे प्रकारका युद्ध तभी सम्भव हो सकता है जब कि युद्धरत दोनों योद्धाओंकी शक्तिकी मात्रामें अत्यधिक विषमता हो। मदनको क्रोधानलसे दग्ध करके शिव मदन—दहन कहलाये और मदनको मुग्धकर देने हेतु श्यामसुन्दर मदनमोहन हो गये।

युद्ध के लिये रथ की आवश्यकता होती है। मदन-समरमें भी श्रीकृष्ण को रथ चाहिये। वंशी बजाकर पुकार लगाई—वंशीमें मूर्च्छना देकर स्वर भरे—"कौन बनेगा मेरा रथ ?" कोई नहीं आया, कारण मदन-समरमें रथ बनानेका किसीका साहस नहीं हुआ। कारण स्पष्ट है, युद्धमें तो रथके ऊपर भी शत्रुका आघात होगा ही। मदनके तीक्ष्ण आक्रमण से सभी भयभीत हैं। इसीलिये कोई नहीं आ रहा। श्रीकृष्णने दुबारा पुकारा—

तब व्रजबालाएँ आईं, बोली—"प्रभु, हमारे मनोरथ पर आरोहण करके मदनसे समर कीजिये। गोपियां तिलमात्र भी भीत नहीं हैं, कारण कामदेवके आघातसे तो वे ही भयभीत होते हैं जिनके हृदयमें बिन्दुमात्र भी इन्द्रिय-सुख की कामना होती है। जिसमें भोगलालसा वर्तमान होती हैं, वे ही मदनके बाणाघातसे भीत एवं त्रस्त रहते हैं। पक्षान्तरमें जिनके हृदयमें कृष्ण-सुख-कामना व्यतीत अन्य कोई कामना नहीं रहती, वे तो मदनके प्रहारको तृणवत् तुच्छ ज्ञान करते हैं। रासलीलामें श्यामसुन्दरने गोपीके मनोरथ पर आरूढ होकर मन्मथके मनको मथित कर डाला। इस बातका श्रीमन्महाप्रभु सनातन गोस्वामिपादकी मधुर भाषामें आनन्द लीजिये—

चढि गोपी-मनोरथ, मन्मथेर मन मथे, नाम धरे मदनमोहन।
जिनि पञ्चशर दर्प, स्वयं नवकन्दर्प, रास करे लैया गोपीगण॥

रासलीलामें मानो श्यामसुन्दरने मदनको कहा—"तुम अपनी पूरी शक्तिसे पञ्चशर निक्षेप करो" तब मदन अपने पुष्प धनुसे नानाविध पुष्पवाणों की झड़ी लगा दी। बाण निक्षेप करते-करते जब तूणीर खाली हो गया तब जाकर बाण-निक्षेप बद हुआ। वैष्णव पदकर्ता जगदानन्द ठाकुर ने गाया है—

"केलिकिला पलायन कुसुमेषु भूपतन राधाश्याम सम्मेलन जलदे दामिनिया।"

रणभूमिमें पराजित कामदेव लज्जावश रासलीला-स्थलसे पलायन कर गये, किन्तु सखियोंने उन्हें पकड़ लिया। बाध्य होकर शेषमें अपराधहेतु भूमिपर नाक रगड़ी और प्रतिज्ञाकी—"रासलीलामें अब कभी प्रवेश नहीं करूंगा।" रासलीलाकी इस कथाका जो श्रद्धासहित श्रवण या वर्णन करते हैं, उनका हृद्रोग काम अविलम्ब दूर हो जाता है (श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः" भा० १०।३३।४०)। उसके पश्चात् रागात्मिका प्रेमभक्तिका उदय होता है। आज मदन श्रीकृष्णका आज्ञाकारी अनुगत भृत्य बन गया। जो आज तक भजनका बाधक था, वह साधक बन गया। जो मनको श्रीकृष्णसे विपरीत दिशामें आकर्षित करता था, वही आज चित्तको श्रीकृष्णकी दिशामें लौटाने हेतु बाध्य हुआ है। काम आज कृष्णमुखी बन गया है। रासलीलामें मदन समरमें पराजित होने हेतु उसका दर्प इतना खर्व हो गया है कि वह आज भोगमुखीको कृष्णमुखी होनेमें सहायता करता है। रासलीलाके अन्तमें श्रीशुकदेवजीने ऐसी ही फलश्रुति बताई है।

उपरोक्त कुछ वैशिष्ट्योंके विषयमें आलोचना करने के बाद श्रीधरस्वामिपादने 'इत्यादिषु' पद द्वारा एक अन्य अभिनव विशिष्टताकी तरफ दृष्टिपात किया है—"यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः" (भा० १०।३३।१७) श्रीकृष्णने जिनके साथ रासक्रीडाकी उनका परिचय क्या है ? वे तो श्रीकृष्णकी ही प्रतिबिम्बस्वरूप हैं। श्रीकृष्णकी चिच्छक्तिके दर्पणमें ह्लादिनी शक्ति प्रतिबिम्बित होने पर ही श्रीराधा प्रकट होती हैं।

हमारे प्रतिबिम्बकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है—न कभी थी। किन्तु चिन्मय-विग्रह श्रीकृष्णका प्रतिबिम्ब भी चिन्मय है—चिरसत्य है। प्रतिबिम्बके साथ भी कोई खेलता है क्या ? हां, शिशु (अर्भकः) खेलता है। दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देखकर शिशु उसके साथ खेलता है, हंसता है, बातें करता है और मुँह भी बिचकाता है। उसी प्रकार श्रीकृष्णने भी निज प्रतिबिम्बके साथ क्रीडाएँ कीं। एक श्रीराधा ही कायव्यूह विस्तार करके बहुरूप हुई हैं। बहुरूप होकर श्रीराधा श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं।

जीव जब क्रीडा करता है यानि किसी वस्तुको इन्द्रिय द्वारा भोग करता है तब भोक्ता और भोग्य—ये दो अलग अलग वस्तुएँ होती हैं। किन्तु श्रीकृष्णने रासलीलामें जो क्रीडा की उस क्रीडाके पात्र (रसके आश्रय) गोपीगण श्रीकृष्णसे भिन्न नहीं थे। वे सभी श्रीगोविन्दके प्रतिबिम्ब-स्वरूप थे। जीव अन्य वस्तु भोग करता है तब भोगी कहलाता है। श्रीकृष्ण प्रतिबिम्बके माध्यमसे निजको ही स्वयं आस्वादन करते हैं, अतः वे स्वतन्त्र हैं, अन्य किसीके साथ उनकी तुलना नहीं की जा सकती। जीवका सुख अस्थायी होता है, किन्तु श्रीभगवान्का आनन्द अपरिसीम, अनन्त और नित्य होता है। अतएव जीवमें और श्रीभगवान्में किसी कार्यका आपात सादृश्य देखकर कभी भी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये।

इस दृष्टान्तसे स्पष्ट हो गया कि गोपीजन श्रीकृष्णसे सम्पूर्ण अभिन्न हैं, उनकी आत्मा-स्वरूप हैं। अतएव रासलीला श्रीकृष्णकी आत्मक्रीडा है। जो आत्मक्रीडा करता है वह आत्माराम होता है, अतः श्रीकृष्ण आत्माराम हैं। अरे, श्रीकृष्णके भक्त भी आत्माराम हैं, अतः वे तो आत्माराम-शिरोमणि हैं। इस प्रकार श्रीधरस्वामिपादने श्रीकृष्णकी स्वतन्त्रता प्रमाणित करके यह बात प्रस्थापित की कि रासलीला तो आद्योपान्त न्याय की कहानी है।

गीतामें त्यागका मंत्र है—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"—अर्थात् सब कुछ त्यागकर एक मेरी ही शरण ग्रहण करो। यह मंत्र पूर्णरूपसे साकार तो केवल रासलीलामें ही हुआ है। गोपीजनोंकी तरह सर्वप्रकार-धर्मोंका त्याग करके श्रीकृष्ण-पादपद्मोंमें अपने आपको सम्पूर्णरूपसे समर्पण अन्य कोई भी नहीं कर पाया। सुतरां रासलीलाका लक्ष्य है—परम निवृत्तिका संवाद देना—"निवृत्तिपरेयं पञ्चाध्यायी।

"यदि ऐसा मान भी लें कि यह कथा तो निवृत्तिपरक है, फिर भी भाषा एवं भाव तो प्रवृत्तिपरक ही हैं"—ऐसी आपत्ति भी उपस्थित हो सकती है। बात सही भी है। श्रृङ्गार-रसके छलसे ही परम निवृत्तिकी लीला कही गई है। गापी-गोविन्दके भोगलीलाके आवरणमें परम आत्मसमर्पणकी लीला व्यक्त हुई हैं। ऐसा क्यों किया ? शास्त्रकारने ऐसा इसलिये किया ताकि भोगाकृष्ट व्यक्तिभी श्रीभगवान्की दिशामें आकृष्ट हो सकें। त्यागी व्यक्ति तो त्यागकी बातें सुन लेता है किन्तु भोगी व्यक्ति तो भोगकी कथा ही सुनना पसन्द करते हैं। भोगी व्यक्ति त्यागकी बात सुनना ही पसंद नहीं करते। इसीलिये आज रासलीलामें भोगीको भी भोगकी कथाके व्यपदेशसे परम त्यागकी बात सुनायी गई है,—

"श्रृङ्गाररसाकृष्ट-चेतसो बहिर्मुखानपि स्वपरान् कर्त्तुमितिभावः"।

भगवान् "रन्तुं मनश्चक्रे"—भगवान्ने क्रीड़ा करनेकी इच्छा की। भगवान्को भी (अपि) इच्छा होती है। एकके बाद एक—कई एक इच्छाओंका संवाद हमें प्राप्त हो चुका है। जब अकेले थे "एकमेवाद्वितीयम्" तब सृजन करनेकी इच्छा जागी। सृजनेच्छाको कहते हैं सिसृक्षा। इस सिसृक्षावशतः एकसे बहुत हो गये। एकसे ही अनन्त वैचित्र्यमय सृष्टिव्यक्त हुई—आजभी हो रही है, सिसृक्षा चल रही है। फिर हुई युद्ध करनेकी इच्छा जिसको युयुत्सा कहते हैं। इस युयुत्साकी सम्यक् तृप्तिहेतु निज वैकुण्ठके प्रिय द्वारपालद्वय—जय-विजयको शत्रु सजाया। एक बार नहीं—बार-बार तीन बार। एकबार हिरण्यकशिपु-हिरण्याक्षः द्वितीयबार रावण-कुम्भकर्ण और तृतीयबार दन्तवक्र-शिशुपाल। इसके लिये स्वयं सजे नृसिंह, राम और वासुदेव श्रीकृष्ण। कितने सारे युद्ध हुए, जिनकी कहानियोंसे रामायण, महाभारत, पुराणादि भरे पड़े हैं।

श्रीभगवान्को आज जागी है रमण करने की इच्छा—'रिरंसा'। सिसृक्षा एवं युयुत्सा हेतु सृष्टिलीला और युद्ध-लीलाका सूत्रपात हुआ। आज रिरंसा हेतु पृथिवीपर उतर आवेगी रासलीला। रासलीला आनन्दरसका खेल है—प्रेमरसका उद्वेलित उच्छ्वास। आनन्दघन पुरुषोत्तमका स्वमाधुर्य आस्वादनहेतु यह एक, अभिनव विचित्र विलास है।

श्रीभगवान् पूर्ण पुरुष पुरुषोत्तम हैं, उनको किसी प्रकारकी अपूर्ण इच्छा हो नहीं सकती। फिर भी (अपि) उन्हें क्रीडा हेतु इच्छा होती है—आनन्द आस्वादन हेतु। जीवके चित्तमें अभावकी ताड़ना हेतु वासनाका उदय होता है, ताकि

दुःख मिट जाय। श्रीभगवान्‌के हृदयमें वासनाका उदय होता है पूर्णताकी उन्मादना हेतु। प्रेमाधीन भगवान् की एक स्वभावगत महिमा है—अपने प्रेमपागल भक्तोंकी आकुल इच्छाको पूर्ण करना। यह इच्छाभी रासलीलाका अन्य हेतु है।

गोपीजन दीर्घ कालावधि इस दिनकी अपेक्षा में व्याकुल हैं। वस्त्र हरण के समय आश्वासन दिया था—आगामी शारद पूर्णिमा की रजनी में तुम्हारे साथ सम्मिलित होऊंगा-"याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः" (भा १०।२२।२७) उसके बाद कितनी रातें बीत गईं। हेमन्तकालमें वस्त्रहरण हुआ था, पूरे वर्षकाल का चक्र घूमकर शरत्‌काल आ पहुँचा है। इतनी राते कितनी उत्कण्ठा, कितने उद्वेग से किसी प्रकार बीती हैं। अब तो बढ़ते-बढ़ते उत्कण्ठा अपने चरम पर पहुंच गई है। भक्तका कार्य पूर्ण हो गया, इसीलिये आज श्री भगवान् की इच्छा जागी है। भक्तका आग्रह और श्रीभगवान् का अनुग्रह—ये दोनों आज सम्मिलित हुए। आज निश्चय ही मिलनानन्द पूर्ण होगा। गोपी-गोविन्दके मिलनानन्द का चरम विकाश ही रास है।

'रस' शब्दके बीचमें एक 'आकार लगानेसे 'रास' बनता है। 'रस' शब्द तो लोगोंने सुना है, किन्तु उसका आकार आजतक किसीने देखा नहीं था। आज वही देखेंगे। श्रुतिने कहा है—'ब्रह्म रस स्वरूप है (रसो वै सः)। किन्तु उस रस स्वरूपकी मूर्त्ति आजतक किसीको दृष्टिगोचार नहीं हुई। आज रासमें वह मूर्त्ति प्रकटित होगी।

'सन्देश मीठा है' कहना एक कहना-मात्र हुआ। रसनाके साथ सन्देश का मिलन होनेसे ही वह 'कहना-मात्र' मूर्त्ति-धारण करता है। उसी प्रकार आज 'रस' शब्द आकारित होकर गोपी-गोविन्द के महामिलनमें प्रकटित होगा। प्रकटित 'रस' का नाम हो जायेगा 'रास'। रस आस्वादन करने से ही प्रकटित होता है अर्थात् आस्वाद्यमान रस ही रास है। रसनाके साथ गाढ आलिंगनसे एकता-प्राप्त सन्देश ही मधुर लगता है। आलिंगन से पूर्व 'मधुरता' एक शब्द-मात्र था।

श्रीकृष्ण रासलीला करेंगे "योगमायामुपाश्रितः" होकर। ऐसे तो वे लीला हेतु अवतार लेने के समय से ही 'योग-माया' के हाथों में ही हैं। अवतरण से पूर्व ही उन्होंने योगमाया देवी को "गच्छ देवि व्रजं भद्र" कहकर व्रजमें भेज दिया था। गीतामें भी कहा है कि जब मैं पृथ्वीपर अवतार लेता हूँ तो आत्ममाया का अवलम्बन लेकर ही यहां लीला करता हूँ—(सम्भ-वाम्यात्ममायया)। आत्म माया ही योगमाया हैं। उन्हें साथ ही लेकर आते हैं और उनसे चालित होकर ही लीला करते हैं।

आज रासलीला के अवसर पर वही जानी-मानी बात फिर विशेष रूपसे कही गई है। सर्वदा तो 'योगमाया-आश्रित' ही रहते हैं आज विशेषरूपसे 'योगमायाम् उपाश्रित' हुए हैं। उसका अर्थ है 'आधिक्येन'। अन्य लीलाओंमें योगमाया के अधीन होते हुए भी कुछ अपनी स्वाधीनता भी अपने हाथोंमें रखते हैं; किन्तु आज वह भी नहीं रखेंगे। आज श्रीकृष्णने निज स्वाधीन इच्छाको भी पूर्णरूपसे योगमायाके हाथोंमें समर्पित कर दिया है। यहां तक कि स्वयंको भी योगमायाके हाथों में सौंप दिया है। क्या घटना होगी, योगमाया किस घटना क्रमकी समायोजना करेंगी, यह योगमाया ही जानती है, कृष्ण भी नहीं जानते, गोपीजन भी नहीं जानते। "आमि ह ना जानि ना जाने गोपीजन"। 'योगमाया-आश्रय' का गोस्वामिपादोंने अन्य प्रकार तात्पर्यका भी आस्वादन किया है। 'माया' शब्द का एक अर्थ होता है 'कृपा'—'माया दम्भे कृपायाञ्च'। जितनी मात्रामें कृपा-शक्ति का उदय होने से भक्तोंके साथ, जीवोंके साथ श्रीभगवान्‌का योग होना सम्भव हो पाता है, आज लीलामें उतनी कृपा-शक्तिका आश्रय ग्रहण करेंगे। आज तो कृपाका ऐसा प्लावन आवेगा कि सब रसकी बाढ़में डूब जायेंगे॥ १॥

(२)

बाह्य आवेष्टनी (वातावरण) ही हृदयके भावको पुष्टि प्रदान करती है। देश-काल अनुकूल हो, तभी भाव उज्ज्वल होकर प्रकाशमान भास्वर होता है। आज श्रीकृष्णके हृदयमें रिरंसा प्रकट हुई है। योगमाया ने रङ्ग मंच पर आकर आवेष्टनीको तदनुकूल बनाया। गगनमें चूर्ण चन्द्रका उदय हुआ। उसकी किरण-छटासे दशों दिशायें उद्भासित हो उठीं। पूर्व दिग्वधू का मुखमण्डल रक्तिम हो उठा। वनराजि मानो हर्षसे उत्फुल्ल हो उठी। पवन कुसुम-गंध का संग्रह करके मतवाला हो गया। यह संवाद मिलते ही भ्रमर-वृन्द द्रुतगति से दौड़े आये और उनके मधुर गुञ्जनसे आकाश मुखरित हो उठा। पदकर्ता गोविन्ददासजी अपने ध्याननेत्रोंसे यह अद्भुत शोभा निहार रहे हैं—

शारद चन्द पवन मंद विपिने भरल कुसुम गंध,
फुल्ल मल्लिका मालति जूथी मत्त मधुकर भोरणी।

नन्दनन्दनके हृदय की अभिलाषा जितनी सुन्दर थी, व्रजवन की शोभा-सम्पद भी उतनी ही मधुर, मनोहर, और मुग्धकारिणी थी। शारद-चन्द्र की विच्छुरित स्निग्ध चांदनी ने रसराजके चित्तमें उद्दीपना जाग्रत की। उद्दीपन-आलम्बन न हो तो रस-कदम्ब परिपुष्ट नहीं होता। चन्द्रमा तारकाराजि द्वारा वेष्टित होकर शोभायमान हो रहा था। रसराज को भी

गोपीजन द्वारा वेष्टित होकर रास रचाने की इच्छा हुई। श्रीगोविन्द की पूर्वरावती विरहिणी व्रजाङ्गनाओं का मुखचन्द्र अनुरागसे रञ्जित करने की इच्छा हुई। चन्द्रमा दिनगतके कर्म—क्लांत नरनारियों की देह का ताप शांत करते हैं। रसिकशेखर की रासलीला का माधुर्य ही त्रिताप-सन्तप्त जीवोंके हृदय की भीतरी-बाहिरी तापज्वालाको शांत करेगा। ऐसी मधुरलीला करेंगे कि जिसे श्रवण करने मात्र से जीव श्रीकृष्ण परायण हो जाय। लीला मधुरभी होगी, श्रवणमङ्गल भी होगी।

पूर्णचन्द्रके दर्शनसे सागर-जलमें ज्वार आता है। आज रसमयके रस-समुद्रमें ज्वार आया है। गोष्ठक्रीड़ासे क्लांत होकर श्रीकृष्ण संध्या-समागमके समय घर लौटे है। जननी यशोदाने नीराजन किया एवं मधुर गाढ क्षीर खिलाकर कुसुमसे भी कोमल शय्यापर गोविन्दको सुला दिया। उनके श्रीमुख-पङ्कज पर उन्मुक्त वातायनसे प्रवेश करके चन्द्र-ज्योत्स्नाने मुखपङ्कज उद्भासित किया। पद्मनेत्र उन्मीलित होगये। अब शय्या पर स्थिर होकर सो पाना सम्भव नहीं था। मुरलीमनोहर हाथमें मुरली लेकर नन्दराजभवनके चन्द्रशालिका पर चढकर जा खड़े हुए।

चारों दिशाओंमें कैसी अपूर्व शोभा हो रही! पूर्णचन्द्र आकाशमें अखण्डमण्डल शोभायमान है मानो रसमयी श्रीराधाका मुखचन्द्र हो। मिलनरस-लालसासे मानो रक्त जवाकुसुम हो। चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्स्ना मानो वनराजि को करकमल हिला-हिलाकर आमंत्रण दे रही है, कह रही है—"रासोत्सव का यही तो उपयुक्त समय है"। ज्योत्स्नोद्भासित नभमण्डल, सुगन्धमय पवन, पुष्पशोभित वनराजि, भ्रमरोंका मधुर गुञ्जन, कोकिलका कूजन, लतापल्लवों की शिहरण—देश-काल की समस्त समायोजना ही मानो रसमयी हो। अब तो केवल पात्रों की आवश्यकता है। अब तो उनका आह्वान होगा जो इस उद्वेलित रसका आस्वादन करेंगे।

जादूगर का नाम है कृष्ण। इस नाम की सार्थकता ही आकर्षण करने की शक्ति होने हेतु है। उनके श्रीकरमें आकर्षण करने वाला यंत्र 'बंशी' सर्वदा शोभित रहती है। इस बंशी पर वे जो मंत्र बजाया करते है, उसमंत्रका नाम है 'काम बीज'। अब श्रीगिरिधारी वेणु हाथमें लेकर वंशीतट पर आये। श्रीकृष्ण वंशीवट का सहारालेकर त्रिभङ्ग-भङ्गी से दण्डायमान होगये; और श्रीमुख की फुत्कारसे विश्वविमोहिनी मुरली बज उठी—"जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥" (१०।२९।३)

गोपी जनोंमें दो प्रकार की नायिकाएँ हैं—दक्षिणा और वामा। दक्षिणा नायिकागण सर्वदा श्रीकृष्णके प्रति अनुकूल रहती हैं, जबकि वामा नायिकागण सर्वदा वाम्यवती ही रहती। वे श्रीकृष्णके वाम दिशामें रहती हुई भी वाम-नयना रहती हैं अर्थात् वामदिशामें दृष्टि फेरकर रहती हैं, श्रीकृष्ण की तरफ नहीं ताकती। दक्षिणा नायिकाओं की तरह इन वाम दृशाओं से अभिसार कराना अत्यत कठिन कार्य है। इसीलिये आज श्रीकृष्णने वंशी पर ऐसी मूर्च्छना निनादित की है, जिससे वामदृशा-गण भी अभिसार करने को बाध्य होजावे।

व्रजके ठाकुर का (व्रजनन्दन का) श्रेष्ठ परिचय उनकी वंशी ही कराती है। उनका सर्वश्रेष्ठ परिचय इस पदसे होता है—"गोपवेश वेणुकर"। इस जगतमें भागवत शास्त्रका सर्वश्रेष्ठ दान है कि "वे वंशीद्वारा बुलाते है"। प्राचीन शास्त्रोंमें जीवको शिक्षा दी गई—"तुमलोग भगवान् को पुकारो"। किन्तु श्रीमद्भागवत का कथन है—"अरे, तुमलोग फिर कहां पुकारना जानते हो ? देखो, कान लगाकर सुनो, वे बुला रहे हैं।" प्राचीन ऋषियों ने कहा है, 'भगवान हैं'। श्रीमद्भागवत कहती है—"वे हैं, यह बात तो है ही, इससे अधिक बात यह है कि वे बुलाते हैं।" इस जगतमें श्रीमद्भागवत द्वारा प्रदत्त श्रेष्ठ वार्ता यही है।

कितने भिन्न-भिन्न छन्दोंसे बुलाते हैं नन्दलाल। उनकी जब जैसी मरजी, और जब जैसा श्रोता मिल जावे। किसी किसी दिन बंशीपर छेड़ते हैं सम्मोहिनी रागिनी। तब हरेक प्राणी ज्ञान-शून्य-सा होकर स्तब्ध होकर सुनने लगता है। गौ-वत्स स्तन्यपान त्यागकर ऊर्ध्वमुख हुआ वंशीवादन सुनता है और गाय भी सुनती है। गायके मुखसे चबाया हुआ घास भी नीचे गिर पड़ता है। वत्सके मुंहमें भराहुआ दुग्ध भी खुले जबड़ोंसे बहकर नीचे गिरने लगता है। गाय और वत्स दोनों चित्र-खिंचे से स्थिर होकर मुंह वाये खड़े रहते हैं।

फिर किसी दिन बंशी पर आनन्दिनी रागिनीके स्वर लहराने लगते हैं। वंशीनाद सुनकर यमुनाका जल घुर्णिपाक खाकर चक्कर काटने लगता है। प्रवाह बन्द होजाने हेतु नदीका जलस्तर बढ जाता है और फिर उन्मुक्त भावसे दौड़ता हुआ आकर श्यामसुन्दर के चरण पखारने लगता है। इसमें आनन्द-उन्मादनाकी मात्रा कितनी अधिक है, यह तो देखने पर ही पता चल सकता है। आनन्दिनी वंशी-ध्वनिसे स्थावर के तन पर भी शिहरण होने लगती है। देवासुरोंका द्वन्द्वभी उस वक्त रुक जाता है।

"वृषभ ऊपरे महेश नाचिछे पार्वती करे सङ्गे।"

किन्तु आज वंशीपर आकर्षणी रागिनी बज रही है। इसका कार्य है बलात्कारपूर्वक अपनी तरफ आकर्षित करना।

"वंशी वड़ उद्धत, पतिव्रतार भाङ्गे व्रत, पति-कोल है ते टानि आने।"

आकर्षणी स्वरलहरी जिसके कर्णकुहरोंमें प्रवेश कर गई, वह तो दौड़ा आवेगा ही। 'योगी योग भूले मुनिर ध्यान टले। धाय कानने कामिनी त्यजि कुले।' आज इसीका वर्णन करेंगे।

वंशी बजी तो क्या हुआ? सब सुन नहीं पाते हैं, जिनके कर्ण वधिर हैं, वे नहीं सुनते। किसीके कान अज्ञता हेतु वधिर हैं, तो किसी के कान अतिविज्ञता हेतु भी वधिर हैं। कोई आलस्यवश होकर जड़ता हेतु वधिर है तो कोई अतिशय कोलाहलमें व्यस्त होने हेतु वधिर है। कोई स्वर्गकामना हेतु वधिर है, तो कोई मोक्ष-कामना हेतु वधिर है। जिनके मनमें बिन्दुमात्र भी आत्मसुखेच्छा अवशिष्ट है, वे मुरली की यह तान सुननेके अयोग्य हैं। आजतो श्रीकृष्णने विशेष रूपसे ही मुरली पर इस प्रकार की तान छेड़ी है कि जिनका हृदय प्रबल अनुराग से पूर्ण न हो, उनके अतिरिक्त अन्य किसी को यह तान श्रुतिगाचर ही नहीं होगी। उत्तम कलापूर्ण वाद्य सुनने के लिये कानोंको भी वैसा ही अभ्यास कराकर तैयार करना पड़ता है। जो व्रजाङ्गनाएँ फिर कब दर्शन होंगे?" कहकर रोते-कलपते व्याकुल होकर प्रतिमुहूर्त वंशीनाद सुनने हेतु उत्कर्ण हुई रहती हैं, उन व्रजाङ्गनाओंने आजका वंशीनाद सुना॥ २-३॥

(३)

वंशीधरकी वंशी वंशीवट पर बजने लगी। व्रजवधुओंने सुनी। श्रवण-मात्र वे द्रुतगति से दौड़ पड़ीं। श्रवण और प्रधावन—इन दोनों क्रियाओं के मध्यमें सोचविचार करनेका अवकाश (समय) ही नहीं था। सोचता है मन, जा पहलेसे ही अपहृत हो चुका है। अत एव "चित्त भावनाहीन" है। केवल विचारविहीन प्रधावन अवशेष रहा है। उनके प्रधावनका वेग अत्यन्त प्रचण्ड था। यह वेगकी तीव्रता कहाँ से प्राप्त हुई? उत्तर है,—हृदय की उस तीव्र लालसासे जो दीर्घकालावधि अन्तरमें छिपी पड़ी थी शुष्क काष्ठमें अग्नि वर्तमान तो पहले से ही थी; अब वंशी ध्वनि के पवनका सहारा पाकर वह तीव्ररूपसे धू धू करके प्रज्ज्वलित हो उठी।

वंशीकी ध्वनिसे गोपीके अन्तरकी कृष्ण-कामना शत-गुण वर्धित हो गई। श्रीशुकदेवजीने 'अनङ्गवर्द्धनं" विशेषण द्वारा यही बात व्यक्त की है। 'अनङ्ग' शब्दका अर्थ होता है, काम; गोपाङ्गनाओंके कामका अर्थ ही श्रीकृष्णमें अनुराग एवं प्रेम होता है। यह प्रेम उद्वेलित हो उठा और इसी वर्धिति कामनाके वेग हेतु गोपियां दौड़ पड़ीं। गोपीजनोके हृदयमें श्रीकृष्ण-कामना संगुप्त पड़ी हुई थी। उनको धैर्य, लज्जा, गम्भीर्य आदि—सभी उनकी जानेके पथ में बाधा स्वरूप थे। जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि समस्त दाह्यवस्तुओं को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार व्रजाङ्गनाओं के अन्तरके अनङ्ग ने वर्धिति होकर उनके धैर्य-लज्जा-आदि समस्त बाधाओं को जलाकर भस्मी भूत कर दी।

शत-शत, सहस्र-सहस्र गोपियोंके यूथों ने यूथ-बद्ध होकर अभिसार-यात्रा की, किन्तु किसी ने परस्परको पथमें देखा नहीं। "कहे काहुक पथ ना हेरि"। परस्पर वार्तालापकी की बात तो दूर, किसीने किसीको पहचाना तक नहीं। अन्य भी कोई सामने उसी दिशामें दौड़ी जा रही हैं, यह किसी को दीखायी नहीं दिया।

कोई भी इन्द्रियां अपने राजा मन के साथ संयोग न रहने पर अपना कार्य नहीं कर पातीं। गोपियों का वह मन रूपी रत्न ही श्रीकृष्ण द्वारा गृहीत हो चुका है, अर्थात् मनको श्रीकृष्णने ग्रहण कर लिया है। यदि मन कृष्णको अर्पित किया हुआ होता तो शायद वापिस लौटाया भी जा सकता था। किन्तु श्रीकृष्ण द्वारा वह अर्पित मन गृहीत होकर अपना धन मान लिये जाने हेतु, पुनः लौटा लानेकी कोई सम्भावनाही नहीं बची। इसीलिये मन-हीन गोपियों की कोई इन्द्रिय अपना कार्य सम्पादन नहीं कर सकी। इसीलिये पथमें किसीने अन्य किसी को देखा भी नहीं"। व्रजस्त्रियः आजग्मुः"—व्रजगोपीजन आ रही हैं। आना एवं जाना वस्तुतः एक-सा ही व्यापार है। वक्ताके अभिमुख चलने को आना' कहते हैं जब कि वक्ताकी विपरीत दिशामें चलनेको 'जाना' कहते हैं। वक्ता श्रीशुकदेव हरिद्वारमें ब्रह्मकुण्डतीर पर बैठे हैं। वृन्दावन में गोपियां वृन्दावनके वंशीवट की दिशा में जा रही हैं; अतः श्रीशुकदेवजी को कहना तो चाहिये था—"वे जा रही हैं"। किन्तु ऐसा नहीं कह कर श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं—"यह देखिये महाराज! गोपियां आ रही हैं।" इससे ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीशुकदेवजी वाह्य-देह से तो हरिद्वार में बैठे हैं, किन्तु अपनी अन्तश्चिन्तित सिद्धदेह हो वंशीधरके चरणकमलोंमें ही वंशोवट पर बैठे हैं। हमलोग भी यदि अपने अन्तर्मनसे वहीं उपस्थित हो सकें तभी रासलीलाके माधुर्य का आस्वादन कर पावेंगे।

गोपीजन श्रीकृष्णाभिमुख धावमान हैं—"स यत्र कान्तः"। इस श्लोकमें वेदोंका सावित्री मंत्र पूर्णाङ्गरूपसे रूपायित हुआ है! ब्रह्मगायत्रीका ही दूसरा नाम सावित्री है। यह सावित्रीमंत्र वेदों के श्रेष्ठ मंत्रोंमें से है। श्रीमद्भागवत का गायत्री मंत्र के भाष्य स्वरूप भी निरूपण किया गया है।

गायत्री-मंत्र में दो मुख्य पद हैं—"धीमहि" और "प्रचोदयात्"। हम सब विश्व स्रष्टा की वरणीय ज्योतिका ध्यान करते हैं। क्यों करते हैं? कारण उसके साथ हमारा गाढ सम्बन्ध जो है। वे हमारी बुद्धिके प्रचोदक हैं। जो समस्त विश्वके मूलमें हैं, वे ही हमारे जीवन के मूल में भी हैं। गायत्री मंत्र का यही विशेष वक्तव्य और विषय है।

वे हमारी बुद्धिके चालक हैं—यह बात हम अनुमान ही करते हैं, हम शास्त्रवाक्यमें विश्वास करते हैं किन्तु प्रत्यक्ष कभी देखा नहीं। हाँ एक दिन कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्रमें यह बात प्रत्यक्ष भी देखी थी। पुरुषोत्तमने अति सुन्दर नैतिक उपदेश देकर कर्त्तव्य विमूढ अर्जुनकी बुद्धिको स्वीय कर्त्तव्यपालन हेतु प्रेरित करके परिचालना की थी। बुद्धि प्रचोदन कार्य तब जाकर पूर्ण हुआ जब अर्जुनने कहा—"करिष्ये वचनं तव"। गायत्री-मंत्र गीता के माध्यम से प्रत्यक्ष हुआ।

आज फिर गायत्रीका मूर्त्तरूप देख रहे हैं। श्रीकृष्ण गोपीजनों की बुद्धि को प्रेरित कर रहे हैं। गीतामें बुद्धि की कर्त्तव्याभिमुख परिचालना की थी; आज रासरजनीमें बुद्धि की परिचालना कर रहे हैं—"कर्त्तव्य का भी उल्लंघन कराकर निजाभिमुख"। गीतामें उपदेशको प्रेरणाका उपाय बनाया था; आज प्रेमपूर्वक वंशीनाद का प्रेरणाका उपाय बनाया है। गीतामें नीतिका आवेदन था; आज व्रजमें प्रीतिका आकर्षण है। गीतामें कर्तव्यको श्रेष्ठ सिद्ध किया था, आज व्रजमें कृष्णप्रेमको कर्तव्यसे भी उच्चतर कक्षा का सिद्धकर रहे हैं। अतएव गीतामें गायत्रीमंत्र की जो मूर्त्ति प्रकट हुई, आज व्रजमें प्रकट हुई गायत्री-मूर्त्ति उसकी अपेक्षा उज्ज्वलतर है। गीता का रूपायन बुद्धि-ग्राह्य हैं; व्रजका रूपायन प्रेमिक हृदयद्वारा अनुभूति-गम्य है। गीता का लक्ष्य ध्रुवा-नीति है जबकि भागवत का लक्ष्य पराप्रीति है वैसे तो प्रीतिनीतिलङ्घनकारी होती है किन्तु भागवत-प्रतिपादित प्रीति दुर्नीति नहीं है, बल्कि परमा एवं शाश्वत नीति है। श्यामकी वंशी की पुकार पर गोपीजन कृष्णाभिमुख गतिशील हैं यही शास्त्रोंमें सावित्री-मंत्रका परमोज्ज्वल विग्रह है। इसीमें समस्त शास्त्रोपदेशों की सार्थकता एवं नीतिकी पराकाष्ठा पतिपादित हुई है। वेदोंके श्रेष्ठ मंत्र गायत्री का किञ्चित् दर्शन कराया गया, अब गीताके श्रेष्ठमंत्र "सर्वधर्मान परित्यज्य" वाणीका रूप दिखाने का प्रयास करेंगे।

गोपीजन व्रजराज नन्दनाभिमुख अभिसार कर रही हैं। इस पथ पर वे समस्त धर्म-कर्म, विधि-निषेध को जलाञ्जलि देकर, "सर्वधर्मान् परित्यज्य" मंत्रको प्रत्यक्ष करती हुई अग्रसर को रही हैं। गोप-गांवकी वधुओंके लिये संध्या-कालमें कुछ अवश्य-करणीय कर्म होते हैं जैसे—गो-दोहन, वन से लौटे हुए गोपालकों हेतु खाद्यसामग्रीका प्रस्तुति करण, प्रस्तुत खाद्यवस्तुओंका परिवेशन, शिशुओंका प्रतिपालन एवं रक्षण इत्यादि। आज ये सारे गृहधर्म अर्ध-समाप्त ही रह गये। जो गोपी जिस गृहकार्यमें भी लगी हुई थी, उस कार्य को उसी असमाप्त अवस्थामें वैसा-ही छोड़ कर चल पड़ी। व्रजवधुओंके कितने ही देह-धर्म भी होते हैं जैसे कि-स्नान, अङ्गमार्जन, प्रसाधन अदि। कोई गोपी यदि इन स्वकीय दैहिक कार्यो में भी व्यस्त थी, तो भी वह कार्य वैसा का वैसा असमाप्त ही पड़ा रह गया। केवल पड़ा ही नहीं रहा बल्कि सब कुछ उलट-पलट भी होगया। हाथके कंगन पैरोंमें पहन लिये और पैरोंके नुपुर हाथों में धारण कर लिये। आंख का काजल चरणोंमें लगा लिया और चरणोंका आलता आंखोंमें रंग लिया। नाक की नथ कानमें पहन ली और कानोंके कुण्डल नाकमें डाल दिये। श्री श्री प्रभु जगद्बंधु सुन्दर ने इस अत्यंत सुंदररूपसे पसमें संजोया है—

"आपना पासरे राधा, ना मानिछे कारो बाधा, अन्यमने साजे सीमन्तिनी।
चरणे स्वर्णेर बाला, कटिते मुकुतामाला, गले राई बांधिल क्रिङ्किणी॥
नूपुर परिल हाथे, बङ्कमल दिल ताते, शिरोपरे मकर कुण्डल।
श्रवणे वेसर परे, कज्जल चारु अधरे, चक्षे बहे भाव अश्रुजल॥

कितनी भाव-तन्मयता होनेसे इस प्रकार का विपर्यय सम्भवपर है, यह मानवीय बुद्धिकी कल्पनाके अतीत है। पदकर्ता गोविन्ददास ने गाया है—"बिछुरि गेह निजक देह"। इस प्रकार मुरलीके आह्वान पर गेहधर्म और देहधर्म—दोनों ही विस्मृत होगये। गेह गया तो भले ही जावे, किन्तु नारीके सर्वश्रेष्ठ धर्म पातिव्रत्य की क्या दशा हुई यह भी देख लें। "शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिन" (भा. १०।२९।६)—अर्थात् कोई कोई गोपी पतिसेवाके कार्यमें रत थीं। वे भी पतिसेवा-कार्य को उसी अधूरी अवस्थामें त्यागकरके जगत्स्वामी गोविन्द की दिशामें चल पड़ीं। उनके कुलाचार, धैर्य; लज्जा, गाम्भीर्य प्रभृति सारे सद्गुण एक झपाटेमें डूब गये। "सर्वधर्म त्यागकर एक मेरी ही शरण ग्रहण करो"—गीताकी इस महावाणी का इतना उज्ज्वल रूपायन अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

किन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि व्रजाङ्गनाएँ असती हैं। अधिकन्तु वे तो परम पतिपरायणा हैं। कविराज गोस्वामीने कहा है कि गोपियों के सतीत्व की तो स्वयं लक्ष्मी, अरुन्धती आदिभी कामना करती हैं—"याँसार सतीत्व वाञ्छे

लक्ष्मी अरुन्धती"। ऐसी सतीशिरोमणि नारीयां भी पति का त्याग करके चली गयी, यह कोई साधारण घटना नहीं है। क्या इससे पापाचरण नहीं हुआ ? उत्तर है—पाप तो नहीं ही हुआ, अपरन्तु सतीत्व और अधिक उज्ज्वल हो उठा। लौकिक दृष्टि से भी सोचिये कि जैसे किसी पतिव्रता नारीका स्वामी दीर्घकालावधि प्रवासमें है। उस अवस्थामें पतिकी प्रतिकृति ही उस सती का सर्वस्व है। एकदिन जब वह सती उस प्रतिकृति की अर्चनामें रत थी, तभी उसे संवाद मिला कि प्रवासी स्वामी लौट आये हैं और द्वार पर खड़े हैं। अब उस प्रतिव्रता का क्या कर्तव्य होगा ? जो उसका वास्तविक कर्तव्य है, वही तो गोपीजनों ने भी किया। प्रतिकृति-स्वामी की सेवा का त्याग करके प्रकृत स्वामी की तरफ द्रुतगतिसे चल पड़ी। कौन क्या करेगा, इसकी कोई चिन्ता-फिकर नहीं है। इतना सोचने-विचारने—का अवकाश ही कहां था। यह धर्मत्याग विचार पूर्वक नहीं है; प्रेमकी आकर्षणी शक्तिद्वारा सब कुछ होगया। "माम् एकम्"—अर्थात एकमात्र प्राणप्यारा ही लक्ष्यमें बसा हुआ है। त्याग करके दौड़ते वक्त पीछे क्या-क्या पथमें पड़ा रह गया, इसका हिसाब-किताब कौन करे ?

गीताका महामंत्र प्राणवान् हो गया। इतने दिन तक ऐसा नहीं हुआ था, इसीलिये महाभारत एवं तदन्तर्गत गीता लिखकर भी महामति वेद-व्यासजीके चित्तमें अशान्ति थी। चूंकि मंत्र सप्राण होकर रूपायित नहीं हो पाया था, इसीलिये अशान्ति थी। कारुण्यमूर्त्ति देवर्षि नारदने यह कारण उन्हें समझा दिया। देवर्षि नारदकी कृपासे व्यासजीकी साधना सार्थक हुई। श्रीमद्‌भागवतमें रासलीलाके वर्णनमें गीताका निराकार मंत्र साकार हो उठा। गायत्री मंत्रके निर्विशेष रूपका सविशेष रूपायन हुआ। इससे शास्त्र, शास्त्रज्ञ पण्डित एवं शास्त्र-प्रतिपाद्य देवता—इन तीनोंका मुख उज्ज्वल हुआ। (४-७)

(४)

व्रजाङ्गनाएँ अभिसार हेतु द्रुतगतिसे निकल पड़ी हैं, किन्तु इस कार्यमें क्या उन्हें किसी बाधाका सामना ही नहीं करना पड़ा ? नहीं, ऐसा भी कहीं होता है क्या ? बाधा थी और वह भी अत्यन्त प्रबल थी। किसीके पति, किसीके पिता, किसीके भ्राता और किसीके आत्मीय-स्वजन-सब आकर पथ रोककर खड़े हो गये। क्यां जा रही हो, कहां जा रही हो इस रात्रिके समय ? सबके मुखमें एक ही बात थी—"एकदम नहीं जाने देंगे भले ही कुछ भी करना पड़े। किन्तु कोई बाधा गोपियों को नहीं रोक पायी। बाधा मानेगा कौन ?

वर्षा ऋतु की नदी उद्दामवेगसे सागरसे मिलने हेतु बह रही है। यदि तीर पर लाखों मनुष्य खड़े होकर भी चिल्लायें कि "हे नदि जरा खड़ी तो रहो"; तो इससे नदीके प्रवाह-वेगमें तिलमात्र भी कमी आवेगी क्या ? जब प्राण प्यारे की पुकार आती है तो कोई भी बाधा रुकावट नहीं डाल सकती। हाँ, इससे एक लाभ अवश्य हुआ, बाधा उत्पन्न होनेके कारण गोपियों के दौड़ने का वेग और उनके हृदयका आवेग—दोनों ही वर्धित हो गये। इससे किसे लाभ मिला ? इसस गोपी एवं कृष्ण—दोनों को ही लाभ हुआ। प्रश्न उठ सकता है कि गोपीको क्या लाभ मिला ? उत्तर है क्षुधा बढ़नेसे ही आहारकी तृप्ति भी अधिकतर होती है। बाधाने कृष्ण-प्राप्ति हेतु क्षुधाकी—लालसाकी वृद्धि की। यद्यपि गोपी-प्रेम स्वयं ही विभु है, बढ़ने का स्थान ही नहीं है, किन्तु ऐसा भी हो गया। अच्छा, कृष्णको क्या लाभ मिला ? सीधा-सा उत्तर है—क्षुधार्तको आहार कराने भी शान्ति मिलती है। अन्यको शान्तिदान करके जिस शान्तिकी स्वयंको प्राप्ति होती है, उसकी तुलना कहीं नहीं मिलती। मनमें जिज्ञासा होती है—अबला गोपीको इतनी बड़ी बाधा को दूर हटानेकी शक्ति कहांसे प्राप्त हुई ? इस शक्तिके दो उत्स यानि उद्गम स्थान हैं। प्रथमतः गोपीके हृदयमें तीव्र कृष्णानुराग वर्तमान है और द्वितीयतः श्रीकृष्णके हृदयमें भी गोपीके लिये प्रबल आकर्षण विद्यमान है। आकर्षण प्रबल होनेका कारण है—गोपी द्वारा प्रदत्त मन श्रीकृष्णने स्वीकार करके ग्रहण कर लिया है। केवल ग्रहण ही नहीं किया है उसे स्वयं का बना लिया है। जिस प्रकार अपना स्वयंकी कोई वस्तु अन्यके घरमें पड़ी हो तो वहां से ले आनेमें किसी प्रकारका संकोच या दुविधा नहीं होती, इसी प्रकार गोपी द्वारा निःसंकोच आत्मदान और श्रीगोविन्दके प्रबल आकर्षण—इन दो वतुओंमें ही अभिसारिकाकी अतुलनीय शक्ति निहित है। एक और भी बात है। जब वंशी बजी तो केवल अनुरागिणी गोपियोंने ही उसे सुना, अन्य किसीको वह ध्वनि सुनायी ही क्या नहीं पड़ी ? यह कौशल योगमायाका है। इतनी सब अघटन घटना घटानेमें योगमाया ही समर्थ है। यदि ऐसा ही हुआ तो योगमायाने इतना सा और क्यों नहीं किया कि व्रज गोपियोंका यह अभिसार किसी अन्यको दृष्टिगोचर ही नहीं होता ? ऐसा अवश्य ही तो सकता था किन्तु श्रीगोविन्दकी इच्छासे ही ऐसा नहीं हुआ। श्रीकृष्णका एक स्वभाव है—स्वजनप्रेमविवर्धनचतुर। किसी भी प्रकारसे ही किन्तु स्वजनोंका प्रेम विवर्धित हो, यही बाधा सृष्टिका हेतु था। जल-प्रवाहके विरुद्धमें मत्स्यको तैरता हुई देखनेमें विशेष मजा आता है। समस्त बाधाओंको अमान्य करके गोपियां दौड़ी चली आ रही हैं—ऐसा देखनेमें गोपीवल्लभको विशेष आनन्द होता है। हमें भी आनन्द होता है। गोपियोंके पथमें यदि कोई बाधा ही नहीं होती तो रासलीलाकी कथा कौन सुनता ? हाथी को लोहे की मोटी श्रृङ्खलके टुकड़े-टुकड़े करते देखकर किसको मजा नहीं आता ? इससे हाथीके पैरमें कितना बल है, इसका

भी अंदाज हो जाता है। जिस गोपीप्रेमकी मात्रा का परिमाप निकाल पाना दुष्कर कार्य है मानो यह उस गोपी प्रेमको मापने-का एक प्रयास है। प्रबल बाधाओंकी एक तिनके की तरह उपेक्षा करके अनुरागिणी अभिसारिकाएँ अग्रसर हुई। किन्तु सब गोपियाँ बाधा पार करके जानेमें सफल नहीं हो पायीं। कोई-कोई गोपी अपने स्वामीके पास अन्दर-गृहमें बैठी हुई थीं। उनके शक्तिशाली पति द्वार अवरुद्ध करके उसके सामने खड़े हो गये और ऐसी कुछ गोपियां अपने अभिसार पर जा नहीं सकीं।

तब एक आश्चर्य जनक घटना हुई। बाधा प्राप्त गोपियोंने अपना यह गुणमय देह वहीं त्याग दिया और वे निर्गुण चिन्मय सिद्ध देह धारण करके श्रीगोविन्दके चरणकमलोंमें सर्वप्रथम पहुंची। इस व्यापार को थोड़ा अधिक स्पष्ट करके समझाया जाना आश्वयक है।

अपने पतियों की प्रबल बाधा हेतु उन सब गोपियां का कृष्ण-विरह तीव्रतर हो उठा। विरहके तीव्र तापसे उनके समस्त अशुभ कर्म दग्धीभूत हो गये। ठीक उसी समय उन्हें अन्तर्हृदयमें ध्यान द्वारा श्रीकृष्णका निविड़ आलिंगन प्राप्त हुआ। विशेष भावसे रहः स्थानमें प्राप्त होता है, इसीलिये इसका नाम 'विरह' कहा गया है।

ध्यान प्राप्त उस गाढ आलिंगनसे गोपियोंको जिस सुखकी प्राप्ति हुई, उसी सुखमें उनके यावतीय शुभ कर्मोंका भोग हो गया। अतः शुभ और अशुभ—दोनोंका निःशेष रूपसे भोग हो गया। फलस्वरूप उनकी गुणमय देह का तत्क्षणात् नाश हो गया। जन्म-मृत्यु जनित त्रिगुणका प्रवाह बंध हो गया। वे सिद्ध देहसे श्रीकृष्णके पास पहुंच गयीं।

कृष्ण-प्रेममें जो एक अद्भुत आस्वादन है, उसे कविराज गोस्वामीसे सुनिये—

"एई प्रेम यार मने, ताँर विक्रम सेइ जाने, विषामृत एकत्र मिलन।"

विष (विरह जन्य तीव्र ताप) से जीवनके समस्त विष अशुभ कर्म जन्य पापत कट गये। अमृत (आलिंगनजनि अमृततुल्य सुखभोग) द्वारा जीवनके समस्त शुभकर्मों के पुण्यका भोग हो गया। तब सारे बंधन टूट गये (प्रक्षीणबन्धनाः) गुणमय देह का त्याग हो गया। इससे यह भी लगता है कि उस समय तक उस गोपीकी देह गुणमय थी। वे गोपियां गुणमय होते हुए भी व्रज-गोपी होकर व्रजमें आई कैसे ? उत्तर यही है कि योगमाया देवी की असीम करुणा हेतु ही ऐसा हो पाना सम्भव हुआ है।

साधारणतः योगमाया देवी उन्हींको व्रजमें गोपी बनाकर भेजती हैं, जो साधना द्वारा सिद्ध होकर गुणातीत हो गये हों। किन्तु कभी कभी इसका व्यतिक्रम भी दिखाई पड़ता है। बीच-बीचमें योगमाया देवी अयोग्य जनोंको भी योग्य-जनोंके संग भेज देती हैं; कहती हैं—"महात्माओंके संग चले जाओ, समय पर योग्यता भी उनके संग हेतु आ जावेगी।

आम्र-बगीचोंके मालिक बहुत टोकरियां भर-भर कर पके आम रप्तानी करते हैं। उनमें थोड़े बहुत कच्चे आम भी डाल देते हैं, जो पके आमोंके साथ पहुंचते पहुंचते स्वयं भी पक जाते हैं। जिनकी देहमें गुणमयत्व बचा होता है, वे भी व्रजमें जन्मे नित्यसिद्धाओं का संग पाकर गुणातीत हो जाती हैं और वंशीनाद सुनकर अभिसार करती हैं। किन्तु उनमेंसे जिन्हें नित्यसिद्धाओंके संगका सौभाग्य प्राप्त नहीं होता है, वे इस प्रकार बाधा पाकर गुणमयत्वसे मुक्त होती हैं। देहमें गुणमयत्व का लेश मात्र भी अवशेष रह जाता है तो उनका निज-निज स्वामी द्वारा स्पृष्ट हो जाने की सम्भवना बनी रहती है।

परात्पर पुरुषको परपुरुषकी भावनासे जानकर भी (जारबुद्ध्यापि) गोपीजन मुक्त हो गई। यह बात सुननेमें आपाततः अटपटी लगती है। किन्तु इसमें अद्भुतत्व कुछ भी नहीं है। "न हि वस्तु शक्तिर्बुद्धिमपेक्षते।" वस्तुकी शक्ति बुद्धिकी अपेक्षा नहीं रखती। अंधकारमें बिना देखे-जाने भी चीनी खा लें तो भी मुंह तो मीठा ही होगा। नमक समझकर भी याद भूलसे चीनी तरकारीमें डाल दें, तो भी तरकारी मीठी ही लगेगी, न कि लवणाक्त। चीनी चीनीका कार्य ही करेगी, भले ही उसे नमक समझकर काममें लिया गया हो। गोपीजन परमपुरुषके पास आई हैं (सङ्गता), इसीलिये उनकी मुक्ति तो होगी ही। उन्होंने श्रीकृष्णमें परपुरुष बुद्धि (जार-बुद्धि) की तो है, किन्तु इसक्षेत्रमें उन्हें परपुरुष-संगसे जो महापातक होता है उसका भागी नहीं होना पड़ेगा।

नारी परपुरुषपर आसक्त होनेसे जो घृणित कार्य होता है एवं उस अपराधके फलस्वरूप जो पाप होता है, गोपियोंको वह कुछ भी नहीं होगा, कारण वह परपुरुष परमपुरुष हैं। इस क्षेत्रमें उन्हें पाप तो स्पर्श करेगा ही नहीं अपरंतु उनकी देहका गुणमयत्व नाशप्राप्त होकर हमेशाके लिये उन्हें गुणातीत स्थितिकी प्राप्ति हो जायगी। जो महासाधनसे भी प्राप्त नहीं होता, वह परपुरुष-मिलनसे प्राप्त हो जायगा ॥ ८–११ ॥

(५)

गोपीजन नित्यसिद्धा एवं साधनसिद्धा भेदसे दो प्रकारकी हैं। नित्यसिद्धा गोपीजन तो अनादिकालसे श्रीकृष्णकी निजजन ही हैं। श्रीकृष्ण जिस प्रकार सच्चिदानन्द-तनु हैं, वे भी उसी प्रकार सच्चिदानन्द-तनुधारी हैं। साधनसिद्धा गोपीजन

त्रिविध हैं—श्रुतिचरी, देवीपूर्वा एवं ऋषिचरी। श्रुतिमंत्रोंकी अधिष्ठात्री देवियोंने व्रजमें गोपी होकर जन्म-ग्रहण किया है। इसमें उद्देश्य यही है कि श्रुतिमें जिस प्रकार "रसो वै सः", "आनन्दं ब्रह्म" "मधु ब्रह्म" भाषामें कहा गया है, उस माधुर्यका मधुररस द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव करेंगी। ब्रह्माजीके निर्देशानुसार देवकन्याओंने भी व्रजमें माधुर्यके श्रीविग्रहको आस्वादन करके अपना देवी-जन्म सार्थक करने हेतु गोपी होकर जन्म लिया है। ये देवी पूर्वा हैं। तीसरे प्रकारमें दण्डकारण्यवासी ऋषिगणोंने गोपी होकर जन्मग्रहण किया है। श्रीरामचन्द्रने सीताके विरहमें जब अश्रुवर्षण किया था तब इन ऋषियोंके मनमें एक तीव्र लालसा जागी थी—श्रीभगवान्‌को जो मधुररस द्वारा प्रीति करते हैं, श्रीभगवान् भी उनकी खोज करते हैं और नहीं मिलनेपर रोते भी हैं, ऐसे प्रेमिका होनेका सौभाग्य यदि हमें भी मिले। इस लालसाके फलस्वरूप उन्हें गोपी-देह मिली थी। ये ऋषिचरी हैं।

श्रीकृष्णके सन्निधानमें जानेके पन्थमें जिन गोपियोंको बाधा प्राप्त हुई थी, वे इन साधन-सिद्धा ऋषिचरी गोपियोंके वर्गमेंसे थीं। इनमेंसे किसी-किसीमें किंचित् गुणमयत्व अवशिष्ट था। उनमेंसे जो गोपीदेह पानेके बाद भी नित्यसिद्धाओंका संग-सान्निध्य प्राप्त नहीं कर सकीं, उनमें ही गुणमयत्व अवशिष्ट रह गया था। उनकी देह अपने स्वामियों द्वारा स्पष्ट हुई थी, किन्तु बाधा प्राप्त होनेके फलस्वरूप वह बचा हुआ गुणमयत्व भी दग्ध हो गया। और उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई। सिद्धदेहसे सेवा प्राप्ति हुई। इन बाधा-प्राप्त गोपियोंकी मुक्तिकी बात सुनकर महाराज परीक्षित्‌के मनमें एक जिज्ञासा हुई। पूछा—"गुरुदेव! इन गोपियोंने तो श्रीगोविन्दको केवल प्राण-कान्त बोलकर जाना था, परब्रह्म बोलकर नहीं। इस अवस्थामें उनके गुण-प्रवाहका उपरम अर्थात् परममुक्ति किस कारण हुई? परीक्षित्‌की जिज्ञासाका तात्पर्य यह था कि मुक्ति केवल ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने पर ही हो सकती है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—इस श्रुतिवाक्यके अनुसार जगतकी यावदीय वस्तु ही ब्रह्म है। तब क्या घट, पट, यदु, मधु—इन सबको जाननेसे मुक्ति हो सकती है? किन्तु ऐसा तो नहीं हुआ करता। ब्रह्मवस्तुको ही ब्रह्मवस्तु बोलकर जाननेसे ही मुक्ति होती है, नहीं जान पाते तब तक मुक्ति भी नहीं होती। अतएव श्रीकृष्णको जब केवल प्राण-कान्त माना और परब्रह्म बोलकर नहीं जाना तो इन गोपियोंकी मुक्ति किस प्रकारसे हुई? महाराज परीक्षित्‌के प्रश्नसे श्रीशुकदेवजी मानो कुछ खिन्न एवं अप्रसन्नसे हुए। वे बोले—"राजन्! इन सब प्रश्नोंका उत्तर तो मैं तुम्हें पहिले ही दे चुका हूँ। तुम्हें याद रखना चाहिये था। रसमय लीलाके आस्वादनके समय इस प्रकारके शुष्क विचार रस-भंग कर सकते हैं। शिशुपाल-वधके प्रसङ्गमें तुम्हें मैंने जो कुछ कहा था, उसे स्मरण करो। शिशुपाल श्रीकृष्णके विद्वेषी थे, अतः श्रीकृष्णको केवल शत्रुमानकर ही व्यवहार करते थे। किन्तु मृत्युके बाद शिशुपालकी सद्योमुक्ति हुई। जिस श्रीकृष्णमें शत्रुबुद्धि रखकर भी जीव मुक्त हो जाता है, उसे प्राण-कान्त माननेसे मुक्ति कैसे हुई, यह भी कोई पूछनेकी बात है?

सुनो, इस बातको फिर विशदरूपसे समझाता हूँ। ब्रह्मवस्तुको ब्रह्मवस्तु नहीं जाननेसे मुक्ति नहीं होती, यह बात सही है। जगतकी अन्य समस्त वस्तुओंके सम्बन्धमें यह सिद्धान्त सत्य है, किन्तु एकमात्र श्रीकृष्णके सम्बन्धमें यह सही नहीं बैठता। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" श्रुतिके अनुसार जगतकी सभी वस्तुएँ ब्रह्म हैं। ब्रह्म अवश्य हैं, किन्तु ये सभी वस्तुएँ माया द्वारा आवृत ब्रह्म हैं। केवल श्रीकृष्ण ही निरावरण ब्रह्म हैं। उनपर मायाका कोई आवरण नहीं है। अतएव उन्हें ब्रह्म बोलकर नहीं भी जानो तो भी वस्तुशक्ति अपना कार्य करेगी।

"वस्तुशक्ति बुद्धिकी अपेक्षा नहीं रखती"—यह सिद्धान्त सर्वत्र लागू नहीं होता। यदि वस्तु आवरण हीन हो, तभी उसकी शक्ति कार्य करी होती है। यदि कोई शिशु प्रदीप-शिखा को पुष्प समझकर उसे स्पर्श करेगा, तो उसका हाथ अवश्य जलेगा। किन्तु यदि वही प्रदीप-शिखा किसी चिमनी द्वारा आवृत हो तो शिशुका हाथ नहीं जलेगा। जगतकी सभी वस्तुएँ ब्रह्म हैं, किन्तु माया द्वारा आवृत हैं, ढकी हुई हैं। केवल श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, मायामुक्त हैं, माया स्पर्श रहित हैं। अतएव श्रीकृष्णके साथ भले ही किसी भी भाव से सम्बंध हो जावे, उस परम वस्तु की वस्तुशक्ति कार्यकरी होगी हो; उससे तन्मयता आवेगी, मुक्ति भी मिलेगी; एक बातमें—अशेष कल्याण होगा।

श्रीकृष्ण इस जगत्‌में केवल जीवका कल्याण करने हेतु ही अवतरित हुए हैं। वे अव्यय एवं गुणातीत होकर भी जो प्रपञ्चमें प्रकटित हुए हैं, उसका कारण जीवका मंगल करनेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वह मंगल इस प्रकार साधित होता है—जीवके चित्तकी वृत्तियां असंख्य हैं। उनमें से कोई वृत्ति शुभद हैं जैसे स्नेह, सौहार्द इत्यादि। कोई कोई वृत्ति अशुभ करने वाली भी है जैसे काम, क्रोध, भय इत्यादि। किन्तु वृत्ति शुभद हो या अशुभद, यदि वह श्रीकृष्ण को अर्पित करदी जाती है तो फल परम शुभ ही होगा; उससे निः श्रेयसकी ही प्राप्ति होगी। हृदय की कोई भी वृत्ति श्रीकृष्ण को समर्पित होने पर परम मंगलप्रद ही होगी।

अत एव योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण-विषयक कोई भी बात सुनकर अब आश्चर्य मत करना। उनकी इच्छाके सामने जगतमें असंभव या अघटन नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। गोपीजनों की मुक्ति तो एक अत्यन्त साधारण सी बात है। श्रीकृष्ण

की कृपादृष्टि हो जाय तो विश्वके अनन्त जीवसमूह तत्क्षण मुक्तिलाभ कर सकते हैं। फिर तुम्हें तो श्रीकृष्ण की महान महिमाके सम्बंधमें तिल मात्र भी संशय नहीं होना चाहिये, कारण तुम तो गर्भवास कालमें ही उनकी अपार करुणाशक्ति का विशेष अनुभव भी कर चुके हो। अनुभूत सत्यके सम्बंधमें तो संदेह का अवकाश ही कहां रहा? (१२-१६)॥

(६)

श्रीशुकदेव जी रासलीलाका वर्णन किये जारहे हैं। रासरस की नायिकाएँ अस्त-व्यस्त वेशमें अभिसार पर चली जा रही हैं। अब व्रजाङ्गनाएं श्रीकृष्णके समीपमें आकर खड़ी हो गई हैं। उनकी दशा क्या हो रही है। "विछुरि गेह, निजक देह"। निज गेह और देह की तरफ तिलमात्र भी ध्यान नहीं है मानो विल्कुल चेतना हीन ही होगई हैं! उनके वस्त्र और आभूषण अस्तव्यस्त हो रहे हैं। घाघरे के स्थान पर ओढ़नी और ओढ़नीके स्थान पर घाघरा पहन रखा है! और वह भी स्खलित-सा हो रहा है। गमनवेग से नीवि-बंध शिथिल हो रहा है, किसी प्रकार बाये हाथसे पकड़ कर वह यथास्थान रख पा रही हैं! इस प्रकार की अवस्थामें व्रजाङ्गनाओंके सहस्रों यूथ चारों तरफसे नन्दनन्द को घेरकर खड़े हैं।

वे जाने क्या कुछ कहना चाह रही हैं, किन्तु लज्जा-संकोच-संभ्रम वश बारबार बोलनेमें बाधा उत्पन्न हो रही है, मुंहसे शब्द निकल नहीं पारहे। यह बात सत्य है कि वे लज्जा-संकोच आदि तो प्रस्थान करते समय ही यहां से बहुत दूर त्याग आई हैं, किन्तु श्रीकृष्णके निकट पहुंचते-पहुंचते ही वे-सब नारी-सुलभ वृत्तियां सहज रूपसे प्रकट होकर मानो उनपर फिर अधिकार जमा चुकी हैं। व्रजवधुओं की इसी अवस्था देखकर श्याम नागर मृदु-मृदु मुस्कराने लगे—

"विपिने मिलिल गोप नारी हेरि हासत मुरलीधारी"। तत्पश्चात् श्रीकृष्णने अपना मधुर पद्म सा श्रीमुख खोलकर कुछ वाक्य बोले। श्री शुकदेव जी ने श्रीकृष्णका एक विशेषण दिया है—"वदतां श्रेष्ठः"। श्री सनातन गोस्वामी पादने उस पदकी व्याख्यामें कहा है—"निखिलवाग्वैदग्ध्य विदां वरिष्ठः"। वाक्य एवं अर्थके चातुर्यमें, विविध भङ्गिमा एवं वैचित्र्य सृष्टि में जो निपुण होते हैं उनमें यह वक्ता सर्व श्रेष्ठ है। स्वयं सरस्वती-वल्लभ वाग्मिवर श्रीकृष्णने कुछ बाते कहीं। उन सब (भङ्गिमा) बातोमें से किसीमें छलना एवं चतुरता है तो किसीमें वैचित्र्यमय भङ्गिमा हैं। इन बातो को सुनकर गोपीजनों की विकलता अत्यंत बढ गई।

श्रीकृष्णने ऐसा क्यों किया? बातों, इतना चातुर्यमें इतने विदग्ध-भङ्गीविलास की पुट देने की क्या आवश्यकता थी तथा इन सबमें उनका उद्‌देश्य क्या था? जो सर्वज्ञ हैं, उन्हें तो इस प्रकारके प्रश्न करना शोभा नहीं देता। एतद् व्यतीत गोपीजनों का तत्कालीन हृदयका भाव तो उनके चेहरों पर ही अन्यंत स्पष्टरूपसे झलक रहा था। वे तो इस समय नन्दनन्दनके अत्यंत समीपमें ही खड़ी थीं। श्रीकृष्णने सब कुछ जानते और समझते हुए भी जो मनमें एक प्रबल इच्छा है कि गोपीजनों के उनके प्रति गभीर प्रेम की बात, उनके ही श्रीमुख से सुनें। प्रीतिके पात्रों के मुखसे ही उनके प्रणयकी बात सुननेमें शतगुण अधिक आनन्द प्राप्त होता है। किन्तु यह आनन्द तो सहज प्राप्य नहीं है, कारण रसवती वामा नायिकाओं का हृदय फट सकता है किन्तु अपने ही मुँहसे प्रणयकी बात नहीं फूटती। गोपीजन अपने आन्तरिक अनुराग की बात किसो भी प्रकार से श्रीकृष्णके सम्मुख खड़ी होकर नहीं बोल पा रही हैं। कोई भी नहीं बोल सकता, ? कारण ऐसा बोलने से फिर रस-पुष्टि नहीं होती। नायिकाका आन्तरिक गूढ प्रेम थोड़ा-सा व्यक्त और थोड़ा अव्यक्त रहे, इसीमें माधुर्य है। सुन्दर देर का कुछ अश ढका हुआ और कुछ थोड़ासा उन्मुक्त रहने से ही सौन्दय की अभिव्यक्ति होती है। बुरके से पूर्णरूप से छिपी हुई देहका सौन्दर्य अव्यक्त रहता है एवं नग्न देहका सौन्दर्य व्यक्त होते हुए भी वह शालीनताके विरुद्ध होने हेतु आस्वादन के उपयोगी नहीं होता। व्यक्त और अव्यक्त के मध्यम मार्ग से ही दैहिक सौन्दर्य का माधुर्य प्रकाशित होता है। हृदयके सौन्दर्य और प्रेमके सम्बध में भी यही युक्ति संगत लगती है। प्रेम प्रेमिकाकी हृदय-गुहा में लुका-छिपा अदृश्य पड़ा रहता है और प्रेमिका को भाव भङ्गी, हास्य विलास, नत दृष्टि से उसका कुछ अंश व्यक्त भी हो जाता है। इसी से माधुर्य की पुष्टि होने से वह रसप्रद भी हो जता है। किन्तु आज तो श्यामचन्द्रकी आन्तरिक गूढ अभिलाषा है कि इस प्रेमके सम्पूर्णरूप को उन्मुक्तरूप से देखेंगे। महाभाववती व्रजाङ्गनाओं की देह भी प्रेमतत्त्व से ही निर्मित एवं विभावित है। बस्त्रहरणके दिन देह तो देखली थी किन्तु आजतो उनके समस्त मन, प्राण एवं प्रेममयी भावमूर्त्तिको देखेंगे। देख सकेंगे या नहीं यह ज्ञात नहीं है कारण वे हैं "यार सद्‌गुणेर कृष्ण ना पान पार"—ऐसी कि उनके गुणों की गणना स्वयं कृष्ण भी नहीं कर सकते। हाँ, इतना अवश्य जानते हैं कि एसा देखने की श्रीकृष्णकी हार्दिक अभिलाषा है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब गोपोजन स्वयं अपने हृदयके सम्पूर्ण आन्तरिक प्रेम का बात खुले प्राणों से उन्हें कहें।

किन्तु यह सम्भवपर है क्या? कौन-सी वामा नायिका अपने हृदयके सम्पूर्ण अनुरागकी बात दिल खोलकर बतायेगी? स्वाभाविकरूपसे तो यह सम्भव है नहीं। हां, यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि वामा नायिकाएँ किसी

अस्वाभाविक कारणवश अपना वाम स्वभाव त्याग दें। यदि कोई एकदम अस्वाभाविक घटना न घटे तो अपना दुरतिक्रम्य वामा-स्वभाव त्याग करना उनके लिये असम्भव है। इसलिये यदि किसी अस्वाभाविक कथन या वाक्चातुर्यसे गोपीजनोंके हृदयमें एक विभ्रान्तिकी सृष्टिकी जा सके, तभी श्यामसुन्दर का यह अभीष्ट सिद्ध हो सकता। अतएव इस समय सहजभावसे बात न करके ऐसी वैचित्र्यमय बात कहना प्रयोजनीय है, जिससे वामा नायिकाएँ अपना वाम्य भाव त्याग करके दक्षिणा नायिकाओं की तरह अपने हृदयकी बातें खोजकर प्रकट कर दें। इसी हेतुसे श्यामनागरने विभ्रान्तिकर, वैचित्र्यमय, वाग्भङ्गीका आश्रय लिया।

श्रीकृष्णने गोपीजनोंको प्रथम संबोधन ही किया, "स्वागतं वो महाभागाः"—पातिव्रत्यादि धर्म, नाना गुणों एवं शीलसम्पन्न होने हेतु तुमलोग महाभाग्यवती हो अतः तुम्हारा स्वागत है। दशम स्कंधके तेइसवें अध्यायमें अन्नभिक्षा लीला प्रसंगमें भी श्रीकृष्णने याज्ञिक ब्राह्मणपत्नियोंको इसी भाषामें सम्बोधन किया था। किन्तु वे तो श्रीकृष्णके लिये नितान्त अपरिचिता थीं जबकि ये गोपाङ्गनाएँ सम्पूर्णरूपसे परिचिता ही नहीं, अपि तु उनकी स्वजन एवं उनके प्रति ऐकान्तिकप्रीतियुक्ता भी हैं। इस प्रकार अपरिचिताओं की तरह ही अपने स्वजनोंको भी उसी भाषामें सम्भाषण करनेसे उनके प्रति अनादर सूचित होता है। फिर ब्राह्मणपत्नियोंको तो "स्वागतम्" बोलनेके बाद कहा था 'आस्यताम्' अर्थात् पधारिये, विराजिये। गोपीजनोंके प्रति वैसा कुछ भी नहीं कहा—अतः यह भी निरादरसूचक ही है। तत्पश्चात् श्रीकृष्णने लगातार तीन बातें कही—(१) तुमलोगोंके यहां आनेका कारण क्या है? (२) मेरे द्वारा तुमलोगोंका कौनसा प्रिय कार्य साधित हो सकता है? (३) व्रजमें सब कुशलसे तो हैं?

ये तीनों प्रश्न सुन्दर एवं निर्दोष लगते हैं, किन्तु इनके प्रत्येक शब्दमें प्रच्छन्न उपेक्षाकी जो एक तीक्ष्णता छिपी हुई है, उससे गोपीजनोंका हृदय विद्ध होकर आहत होने लगा। अतिप्रियजनोंके पास आने पर यदि यह पूछा जाय कि 'क्यों आये हो?' तो यह समादर सूचक नहीं है। सर्वोपरि, वंशी द्वारा उनके नाम उच्चारित करके पहले तो बुलाना और फिर आगमनका कारण पूछना—इस कार्यमें तो जानकर की गई उपेक्षा सुस्पष्ट सूचित है।

"मेरे द्वारा तुम्हारा कौन सा प्रिय कार्य संपादित हो सकता है?"—यह प्रश्न किसी एकदम अपरिचित व्यक्तिको पूछा जाय तो शोभन होता है। किन्तु जिनके संग नित्य प्रति देखा-सुना, आन्तरिक निविड़ मिलना-जुलना होता रहता है, उन्हें समीपमें आया हुआ देखकर यदि यह पूछें कि "मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?" तो यह नितान्त अस्वाभाविक लगता है और पूछने वाले की बुद्धि वृत्तिके स्थिरत्वका ज्ञापक नहीं है। बोलनेके ढंगसे यह स्पष्ट है कि मेरे द्वारा तुम्हारा कोई प्रिय कार्य करना सम्भव नहीं है। किन्तु यदि फिर भी बलपूर्वक कोई आदेश दे बैठे तो शायद कुछ कर भी सकता हूँ।

'तुम लोग यहां क्यों आई हो'? इस प्रश्न के उत्तरमें जब तुम लोग कुछ भी बोल ही नहीं रही हो तो आशंका हो रही है कि व्रजमें कुछ अमांगलिक घटना घट गई। श्रीकृष्णके बोलनेके ढंगसे ऐसा स्वर निकलता है मानो कुछ गड़बड़ होनेसे ही सारे व्रजवासी उनके पास दौड़े आते हैं। जबतक सब कुशल-मंगल है, उनकी तरफ कोई ध्यान ही नहीं देता। प्रियजनोंके प्रति इसप्रकारकी भाषाका प्रयोग बहुत ही कठोर एवं अशोभनीय लगता है। इन सारी बातोंमें उपेक्षाका भाव अत्यन्त स्पष्टरूपसे झलक रही है। श्यामसुन्दरकी इन चातुरीपूर्ण बातोंको सुनकर व्रजाङ्गनाओंका हृदय नैराश्यसे पूर्ण हो गया। एकबार श्रीकृष्णकी तरफ व्याकुल दृष्टिपात करके वे सब अधोमुखी होकर मन ही मन बोलने लगीं, "हे निष्ठुर! व्रजमें कोइ विपद उपस्थित होती तो केवल हम ही नहीं सारे व्रजवासी तुम्हारे पास आ खड़े होते। किंतु आज तो विपद ही नहीं, महाविपद उपस्थित है। किन्तु वह महाविपद केवल हम हतभागिनियों पर ही आई है यह विपद पूर्वकी तरह किसी असुर या राक्षसके कारण नहीं है, न ही दावानल, तूफान अथवा घनघोर वर्षा के कारण है। इस विपदके विषयमें तो हम लोगोंके अतिरिक्त अन्य कोई समझ नहीं पावेगा। इस विपदसे परित्राण केवल तुम्हारे पदारविंद ही दिला सकते हैं। किन्तु तुम्हारी निष्ठुर वाणोसे तो हमें साफ लग रहा है कि तुम्हारे अनुग्रह से तो हमें चिर वंचित ही रहना होगा।

उनकी मानसिक चिंता समझकर ही मानो व्रजसुन्दर बोले "प्रत्येक व्यक्तिको सर्वदा देश-काल-पात्रका विचार करके ही चलना चाहिये। तुमलोग पुरुष नहीं हो, नारी हो और वह भी सुन्दरी युवतियां। इस समय दिवाकाल भी नहीं है, रात्रि है। यह स्थानभी गृह नहीं है, वनप्रदेश है। वनप्रदेशमें इस समय घोररूपा रजनीका साम्राज्य छाया हुआ है; पथ-घाट निरापद नहीं हैं, श्वापद संकुल अर्थात् हिंस्र जानवरोंसे भरे हुए हैं। मैं भी तुमलोगोंका निज-जन होते हुए भी, हूँ तो पर-पुरुष ही। इन सब कारणों पर विवेचना करते हुए तुमलोगों को अब यहां एक क्षण भी नहीं ठहरना चाहिये। तुमलोगोंका इस वक्त एकमात्र कर्तव्य है—अविलम्ब व्रजमें लौट जाना।"

यद्यपि पतिव्रता एवं शुद्धचित्ता बोलकर व्रजमें तुमलोग विख्यात हो, और मेरा भी 'ब्रह्मचारी' सुयश लोक-वेद-प्रसिद्ध है; तथापि जनहीन वनमें रात्रिकालमें हमलोगोंका यहां एकत्र अवस्थान युक्तिसंगत नहीं है। हमारा यहां एकत्र अवस्थान

निर्दोष भी हो, तो भी लोकनिन्दासे अव्याहति पाना दुष्कर है। यदि तुमलोग कहो कि हमलोग अन्य लोगोंकी बातोंकी कोई परवाह नहीं करती किन्तु मैं तो इसे भी अच्छा नहीं मानता। स्पर्धापूर्वक लोकापवादको अग्राह्य करना कोई बुद्धिमानीका कार्य नहीं है। यदि फिर भी तुमलोग ऐसा ही करना चाहती हो तो खुशीसे करो, किन्तु उस हालतमें मैं यहां एकक्षण भी नहीं ठहरूंगा। और स्थानान्तरमें चला जाऊंगा। "नेह स्थेयं स्त्रीभिः"—अर्थात् मया इह स्त्रीभिः सह न स्थेयम्। तात्पर्य, इस जनमानवहीन वनमें रात्रिकालमें मैं स्त्रीजनोंके साथ एकत्र अवस्थान नहीं करूँगा (भा० १०।२९।१९)। "लोग क्या कहेंगे ?" यह भय तुमलोगोंको नहीं भी हो, तो भी मुझे तो है।

श्रीकृष्णके प्रथम स्वागत-सम्भाषण श्लोकमें जो उपेक्षाभाव अस्फुट था, परवर्ती श्लोकोंमें वह उपेक्षाभाव दिवालोक की तरह स्पष्ट हो गया। व्रजाङ्गनाओंके कोमल हृदयको इन उपेक्षा-वाक्योंने मर्मघाती बाणोंकी तरह विद्ध कर दिया। वे सम्पूर्णरूपसे निराशाके गहरे अंधकारमें डूब गयी ॥ १७–१९ ॥

नन्दनन्दनके उपेक्षा-वाक्योंके तीव्र आघातसे गोपाङ्गनाएँ सम्पूर्णरूपसे मूक हो गईं, नीरव मुखमें से कोई शब्द ही नहीं निकल रहा। मानो वे मन-ही-मन बोल रही हैं—"हे प्राण-देवता ! आप तो हमारे चिरकालके अभयदाता हो और आप ही हमें भयभीत कर रहे हैं ! घोर रजनीका भय, हिंस्र जन्तुओंका भय, लोकनिन्दा-अपवादका भय–ये सब भय तो हमारे चित्तमें उदय ही नहीं हो पाते यदि हम आपके अभयपद-सान्निध्यमें रह सकें। हमें सब स्मरण है कि आपने हमारी कितने अद्‌भुत-अद्‌भुत भयोंसे रक्षाकी है। समस्त भयोंके बीच हम लोगोंके लिये एकमात्र निर्भर योग्य स्थान तो आपके पाद-पद्म ही हैं। अतः श्रीचरणोंमें स्थान मिलते ही सब भय भाग जायेंगे।"

व्रजाङ्गनाओंके हृदयको भाव अनुभव करके व्रजजीवन बोले—"मेरे पास तुम लोगोंको कोई भय नहीं सताता, तुम निश्चिंत रहती हो—यह बात न हो मैं स्वीकार कर लेता हूँ, किन्तु रात्रिकालमें तुम्हें अपने घरोंमें न देखकर तुम्हारे आत्मीय-स्वजन तो निश्चिंत नहीं है ? तुम्हारे माता पिता, पुत्र-कन्या, भ्राता, पति एवं अन्य बन्धु बान्धव, आत्मीय-स्वजन–सभी लोग तुम्हे गृहमें, प्रतिवेशीके घरमें, गली-गलीमें खोज रहे हैं। कहीं न पाकर वे लोग यहां वन तक आ जावें तो भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यदि यहां आकर उन्होंने तुम सबको मेरे साथ देख लिया तब कितनी लज्जा एवं भयजनक बात होगी, जरा सोचकर तो देखो (अत्रागता मत्पार्श्वे युष्मान् पश्येत् तदोभयेषामपि लज्जाभये स्यातामिति भावः—श्री सनतन)। स्नेही बन्धुओंके मनमें पीड़ा पहुंचाना उचित नहीं है। यदि अन्वेषण करते-करते तुम लोगोंको नहीं खोज पाये तो वे लोग अत्यन्त व्याकुल हो जायेंगे। अत एव घर लौटकर उन्हें निश्चिंत करो।" श्यामसुन्दरकी बातें सुनकर गोपीजनोंने सोचा—"श्रीकृष्ण तो हमारे मन-प्राणोंकी दुरवस्थाकी तरफ लक्ष्य किये बिना ही केवल हमें घर लौट जाने की सलाह दे रहे हैं। जिन व्रजेन्द्रनन्दनके समीप उनसे आकृष्ट होकर हम अपने माता पिता-पति इत्यादि का बंधन हमेशाके लिये छिन्न-भिन्न करके दौड़ी आई हैं, वही व्रजजीवन हमें उन्हीं आत्मीयजनोंकी व्याकुलताकी दुहाई देकर वापिस व्रज लौट जानेको कह रहे हैं ! इससे अधिक विडम्बना और क्या होगी ? जिन आत्मीयजनोंके सनिर्बन्ध (आकुल) अनुरोधकी पूर्ण उपेक्षा करके हम यहां चली आयी हैं, प्राणनाथके उपेक्षा-वाक्य सुनकर क्या हम वापिस उन्हीं आत्मीयोंके पास लौट जाँय ? क्या हमारे जीवन-सर्वस्व हमारी मर्म वेदना किसी भी प्रकारसे नहीं समझ पायेंगे ? उन्होंने कितने आदरसे वंशीके मधुर स्वरसे हमारे नाम पुकार-पुकार कर बुलाया था ! क्या यह हमारा भ्रममात्र था ? नहीं, अभी भी हमें ऐसा तो नहीं लगता; हमने अच्छी प्रकारसे सुना है। तो फिर वे इस प्रकारका नृशस व्यवहार क्यों कर रहे हैं ? इस प्रकारके निष्ठुर वाक्य क्यों बोल रहे हैं ? यदि हमें श्रीकृष्णके सान्निध्यकी आशा त्याग करनी ही पड़ी, तो हम सब वनवासी हो जावेंगी या यमुनाजलमें अपने प्राण विसर्जन कर दगी किन्तु अब लौटकर, घर नहीं जायेंगी।"

उपरोक्त बातें सोचते-सोचते ही मानो व्रजाङ्गनासे श्रीकृष्णकी दिशासे मुख फिराकर बनकी तरफ देखने लगीं। उन्हें ऐसा करते देखकर ही रसिक चूड़ामणि बोल उठे—"ओहो, इतनी देर बाद मैं तुम्हारे वनमें आनेका कारण समझ पाया हूँ। निश्चय ही तुमलोग वनभूमिकी अपूर्व शोभा दर्शन हेतु यहां आई हो। दिनभर तो घरके काममें व्यस्त रहती हो, इसीलिये रात्रिमें आयी हो। यह तो अच्छी ही बात है, इसमें तो मुझे कोई दोष नहीं दीखता। शरत्कालकी पूर्णिमा तिथि है, वनराजि चन्द्र-ज्योत्स्नासे उद्‌भासित होकर उज्ज्वल हो उठी है। पूर्णचन्द्रकी निरुपम सुषमा तो सभी प्राणियोंके हृदयमें आनन्दकी लहरें उत्पन्न कर देती हैं। पुष्पोंकी छटासे भी वनभूमिकी शोभा अपूर्व हो रही है। इसका आनन्द लेने हेतु तो किसका मन नहीं ललचायेगा ? शीतल-स्निग्ध पवनसे वृक्षोंके पल्लव कांप रहे हैं। ऐसा लगता है कि वनदेवी इनके अंगुलिसंकेतसे सभीको इस शोभा-सागरमें अवगाहन करने हेतु आह्वान कर रही हैं। तो तुमलोग इस शोभाको निहारने यहां आयी हो, इसमें कोई अपराध नहीं है। किन्तु बात यह है कि यह सारी शोभासम्पद तो तुम्हारे सम्मुख ही विस्तृत है। इधर दृष्टि फेरते ही इसके दर्शन हो जाते हैं। इतनी देर तक इस शोभाको देखकर अबतक तुमलोग निश्चय ही परितृप्त हो गयी होंगी। अब तुम्हें इस

कार्यसे विरत हो जाना उचित है। शोभा देखनेके बहाने वहीं पूरी रात्रि बिताना कोई अच्छी बात नहीं है। शोभा-दर्शन तो हो गया, अब गृहाभिमुख यात्रा करो।

यह बाते सुनकर गोपीजनोंने सोचा, "हाय हमारा दुर्भाग्य! जिनके लिये समस्त बंधन छिन्न-भिन्न करके, दुनियाँ-भरकी कलंककी गठरीसिर पर लिये, गृहत्याग करके यहां आयीं, वे ही व्रजजीवन हमारी मनोव्यथा को कुछ भी समझे बिना एतद् विपरीत वनशोभा की नई-नई युक्तियां जुटा करके हमें मर्मान्तिक वेदना दे रहे हैं! श्रीकृष्ण की इस वज्रतुल्य कठोर वाणीसे व्रजगोपियों की वाणी वेदना-भारसे एकदम अवरुद्ध ही गई। इधर श्यामसुन्दर किन्न बोलते ही चले जा रहे हैं। "कुलवती नारियोंके लिये तो अन्तःपुर ही प्रशस्त (उपयुक्त) स्थान है। अब तक वनकी शोभा का सम्यक दर्शन हो चुका है, अतः अब यहां अधिक कालक्षेप करना उचित नहीं है। अविलम्ब अपने गृह लौट जाओ वहां जाकर अपने पति का सेवा करो। इतनी देर से रज्जुद्वारा बधे हुए बेचारे भूखे वत्स करुणभावसे पुकार रहे हैं। घर लौटकर गोदोहनोपरान्त इन वत्सोंको शान्त करो। तुम्हारे शिशुगण भी दूधके लिये रोना कलपना कर रहे हैं; उन रोते हुए शिशुओं को दुग्धपान कराकर उनका रोदन बंद करावो।"।

गोपवधुएँ मानो श्रीकृष्ण की उपरोक्त व्यर्थकी बाते और अधिक सहन नहीं कर पारही थी। उनकी इच्छा हो रही थी कि अपनी पूरीशक्ति से चिल्ला करके कहें—"हे प्राणनाथ। अब हमें गृहसे कोई प्रयोजन नहीं रहा। हमें तो केवल तुमसे ही प्रयोजन है। हम लोग तुम्हारे द्वारा उपेक्षित यह देह इसी क्षण इन्हीं तुम्हारे चरणोंमें विसर्जित करके अब चिरविदा हीले लेंगी। किन्तु गोपीजनों की देह-मनमें यह बातें भी उच्चस्वरसे बोल सकें, इतनी शक्ति भी नहीं बची थी, अवशेष बच रहा था केवल अश्रुपात और असहाय दृष्टिपात।

उनकी दृष्टिमें महान नैराश्य की छाया देखकर श्यामसुन्दरने पुनः कहना प्रारम्भ किया—"हे व्रजाङ्गनाओं! मेरी बाते सुननेके बादभी तुमलोग वापिस व्रज नहीं जारही हो किन्तु मेरे पास ही यहीं खड़ी हो। इससे मैं अब सही-सही समझ पा रहा हूँ कि तुम क्यों आयी हो। निश्चय ही तुम मुझसे अत्यंत अधिक प्रेम करती हो, इसीलिये मुझे देखने हेतु यहां आयी हो। निश्चय ही मेरे प्रति तुम्हारी प्रीति अत्यंत प्रबल है, अन्यथा कुलरमणी होकर इस घोररात्रिकालमें इस गहन वनमें नहीं आ सकती थी। मेरे प्रति प्रेम हेतु तुम्हारा चित्त वशीभूत (यन्त्राशया) है इसीलिये स्थान-अस्थान समय-असमयके सम्बंधमें विचार करने की शक्ति भी खो बैठी हो। अन्यथा रात्रिकालमें वनमें परपुरुषके समीप कैसे आसकतीं? इस दृष्टिसे विचार करने पर मैं भी स्वीकार करने को बाध्य हो जाता हूँ कि तुम्हारा यहां आना युक्ति युक्त ही हुआ है (उपपन्नम्)।

श्रीकृष्णकी उपरोक्त कुछ बातें सुनकर व्रजाङ्गनाओं का मलिन मुख सहसा उत्फुल्ल हो उठा। प्राणोंमें प्रचुर आशा और आनन्दका संचार हुआ। उन्होंने सोचा कि चलो, इतनी देरबाद भी प्राण-दयित (प्राणप्यारे) हमारे यहां आगमनका सही कारण समझ तो पाये। जब सही बात समझमें आगयी है तो अब निश्चय ही उनके उपेक्षा-शरों से विद्ध नहीं होना पड़ेगा। "अब तो आदरयुक्त बात ही सुनेगी"–इस आशामें वे उत्कर्ण होकर श्रीमुखपर नेत्र गड़ाये खड़ी रही।

तब चतुर-चूड़ामणि श्याम चांद कहने लगे—"एक बात मैं प्रायः ही सोचता रहता हूं कि तुमलोग मुझे इस प्रकार इतना अधिक प्रेम क्यों करती हो? केवल तुमही नहीं, व्रजके सभी मुझसे इसी प्रकार प्रेम करते है। केवल नरनारियों की ही क्या कहूं, पशु-पक्षी पर्यन्त मुझसे इसी प्रकार प्रेम किया करते हैं ("प्रीयन्ते मयि जन्तवः)। गायें भी मुझे देखकर पागल-सी हो जाती हैं, वंशी सुनते ही ऊर्ध्वपुच्छ होकर दौड़ी आती हैं। जबमैं गायोंके पास चला जाता हूं तो अपने बछड़ो को चाटना छोड़कर मुझे चाटने लगती हैं। जब मैं वन में विहार करता हूं तो हरिणियाँ के झुण्डके-झुण्ड आकर मेरी तरफ निनिमेष दृष्टिसे ताकती रहती हैं और कभी-कभी मेरी देहसे अपने गात्रकी धर्षण करने लगती हैं। मुझे देखकर मयूर हर्षविभोर होकर पुच्छ विस्तार करके नाचना प्रारम्भ कर देते हैं। भ्रमर-समुदाय पुष्पों को त्यागकर मेरे चहुंदिक् गुञ्जन करते हुए उडने लगते हैं। बन्दर और पक्षीगण अपनी चञ्चलता का विसर्जन करके निर्वाक एवं निस्पन्द होकर मेरे मुखकी तरफ निर्निमेष दृष्टि से ताकते रहते हैं। यहां तक कि मेरे स्पर्शसे वन की वृक्षलताओं के अंगोंमें भी शिहरण होने लगती है। जब मैं वन-भ्रमण हेतु निकलता हूँ तो मेरे चरणतलोंमें कांटे-कंकर से पीड़ा न पहुचे" इस आशयसे वृक्षलताएँ पथ पर पुष्प वर्षा करके पथ को पुष्पोंसे आच्छादित कर देती हैं। स्थावर-जङ्गम सब-कोई मुझसे आन्तरिक प्रेम करते हैं। न जाने यह मेरे कोई विशेष भाग्य का ही फल होगा। मुझे सभी अयाचित एवं अहैतुकी प्रेम प्रदान करते हैं। अतएव तुम्हारे इस प्रेमसे मैं विस्मित नहीं हुआ हूं, मुझे यह युक्तियुक्त ही लगा है।

श्रीकृष्णके उपरोक्त वचनोंसे व्रजाङ्गनाओंको वज्राघातकी अपेक्षा भी अधिक मर्मान्तिक पीड़ा हुई। हताशाकी मर्मघाती वेदनासे वे अधीर हो गयीं। आपाततः बाह्यविचारसे तो श्रीकृष्णके वचन अत्यंत मधुर लगते हैं, किन्तु इनके भीतरमें

निर्दोष भी हो, तो भी लोकनिन्दासे अव्याहति पाना दुष्कर है। यदि तुमलोग कहो कि हमलोग अन्य लोगोंकी बातोंकी कोई परवाह नहीं करती किन्तु मैं तो इसे भी अच्छा नहीं मानता। स्पर्धापूर्वक लोकापवादको अग्राह्य करना कोई बुद्धिमानीका कार्य नहीं है। यदि फिर भी तुमलोग ऐसा ही करना चाहती हो तो खुशीसे करो, किन्तु उस हालतमें मैं यहां एकक्षण भी नहीं ठहरूंगा। और स्थानान्तरमें चला जाऊंगा। "नेह स्थेयं स्त्रीभिः"—अर्थात् मया इह स्त्रीभिः सह न स्थेयम्। तात्पर्य, इस जनमानवहीन वनमें रात्रिकालमें मैं स्त्रीजनोंके साथ एकत्र अवस्थान नहीं करूँगा (भा० १०।२९।१९)। "लोग क्या कहेंगे ?" यह भय तुमलोगोंको नहीं भी हो, तो भी मुझे तो है।

श्रीकृष्णके प्रथम स्वागत-सम्भाषण श्लोकमें जो उपेक्षाभाव अस्फुट था, परवर्ती श्लोकोंमें वह उपेक्षाभाव दिवालोक की तरह स्पष्ट हो गया। व्रजाङ्गनाओंके कोमल हृदयको इन उपेक्षा-वाक्योंने मर्मघाती बाणोंकी तरह विद्ध कर दिया। वे सम्पूर्णरूपसे निराशाके गहरे अंधकारमें डूब गयी॥ १७-१९॥

नन्दनन्दनके उपेक्षा-वाक्योंके तीव्र आघातसे गोपाङ्गनाएँ सम्पूर्णरूपसे मूक हो गईं, नीरव मुखमें से कोई शब्द ही नहीं निकल रहा। मानो वे मन-ही-मन बोल रही हैं—"हे प्राण-देवता ! आप तो हमारे चिरकालके अभयदाता हो और आप ही हमें भयभीत कर रहे हैं ! घोर रजनीका भय, हिंस्रां जन्तओंका भय, लोकनिन्दा-अपवादका भय—ये सब भय तो हमारे चित्तमें उदय ही नहीं हो पाते यदि हम आपके अभयपद-सान्निध्यमें रह सकें। हमें सब स्मरण है कि आपने हमारी कितने अद्भुत-अद्भुत भयोंसे रक्षाकी है। समस्त भयोंके बीच हम लोगोंके लिये एकमात्र निर्भर योग्य स्थान तो आपके पाद-पद्म ही हैं। अतः श्रीचरणोंमें स्थान मिलते ही सब भय भाग जायेंगे।"

व्रजाङ्गनाओंके हृदयको भाव अनुभव करके व्रजजीवन बोले—"मेरे पास तुम लोगोंको कोई भय नहीं सताता, तुम निश्चिंत रहती हो—यह बात न हो मैं स्वीकार कर लेता हूँ, किन्तु रात्रिकालमें तुम्हें अपने घरोंमें न देखकर तुम्हारे आत्मीय-स्वजन तो निश्चिंत नहीं है ? तुम्हारे माता पिता, पुत्र-कन्या, भ्राता, पति एवं अन्य बन्धु बान्धव, आत्मीय-स्वजन—सभी लोग तुम्हे गृहमें, प्रतिवेशीके घरमें, गली-गलीमें खोज रहे हैं। कहीं न पाकर वे लोग यहां वन तक आ जावें तो भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यदि यहां आकर उन्होंने तुम सबको मेरे साथ देख लिया तब कितनी लज्जा एवं भयजनक बात होगी, जरा सोचकर तो देखो (अत्रागता मत्पार्श्वे युष्मान् पश्येत् तदोभयेषामपि लज्जाभये स्यातामिति भावः—श्री सनतन)। स्नेही बन्धुओंके मनमें पीड़ा पहुंचाना उचित नहीं है। यदि अन्वेषण करते-करते तुम लोगोंको नहीं खोज पाये तो वे लोग अत्यन्त व्याकुल हो जायेंगे। अत एव घर लौटकर उन्हें निश्चिंत करो।" श्यामसुन्दरकी बातें सुनकर गोपीजनोंने सोचा—"श्रीकृष्ण तो हमारे मन-प्राणोंकी दुरवस्थाकी तरफ लक्ष्य किये बिना ही केवल हमें घर लौट जाने की सलाह दे रहे हैं। जिन व्रजेन्द्रनन्दनके समीप उनसे आकृष्ट होकर हम अपने माता पिता-पति इत्यादि का बंधन हमेशाके लिये छिन्न-भिन्न करके दौड़ी आई हैं, वही व्रजजीवन हमें उन्हीं आत्मीयजनोंकी व्याकुलताकी दुहाई देकर वापिस व्रज लौट जानेको कह रहे हैं ! इससे अधिक विडम्बना और क्या होगी ? जिन आत्मीयजनोंके सनिर्बन्ध (आकुल) अनुरोधकी पूर्ण उपेक्षा करके हम यहां चली आयी हैं, प्राणनाथके उपेक्षा-वाक्य सुनकर क्या हम वापिस उन्हीं आत्मीयोंके पास लौट जाँय ? क्या हमारे जीवन-सर्वस्व हमारी मर्म वेदना किसी भी प्रकारसे नहीं समझ पायेंगे ? उन्होंने कितने आदरसे वंशीके मधुर स्वरसे हमारे नाम पुकार-पुकार कर बुलाया था ! क्या यह हमारा भ्रममात्र था ? नहीं, अभी भी हमें ऐसा तो नहीं लगता; हमने अच्छी प्रकारसे सुना है। तो फिर वे इस प्रकारका नृशस व्यवहार क्यों कर रहे हैं ? इस प्रकारके निष्ठुर वाक्य क्यों बोल रहे हैं ? यदि हमें श्रीकृष्णके सान्निध्यकी आशा त्याग करनी ही पड़ी, तो हम सब वनवासी हो जावेंगी या यमुनाजलमें अपने प्राण विसर्जन कर दगी किन्तु अब लौटकर, घर नहीं जायेंगी।"

उपरोक्त बातें सोचते-सोचते ही मानो व्रजाङ्गनासे श्रीकृष्णकी दिशासे मुख फिराकर बनकी तरफ देखने लगीं। उन्हें ऐसा करते देखकर ही रसिक चूड़ामणि बोल उठे—"ओहो, इतनी देर बाद मैं तुम्हारे वनमें आनेका कारण समझ पाया हूँ। निश्चय ही तुमलोग वनभूमिकी अपूर्व शोभा दर्शन हेतु यहां आई हो। दिनभर तो घरके काममें व्यस्त रहती हो, इसीलिये रात्रिमें आयी हो। यह तो अच्छी ही बात है, इसमें तो मुझे कोई दोष नहीं दीखता। शरत्कालकी पूर्णिमा तिथि है, वनराजि चन्द्र-ज्योत्स्नासे उद्भासित होकर उज्ज्वल हो उठी है। पूर्णचन्द्रकी निरुपम सुषमा तो सभी प्राणियोंके हृदयमें आनन्दकी लहरें उत्पन्न कर देती हैं। पुष्पोंकी छटासे भी वनभूमिकी शोभा अपूर्व हो रही है। इसका आनन्द लेने हेतु तो किसका मन नहीं ललचायेगा ? शीतल-स्निग्ध पवनसे वृक्षोंके पल्लव कांप रहे हैं। ऐसा लगता है कि वनदेवी इनके अंगुलिसंकेतसे सभीको इस शोभा-सागरमें अवगाहन करने हेतु आह्वान कर रही हैं। तो तुमलोग इस शोभाको निहारने यहां आयी हो, इसमें कोई अपराध नहीं है। किन्तु बात यह है कि यह सारी शोभासम्पद तो तुम्हारे सम्मुख ही विस्तृत है। इधर दृष्टि फेरते ही इसके दर्शन हो जाते हैं। इतनी देर तक इस शोभाको देखकर अबतक तुमलोग निश्चय ही परितृप्त हो गयी होंगी। अब तुम्हें इस

कार्यसे विरत हो जाना उचित है। शोभा देखनेके बहाने वहीं पूरी रात्रि बिताना कोई अच्छी बात नहीं है। शोभा-दर्शन तो हो गया, अब गृहाभिमुख यात्रा करो।

यह बाते सुनकर गोपीजनोंने सोचा, "हाय हमारा दुर्भाग्य! जिनके लिये समस्त बंधन छिन्न-भिन्न करके, दुनियाँ-भरकी कलंककी गठरीसिर पर लिये, गृहत्याग करके यहां आयीं, वे ही व्रजजीवन हमारी मनोव्यथा को कुछ भी समझे बिना एतद् विपरीत वनशोभा की नई-नई युक्तियां जुटा करके हमें मर्मान्तिक वेदना दे रहे हैं! श्रीकृष्ण की इस वज्रतुल्य कठोर वाणीसे व्रजगोपियों की वाणी वेदना-भारसे एकदम अवरुद्ध ही गई। इधर श्यामसुन्दर किन्त बोलते ही चले जा रहे हैं। "कुलवती नारियोंके लिये तो अन्तःपुर ही प्रशस्त (उपयुक्त) स्थान है। अब तक वनकी शोभा का सम्यक दर्शन हो चुका है, अतः अब यहां अधिक कालक्षेप करना उचित नहीं है। अविलम्ब अपने गृह लौट जाओ वहां जाकर अपने पति का सेवा करो। इतनी देर से रज्जुद्वारा बधे हुए बेचारे भूखे वत्स करुणभावसे पुकार रहे हैं। घर लौटकर गोदोहनोपरान्त इन वत्सोंको शान्त करो। तुम्हारे शिशुगण भी दूधके लिये रोना कलपना कर रहे हैं; उन रोते हुए शिशुओं को दुग्धपान कराकर उनका रोदन बंद करावो।"।

गोपवधुएँ मानो श्रीकृष्ण की उपरोक्त व्यर्थकी बाते और अधिक सहन नहीं कर पारही थी। उनकी इच्छा हो रही थी कि अपनी पूरीशक्ति से चिल्ला करके कहें—"हे प्राणनाथ। अब हमें गृहसे कोई प्रयोजन नहीं रहा। हमें तो केवल तुमसे ही प्रयोजन है। हम लोग तुम्हारे द्वारा उपेक्षित यह देह इसी क्षण इन्हीं तुम्हारे चरणोंमें विसर्जित करके अब चिरविदा हीले लेंगी। किन्तु गोपीजनों की देह-मनमें यह बातें भी उच्चस्वरसे बोल सकें, इतनी शक्ति भी नहीं बची थी, अवशेष बच रहा था केवल अश्रुपात और असहाय दृष्टिपात।

उनकी दृष्टिमें महान नैराश्य की छाया देखकर श्यामसुन्दरने पुनः कहना प्रारम्भ किया—"हे व्रजाङ्गनाओं! मेरी बाते सुननेके बादभी तुमलोग वापिस व्रज नहीं जारही हो किन्तु मेरे पास ही यहीं खड़ी हो। इससे मैं अब सही-सही समझ पा रहा हूँ कि तुम क्यों आयी हो। निश्चय ही तुम मुझसे अत्यंत अधिक प्रेम करती हो, इसीलिये मुझे देखने हेतु यहां आयी हो। निश्चय ही मेरे प्रति तुम्हारी प्रीति अत्यंत प्रबल है, अन्यथा कुलरमणी होकर इस घोररात्रिकालमें इस गहन वनमें नहीं आ सकती थी। मेरे प्रति प्रेम हेतु तुम्हारा चित्त वशीभूत (यन्त्राशया) है इसीलिये स्थान-अस्थान समय-असमयके सम्बंधमें विचार करने की शक्ति भी खो बैठी हो। अन्यथा रात्रिकालमें वनमें परपुरुषके समीप कैसे आसकतीं? इस दृष्टिसे विचार करने पर मैं भी स्वीकार करने को बाध्य हो जाता हूँ कि तुम्हारा यहां आना युक्ति युक्त ही हुआ है (उपपन्नम्)।

श्रीकृष्णकी उपरोक्त कुछ बातें सुनकर व्रजाङ्गनाओं का मलिन मुख सहसा उत्फुल्ल हो उठा। प्राणोंमें प्रचुर आशा और आनन्दका संचार हुआ। उन्होंने सोचा कि चलो, इतनी देरबाद भी प्राण-दयित (प्राणप्यारे) हमारे यहां आगमनका सही कारण समझ तो पाये। जब सही बात समझमें आगयी है तो अब निश्चय ही उनके उपेक्षा-शरों से विद्ध नहीं होना पड़ेगा। "अब तो आदरयुक्त बात ही सुनेगी"-इस आशामें वे उत्कर्ण होकर श्रीमुखपर नेत्र गड़ाये खड़ी रही।

तब चतुर-चूड़ामणि श्याम चांद कहने लगे—"एक बात मैं प्रायः ही सोचता रहता हूं कि तुमलोग मुझे इस प्रकार इतना अधिक प्रेम क्यों करती हो? केवल तुमही नहीं, व्रजके सभी मुझसे इसी प्रकार प्रेम करते है। केवल नरनारियों की ही क्या कहूं, पशु-पक्षी पर्यन्त मुझसे इसी प्रकार प्रेम किया करते हैं ("प्रीयन्ते मयि जन्तवः)। गायें भी मुझे देखकर पागल-सी हो जाती हैं, वंशी सुनते ही ऊर्ध्वपुच्छ होकर दौड़ी आती हैं। जबमैं गायोंके पास चला जाता हूं तो अपने बछड़ो को चाटना छोड़कर मुझे चाटने लगती हैं। जब मैं वन में विहार करता हूं तो हरिणियाँ के झुण्डके-झुण्ड आकर मेरी तरफ निनिमेष दृष्टिसे ताकती रहती हैं और कभी-कभी मेरी देहसे अपने गात्रकी घर्षण करने लगती हैं। मुझे देखकर मयूर हर्षविभोर होकर पुच्छ विस्तार करके नाचना प्रारम्भ कर देते हैं। भ्रमर-समुदाय पुष्पों को त्यागकर मेरे चहुंदिक् गुञ्जन करते हुए उडने लगते हैं। बन्दर और पक्षीगण अपनी चञ्चलता का विसर्जन करके निर्वाक एवं निस्पन्द होकर मेरे मुखकी तरफ निर्निमेष दृष्टि से ताकते रहते हैं। यहां तक कि मेरे स्पर्शसे वन की वृक्षलताओं के अंगोंमें भी शिहरण होने लगती है। जब मैं वन-भ्रमण हेतु निकलता हूँ तो मेरे चरणतलोंमें कांटे-कंकर से पीड़ा न पहुचे" इस आशयसे वृक्षलताएँ पथ पर पुष्प वर्षा करके पथ को पुष्पोंसे आच्छादित कर देती हैं। स्थावर-जङ्गम सब-कोई मुझसे आन्तरिक प्रेम करते हैं। न जाने यह मेरे कोई विशेष भाग्य का ही फल होगा। मुझे सभी अयाचित एवं अहैतुकी प्रेम प्रदान करते हैं। अतएव तुम्हारे इस प्रेमसे मैं विस्मित नहीं हुआ हूं, मुझे यह युक्तियुक्त ही लगा है।

श्रीकृष्णके उपरोक्त वचनोंसे व्रजाङ्गनाओंको वज्राघातकी अपेक्षा भी अधिक मर्मान्तिक पीड़ा हुई। हताशाकी मर्मघाती वेदनासे वे अधीर हो गयीं। आपाततः बाह्यविचारसे तो श्रीकृष्णके वचन अत्यंत मधुर लगते हैं, किन्तु इनके भीतरमें

उपेक्षाका तीव्र कशाघात छिपा हुआ है। उन्होंने गोपीजनोंके प्रेमको स्वीकार तो अवश्य किया है, किन्तु उस प्रेमके साथ व्रजके समस्तजनोंके, यहां तक कि पशु-पक्षियोंकी प्रीतिकी समता दिखाकर गोपीजनोंके प्रेमके माहात्म्य एवं विशेषत्वको अस्वीकार कर दिया है। इससे अधिक भयानक उपेक्षा और क्या हो सकती है? गोपीजनोंके प्रेममें जो एक अनन्य साधारण वि·षत्व विद्यमान है, उपेक्षाके तीव्र आघातसे उस विशेषत्वको पूर्णतया अमान्य करने हेतु गोपीजन अगाध दुःखसागरमें डूबने-उतराने लगीं।

गोपीजन मन-ही-मन विचार करने लगी—"हे विधाता! प्रेमका यह फैसला सुनने हेतु ही क्या हमने सब कुछ का त्याग करके श्रीकृष्णके चरणोंका आश्रय लिया था? यह तो हमलोगोंके विदारुण दुर्भाग्यवश ही हुआ होगा, अन्यथा रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्ण इस प्रकार अरसिक, रसविचारहीन क्योंकर हो गये? इस स्थितिमें इस धरणीपर अब जीवनधारण करनेसे ही हमें क्या प्रयोजन रह गया है? अब तो जीवनधारण करना ही निरर्थक लगने लगा है।" गोपीजनोंके ईषत्-उत्फुल्ल मुख-मण्डलपर पुनः विषादरूपी मेघकी छायासे उत्पन्न कालिमा श्यामसुन्दरकी दृष्टिसे छिपी नहीं रही। फिर भी वे सम्पूर्णरूपसे उदासीन व्यक्तिकी तरह बोलने लगे—"तुमलोग मुझसे अतिशय प्रेम करती हो, किन्तु इसी कारणसे यदि संसारके श्रेष्ठ धर्म और कर्तव्यका उल्लङ्घन करो तो मैं उस प्रेमकी प्रशंसा नहीं करता। तुम मुझसे प्रेम करती हो, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु इसी कारण तुम धर्मभ्रष्ट होवो, यह बात मुझे रुचिकर नहीं है। नारी जातिका धर्म क्या है, जरा सुन लो। स्त्रियोंके लिये श्रेष्ठ धर्म तीन माने गये हैं—निष्कपटभावसे पतिकी सेवा करना, पतिके आत्मीय-स्वजनोंका सुखविधान करना एवं सन्तानका प्रतिपालन करना। इनमें भी पतिसेवा इन समस्त धर्मोंका शिरोमणि है। एक—निष्ठभावसे पति सेवा करनेसे नारीको सर्वप्रकारकी सिद्धियां सुलभ हो जाती हैं। सती नारी ही समाजकी सम्पदा है, जगत्का भूषण है।

श्रीकृष्णके उपरोक्त उपदेशात्मक बचन सुनकर गोपीजन दीर्घनिश्वास त्यागकर मन-ही-मम बोलीं, "देखो तो भाग्यकी विडम्बना! जिसके लिये सर्वधर्मको जलाञ्जलि देकर यमुनातट तक दौड़ी आयीं, वेही हमें धर्मोपदेश देकर घर लौट जाने की सलाह दे रहे हैं। हम तो यहां धर्मका तत्त्व सुनने नहीं आयी हैं। हम तो यहां प्राणप्रियकी पादपद्म सेवा की आशामें आयी हैं। और वही नहीं मिली तो फिर इस उपेक्षित देहको यमुनाजलमें विसर्जित करके हृदयकी समस्त ज्वालाओंको शान्त करेंगी।

गोपीजनोंके हृदयमें नाना भाव तरङ्गें उठ रही हैं, वे मानो श्यामसुन्दरको आर्तनाद करती हुई कहना चाह रही हैं—"हे व्रजसुन्दर! तुम भी जानते हो कि हमने बचपनसे ही तुम्हें ही पतिरूपसे प्रेम किया है। हमारे मातापिताने हमें जिनके हाथोंमें सौंप दिया है, उन्हें हम कभीभी हृदयसे पतिरूपमें ग्रहण नहीं कर पाई हैं। जो स्वल्प-सा बाह्य सम्पर्क भी उनके साथ था, वह भी तुम्हारी वंशी-ध्वनि श्रवणमात्रसे छिन्न-भिन्न हो गया है। हे प्राण-वल्लभ! तुम्हारे रूप, गुण, सौन्दर्यके साथ किसीकी तुलना हो सकती है क्या? जिसने तुम्हें कभी नहीं देखा हो, वही पति-सेवामें रत रह सकती है। तुम्हारे रक्तोत्पल सदृश चरणकमलोंकी सेवा करना ही हमारा महाव्रत है, एकमात्र धर्म है। हम अन्य सभी प्रकारकी सेवाओंको तिलांजलि दे चुकी हैं। यदि तुम हमारे हृदयकी यह बात अनुभव कर सकते तो फिर जैसा तुमने कहा है वैसी वाणीका उच्चारण ही नहीं कर सकते थे। किन्तु तीव्र वेदना हेतु गोपीजनोंके मुखसे एक शब्द भी नहीं निकल पा रहा। मनकी बात मनमें ही लय हो रही है॥ २०–२४॥

श्यामसुन्दर के वचनों में लुक्कायित कठोर उपेक्षा जन्य वेदना हेतु गोपीजनों के कण्ठ अवरुद्ध होगये। चिंता, उद्वेग, दैन्यादि महाभावोंकी तरङ्गे हृदयमें उठती है और बैठती हैं; किन्तु वे इन्हें भाषाका रूप नही दे पा रहीं। व्रजनागरने उनके शुष्क, मलिन मुख की तरफ वक्र-दृष्टिपात करते हुए कहा—"मेरे रूप-गुण सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर निज-पतियोंके साथ सम्बंध त्याग करने की बातको मनके किसी छोटेसे कोनेमें भी स्थान मत देना। पति ही सती-स्त्रियोंका आराध्य देवता है; उसमें कोई दोषभी हो तोभी उसदोषका विचार करनाभी महान अपराध है। सुशील और सौभाग्यशाली उपपति की सेवा करनेकी अपेक्षा दुःशील, भाग्यहीन निजपतिकी सेवा करना कोटि-गुणी श्रेयस्कर है। वृद्ध, जराग्रस्त, रोगी, निर्धन पतिका तिरस्कार करके सुन्दर, स्वस्थ, धनी पर पुरुषके प्रति आकृष्ट होना सती नारीके लिये अत्यंत गर्हित कार्य है और ऐसे कार्यका कल्पनायें भी विचार नहीं करना चाहिये अतएव तुमलोग मेरे रूप-गुण-सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर अपने निज-निज पतिके प्रति अश्रद्धा दर्शावो, यह बात तुम्हारे हृदयमें स्वप्नमें भी नहीं आनी चाहिये।

फिर, तुम्हारे स्वामी तो दुःशील, दुर्भाग्य, मूर्ख, वृद्ध, रोगी या निर्धन नही हैं। अतएव इहकाल एवं परकालके कल्याणका विचार लक्ष्यमें रखकर स्वयं को पतिसेवामें ही नियुक्त करो। पतित्त्याग केवल एक कारण से ही शास्त्र सम्मत एवं वैध माना गया है। वह कारण है—यदि किसी का पति दुर्भाग्यवश महापातकी हो ब्रह्महत्या, सुरापान, दूसरे की धरोहरका अन्यायपूर्वक अपरण और अगम्यागमन—ये चार महापातक माने है। किन्तु इस प्रकारके महापातकी पतिका भी पूर्णतः त्याग नहीं किया जा सकता, केवल जब तक निजकृत अपराधके लिये अनुतापपूर्वक शास्त्रसम्मत प्रायश्चित्तका विधान नहीं

कर लेता तब तक उसका संसर्गमात्र त्याग करना होगा। तुम्हारें पति कोई भी महापातकी नहीं हैं। अतएव तुम लोग अविलम्ब अपने अपने गृह लौट जावो। मन-वचन-कर्मसे पतिसेवा निष्ठ होकर रमणीजीवनको सार्थक करो।

श्रीकृष्णके इन वचनों को सुनकर गोपीजन मानो मन ही-मन में प्राणनाथसे निवेदन करने लगीं—"हे जीवन-सर्वस्व! हमने स्वप्नमें भी तुम्होर चरणोंके अतिरिक्त अन्य किसीके चरणोंकी सेवाके विषयमें सोचाभी नहीं है। हमारा हृदय भीतर बाहर केवल तुमसे ही व्याप्त है। अतः हमारा पतिव्यवहार भी तुम्हारे साथ ही होना उचित है। सुतरां हम तुम्हारीही सेवा करेंगी। तत्पश्चात् न हो तुम्हारे आदेशसे यथा सम्भव पति-सेवारूप कर्तव्यकाभी पलन करेंगी। तुम इस प्रकार निर्मम होकर हमें श्रीचरणोंकी सेवा से वञ्चित मत करो; सेवाधिकार प्रदान करके चरणोमें स्थान दो।"

गोपाङ्गनाओंके हृदयकी बात समझकर व्रजविहारी कहने लगे—"यदि तुम लोग मेरे साथ बाह्य व्यवहार रखोगी तो यह कार्य अत्यंत (निन्दनीय) होगा। पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषके साथ प्रणय व्यवहार करनेका नाम ही औपपत्य है। स्त्रीके जीवनमें यह दोषही सर्वापेक्षा गर्हित है। यह स्वर्गप्राप्तिमें प्रतिबन्धक, सर्वप्रकारसे यशोहानिकर तो है ही, अपरन्तु अत्यन्त निन्दनीय भी है। परनारीका परपुरुषके साथ सम्पर्क अयशस्कर, दुःखजनक एवं भयावह है। इहकालमें जनसमाजमें कलंक और परकालमें अन्धतम नरकों की यंत्रणा भीषण भयप्रद होती हैं।

श्रीकृष्णके उपरोक्त उपदेशात्मक एवं भयप्रदर्शक वचन सुनकर व्रजदेवियोंने मन-ही-मन प्राणदेवताके चरणोंमें निम्न निवेदन किया—"हे प्राणनाथ। तुम्हारी बातोंसे समझमें आ रहा है कि हमने पिताके अनुमोदनसे अग्निको साक्षी करके जिनके गलेमें माला अर्पण की है, वे ही हमारे पति हैं; और प्राणके अनुमोदन से हृदयका साक्षीकरके जिसके चरणोंमें अनुरागरूपी माल्य अर्पण की है, वह पति नहीं है। यह भा समझमें आ गया कि हमने अज्ञान और अनिच्छावश जिन्हें वरमाला पहिनायो किन्तु जिनके लिये हमारे हृदयके स्वल्पसे कोनेमें कोई स्थान नही है; स्वप्नमें भी हमने जिनका मुख देखा नहीं है, जिनके साथ प्रसङ्गका विचार भी प्राणान्तकर पीड़ा दायक है, उन्हींकी सेवासे हमें पति सेवा का पुण्य प्राप्त होगा। एतद्-विपरीत जो हमारे हृदयमें सर्वदा भीतर-बाहर विराजमान है, जिस अखण्ड-आनन्दघनमूर्तिकी हमें नित्य स्वप्न एवं जाग्रत अवस्थामें स्फूर्ति होती रहती है, जिसके विरहमें एक क्षण भी युगोंके समान और जिसके सग मिलन का युग भी एक क्षणके समान प्रतीत होता है; उसकी सेवा करने से हम औपपत्य-दोष की भागी होंगी। धन्य है तुम्हारा न्याय-विचार! यदि यही सत्य है तो ऐसा हो हो। हम न पुण्य चाहती है, न स्वर्ग चाहती है, न सतीत्व के यशकी इच्छा है। हम औपपत्य-दोषको ही हमारे अंगोंका आभूषण मान लेंगी; लोकनिन्दाको ही सुगंधमय पुष्पहार मानकर गलेमें धारण करेंगी। मेघकी ध्वनि सुनकर चातकी जिसप्रकार विह्वल हो जाती है, उसी प्रकार हम तो चातकी सजका तुम्हारी वंशीध्वनि सुनकर आई हैं। स्फटिक-स्वच्छ जल देगा तो भी ग्रहण करेंगी और व्रजाघात करेगा तो भी सहर्ष स्वीकार करेंगी। अब दुबारा कूपजल हेतु नहीं लौटेंगी। हम किसी प्रकार से भी तुमसे बिछुडने की तैयार नहीं हैं।

व्रजाङ्गनाओंके अन्तरकी बात जानकर अन्तर्यामी देवता श्रीकृष्णने उनपर अन्तिम वज्रतुल्य वाणीसे तीव्र कषाघात करते हुए कहा—"सुनो गोपाङ्गनाओं! तुम्हारा अद्भुत प्रेम देखकर मैं तो स्तम्भित हो गया हूँ। मेरे साथ तुम लोगोंका पति-पत्नी संबंध तो है नहीं। सुतरां परस्पर मिलनसे औपपत्य दोष तो लगेगा ही। मैंने तुम्हें नाना प्रकारकी युक्तियोंसे समझानेकी चेष्टाकी, किन्तु तुम तो समझना चाहती ही नहीं। सब प्रकारसे दोषावह मानकर भी तुम तो मेरा सग चाहती हो। तो इससे प्रेमका परिचय मिलेगा क्या? औपपत्य दोष केवल नारीको ही स्पर्श नहीं करता, परनारी-संस्पर्श-दोष पुरुषको भी लगता है। इस गर्हित कार्यसे पुरुषकी भी धर्महानि, यश-हानि होती है और सर्वत्र उसका निंदापवादका भागी होना पड़ता है। सुतरां तुम्हारे साथ मिलनसे मैं भी तुम लोगोंकी तरह पूरे दोष का भागी होऊंगा। तुम लोग यदि मेरी धर्महानि, यशोहानिरूप महान् अनिष्टका कारण बनोगी तो क्या यह बात तुम्हारे प्रकृत प्रेम की परिचायक होगी? प्रियजनों का क्षति पहुंचानेका नाम ही प्रेम है क्या? यदि तुम इसे ही उचित और सही मानती हो तो मैं तुम्हारे इस अद्भुत प्रेमका मर्म समझनेमें सम्पूर्ण रूपसे अक्षम हूँ। अङ्ग-सङ्ग ही प्रेमका लक्षण नहीं होता; जो ऐसा मानते हैं, वे भले ही मानें मैं इसे मानने में असमर्थ हूं। मेरी दृष्टिमें तो प्रेमका प्रकृत लक्षण है—अपने प्रियजनकी लीलाका श्रवण, दर्शन, स्मरण, मनन और ध्यान। मेरी लीलाओंके कथन, आस्वादन, निमज्जन आदिसे ही मेरे प्रति अनुराग वृद्धि प्राप्त होता। अङ्ग सङ्ग से अनुराग बढ़ता नहीं, दूसरे विपरीत उससे तो प्रेमके प्रति अनादर की भावना उत्पन्न होती है। श्रवण दर्शनादिसे प्रेमकी पुष्टि होती है; जबकि अङ्ग-सङ्गसे प्रेमकी हानि होती है। इस व्रजके सभी प्राणी मुझसे प्रेम करते हैं। मैं स्वीकार करता हूं कि तुम भी मुझसे प्रेम करती हो; इसमें मैं कोई संशय नहीं करता और तुम्हें ऐसा करने हेतु निषेध भी नहीं करता। जब तुम मुझसे प्रेम ही करती हो तो ऐसा करो कि निरन्तर मेरी कथामें ही अनुरक्त रहो। दूरसे मेरा दर्शन भी करो, मेरी लीलाओंका ध्यान करो। इसमें मैं बाधा नहीं देता, केवल इतना ही कहता हूं कि समीपमें रहकर, अङ्ग-स्पर्श करके निर्मल प्रेमको कलंकित मत करो। अपने-अपने घर लौट जाओ,

और अपने गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करो। वहां रहते हुए भी मेरी कथाके श्रवण-कीर्तनमें डूबी रहो। सङ्ग-कामना करके प्रेमका विलोप मत करो।

इस बार व्रजाङ्गनाएँ एकदम विस्मयसे अभिभूत होकर स्तब्ध रह गयीं। उपरोक्त वचनोंके तीव्र आघातसे भावतरङ्गे स्तिमित हो गयीं। अब क्या कहें? जो सुना, उसके पश्चात् और अधिक कुछ कहा नहीं जा सकता। "हमारे सङ्ग-दोष हेतु श्रीकृष्णका अनिष्ट होगा" इस बातको सुननेके पश्चात् कृष्णागतप्राणा गोपीजनोंके लिये बोलनेको बाकी रह ही क्या जाता है? श्रीकृष्णके सुख-विधान हेतु वे सब-कुछ कर सकती हैं, किन्तु ऐसा कोई भी कार्य नहीं कर सकतीं जिससे श्रीकृष्णका अनिष्ट होता हो। सुतरां श्रीकृष्णके इस अन्तिम भाषणसे तो उनकी केवल वाणी ही नहीं, भावना भी रुद्ध हो गयी॥ २५-२७॥

(९)

श्रीकृष्णने गोपीजनोंको लक्ष्य करके दश श्लोकोंका उच्चारण किया था। श्रीसनातनगोस्वामिपादने कहा है, "ये दश श्लोक नहीं हैं, मानो दश शुष्ककाष्ठके टुकड़े इन्धन रूपसे प्रयुक्त हुये हैं। उनमें औदासीन्य-वह्नि का संयोग किया है। श्लोकोंमें गोपीजनोंके प्रति जो निर्मम उदासीनता व्यक्त हुई है, वही वह्नि अर्थात् अग्नि है। प्रेम-कोमल गोपीजनोंके दश आशाओंकी दशों दिशाओं में (संस्कृतमें आशाका अर्थ दिशा भी होता है) दश काष्ठ-खण्डोंको स्थापित करके अग्नि-संयोग किया है। फिर कौतुक-प्रिय भगवान् श्रीकृष्ण इस अग्निज्वालामें तड़फती गोपीजनोंको देखकर मानो उस क्रूर दृश्य का खूब उपभोग करने लगे।

"दशश्लोकेन्धनैस्तासां प्रेमकोमलितात्मनाम्। आशासु सर्वास्वौदास्यवह्निं कौतुक्यजम्भयत्॥"

गोपीजनोंका आशारूपी गृह सम्पूर्णरूपसे दग्धीभूत हो गया (भग्नसङ्कल्पाः) श्रीगोविन्दका अप्रियभाषण सुनकर वे विपद-सागरमें डूब गयीं, भग्न संकल्पा हो गयीं और चिंतारूपी दुरत्यय (अगाध एवं अपारणीय) समुद्र में पतित होकर डूबने-उतराने लगीं। चिंता का विषय है—इतने दयार्द्रचित्त होते हुये भी श्रीगोविन्दने इतने कठोर बचन क्यों कहे? क्या यही उनकी यथार्थ उक्ति हैं (कथनीय आशय) अथवा ये वचन उनकी कोई कौतुकपूर्ण वाग्भङ्गी, परिहास या परीक्षा हेतु हैं? गोपीजन इस चिंताके सम्बन्धमें कुछ भी निर्णय नहीं ले पा रही हैं। गोपीजनोंकी चिंताका एक अन्य विषय भी है—"अब हमारा कर्तव्य है? (१) क्या हम श्रीकृष्णके चरणोंको पकड़कर उनसे अनुनय-विनय करें? नहीं, ऐसा करना उचित नहीं होगा। निर्लज्ज नायिकाकी भांति इस प्रकारका व्यवहार करनेसे श्रीकृष्णके साथ उनका मिलन भी सुनायक श्रीकृष्णका आनन्द-सम्पादन नहीं करेगा। (२) तो क्या हम श्रीकृष्णकी प्रत्येक उक्तिका समुचित उत्तर उन्हें सुना दें? नहीं, ऐसा करना भी उचित नहीं होगा। प्रगल्भा नायिकाके साथ मिलन आनन्ददायक नहीं होता। हम तो कृष्णानुराग दौड़ी आयी हैं। यह अनुराग कृष्ण-सुख-हेतु है, न कि आत्मसुख-हेतु। जिस कार्यसे श्रीकृष्णके सुखमें विघ्न उत्पन्न होता हो, वह कार्य तो हम हमारे प्राण जाने पर भी नहीं कर सकती। (३) तो क्या हम श्रीकृष्णके आदेशानुसार यहां से गृह लौटकर पति-सेवामें रत हो जाय? नहीं, ऐसा करना भी उचित नहीं होगा। ऐसा करनेके पश्चात् तो जीवनमें श्रीकृष्णप्राप्ति की कोई आशा ही अवशेष नहीं रहेगी। क्या हम वमि किया हुआ पदार्थ पुनः सेवन करके वान्ताशी बनेंगी? (४) तो क्या हम श्रीकृष्णके सम्मुख खड़ी ही रहें? इसी मध्य यदि कोई घरसे यहां आकर हमें देख ले और फिर वापिस पकड़कर घर ले जाय, तब तो सर्वनाश ही हुआ समझो। अथवा ऐसा भी तो हो सकता है कि हमें अपने सम्मुख दीर्घकालावधि दण्डायमान देखकर श्रीकृष्ण ही यहांसे कहीं अन्यत्र चले जायँ। तब तो सम्पूर्ण भावसे सर्वनाश ही जायेगा। (५) अच्छा, यदि हम कृत्रिम शठताका प्रदर्शन करते हुये व्रजाभिमुख गमनका अभिनय करें तो? नहीं, यह भी उचित नहीं होगा। हम ऐसा करें और चतुर श्रीकृष्ण हमें मनाकर लौटनेका आह्वान न करें, तबतो फिर वापिस लौटनेका पथ ही बंध हो जायेगा। श्रीकृष्ण-प्राप्तिकी आशा चिरकालके लिये समाप्त हो जायेगी। (६) यदि हम प्राण ही त्याग दें तो? किस प्रकार और कहां त्यागेंगी प्राण? श्रीकृष्णके सम्मुख ही खड़ी-खड़ी प्राण त्याग दें या यमुनामें कूदकर प्राण त्यागें? किन्तु मरनेसे ही श्रीकृष्ण-प्राप्ति हो जायेगी, ऐसी कोई निश्चयता है क्या? और यदि ऐसी निश्चयता नहीं हो, तो फिर मरनेसे क्या लाभ है? (७) अच्छा, मान लो हम जीवित ही रहें, उस स्थितिमें श्रीकृष्ण-उपेक्षित यह जीवन तो भार-स्वरूप ही होगा और इस भारको हम कैसे वहन कर सकेंगी? जो श्रीकृष्ण-भजनमें बाधक हैं और जिनके बधनको हमने छिन्न भिन्न कर दिया है, फिर लौटकर उन्हींके समीप जानेका विचार तो मनमें ही नहीं आता। श्रीकृष्णसेवा-वञ्चित जीवन ही व्यर्थ है; और श्रीकृष्ण प्राप्तिकी आशा-विहीन मृत्यु भी व्यर्थ है।" इस प्रकार अपने कर्तव्य निर्धारणका विचार करती हुयी व्रजाङ्गनाएँ महा-चिन्तानलमें दग्ध होने लगीं। चिता तो मृतको ही जलाती है किन्तु चिंता तो जीवितको ही जलाती रहती है। दुश्चिंताकी ज्वाला चिताकी ज्वालाकी अपेक्षाभी शतगुणी अधिक होती है।

व्रजाङ्गनाएँ अब जीवन-मरण, मंगल अभंगल, आशा-निराशा इन सभीको श्रीगोविन्दके पादपद्मोंमें अर्पित करके जहां खड़ी थीं वहीं दण्डायमान रहीं। चातकी-समूह मेघ-गर्जना सुनकर आया था। कृष्णजलधरने लीलामृतकी वर्षा न करके हलाहलकी वर्षाकी। उस हलाहलपानकी तीव्र ज्वालाको सहन करती हुयी भी गोपीजन वहीं खड़ी रहीं। वे अपने निज-स्वभावसिद्ध व्रतका क्यों त्याग करेंगी?

प्रियजनोंके आदर-अनादरको समदृष्टिसे देखना शुद्ध प्रेमका एक विशिष्ट लक्षण है। भले ही प्राणप्रिय प्रगाढ़ प्रेमालिङ्गनसे आनन्दप्रदान करें या अपने अ-दर्शनसे मर्मान्तिक वेदना दें—सच्चे प्रेमियोंकी भावना होगी—"प्राणनाथस्तु स एव नापरः"—मेरे प्राणनाथ तो वही हैं, अन्य कोई नहीं हो सकता।

श्रीशुकदेवजीने गोपीजनोंकी इस दशाका वर्णन करते हुये पहला पद ही लिखा है—"कृत्वा मुखान्यव" (२९।२९)। गोपीजनोंने अपना मुख नीचा क्यों कर लिया, अधोवदना क्यों हो गयी? इस पर कुछ उत्प्रेक्षायें निम्न हैं—(१) गोपीजनोंने सोचा, शायद ये हमारे कोमल-प्राण प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण नहीं हैं। कोई अन्य पुरुष होगा। अतः श्रीकृष्ण-भिन्न अन्य किसीका मुखदर्शन नहीं करेंगी। (२) गोपीजनोंने सोचा, श्रीकृष्णका मुख निर्दय हो सकता है किन्तु उनके श्रीचरण तो करुणाके सागर हैं। अतएव श्रीचरणों पर दृष्टि गड़ायी रखें, देखें उन्हें हम पर दया आती है या नहीं! (३) गोपीजनोंने सोचा, हो सकता है श्रीकृष्ण हमें पहिचान नहीं पाये हो अतः हमें अन्य स्त्रियां मानकर इस प्रकारकी बाते कही हों। क्यों नहीं पहिचान सके? इसके लिये दी गई उत्प्रेक्षा अति सुन्दर है। सम्भव है. व्रजाङ्गनाओंके मुखचन्द्रको देखकर श्यामसुन्दरके नयन-पद्म निमीलित होगये। अतः हम अपना मुख नीचे करलेंगी तो पद्म फिर खिल उठेंगे और तब श्याम हमें पहिचान सकेंगे। अब पहिचान लेंगे तब ऐसे कटु वाक्य नहीं बोलेंगे। (४) जो जितना भार उठा सकता है, यदि उसके ऊपर तदपेक्षा अधिक भार लाद दिया जाय तो उसका मस्तक झुक जायेगा। गोपीजनोंके दुःख का भार इतना अधिक हो चुका है कि उनका सिर सहज ही नत हो गया। इससे उनके मनमें एक अन्य विकट चिंता उत्पन्न हो गयी यदि श्रीकृष्ण इसी समय यहां से चले जाय तो वे तो सिर उठाकर श्रीकृष्णको देख नहीं सकेंगी। अथवा, अभी उनके हृदयमें जो भीषण ज्वाला धधक रही है, उसके यदि उनके प्राण अभी निकल जायँ, तब तो गोपियों का मृत्युकालके समयभी श्रीमुखदर्शन नहीं हो पायेगा। सुतरां वे मानो दुःखको कह रही हैं—"हे दुःख! हमारे कृष्णउपेक्षित जीवनके तुम ही तो चिर-सङ्गी हो। कुछक्षणोंके लिये तो जरा हमें छोड़ दो; सिर उठाकर एकबार उनके मुखचन्द्रका अन्तिम दर्शन तो करलें। फिर तो जीवन भर तुम्हारे साथ ही जीवन बितायेंगी।

व्रजाङ्गनाओं का सिर नीचे झुका हुआ है; वे दुःखके भारसे प्रपीड़ित हैं। उनके बिम्बफल-सदृश सुन्दर अधर शोक सन्तापजनित घन-घन दीर्घनिःश्वास हेतु विशुष्क हो गये हैं। नेत्रोंके कज्जल को धोकर बहाती अश्रुधारा स्तनोंमें लिप्त कुंकुम का भी क्षालन कर रही थी। वे चरणों की अंगुलियों द्वारा मिट्टी कुरेदती हुई नीरव वहीं खड़ी रहीं। "अवनत आनने नखे लिखु धरणी"—किन्तु वे धरणीकी पीठ (मिट्टी) को क्यों कुरेद रही हैं? धरणीका एक नाम है सर्वसहा। पृथिवीपर लकीरें कारती हुयी मानो धरणीमाताको पुकार कर कह रही हैं—"मा, जरा इधर आकर हमारे पार्श्वमें खड़ी हो कर कृष्णकी उपेक्षा-वाणी सुनो। हम भी देखें तो, ऐसे कटुवाक्य तुमभी सहन कर सकती हो क्या? हम निश्चय पूर्वक कह सकती हैं कि ये वाक्य तुम भी सहन नहीं कर सकोगी। यदि तुम सहन नहीं कर सकी तो फिर तुम्हारा सर्वसहा नाम सार्थक कैसे होगा? अथवा पृथिवीके वक्षको कुरदती हुई कह रही हैं कि हम अब तक तो अपना कर्तव्य निश्चित नहीं कर पायी थी, किन्तु अब निश्चत कर लिया है। हे मातः, तुमतो सीता-जननी हो। द्विधा त्यागकर इन दुःखिनी कन्याओंको भी सीता की भाँति अपनी गोदमें स्थान दो, ताकि श्रीकृष्णके उपेक्षा बाणों की तीव्र व्यथा शांत हो जाय।

गोपीजनोंका वक्ष-कटाह वेदना-रूपी तापसे विदीर्ण हो रहा था। नयनोंने सोचा, "वक्ष विदीर्ण हो गया तो हमारी भी मृत्यु हो जायेगी और हम भी श्रीगोविन्दके मुख-दर्शनसे वञ्चित रह जायेंगे, अतः वक्षकी रक्षा करनी आवश्यक है। तापसे कटाह विदीर्ण न हो जाये इस उद्देश्यसे नयन प्रबल वेगसे अश्रुधारा बहाने लगे। अश्रुजलधारा तप्त वक्षको आर्द्र करने लगी किन्तु तापकी प्रबलता हेतु अल्पक्षणोंमें ही वक्ष पुनः सूख जाता। नयनोंकी यह जल-वर्षण चेष्टा अनेक देर तक चलती रही।

नेत्रोंके काजलको घुलाकर अश्रुधारा बह रही है; उससे नेत्रोंसे लेकर वक्षपर्यन्त दो काली रेखाएँ अंकित हो गयी हैं। सुथार जब काष्ठ चीरते हैं तो पहिले एक काली रेखा खींच लेते हैं और फिर वे उस रेखाके ऊपरसे करवत चलाते हैं। गोपीजनोंके अङ्गों पर अंकित काली रेखाएं मानो व्यञ्जित कर रही थीं कि श्रीकृष्ण-विरहरूपी क्रकच (आरा) अभी उनकी देहको चीरकर खण्ड खण्ड कर देगा। गोपीजनोंने वक्षपर कुंकुम का लेप श्रीकृष्णके सुखसम्पादनहेतु किया था किन्तु अब तो वे उपेक्षिता हैं, अतः कुंकुमकी क्या आवश्यकता रही? इसीलिये नयनजल काजलको धोकर निश्चिह्न कर रहे थे। सेवा-वञ्चितोंको किसी प्रसाधनकी क्या आवश्यकता है?

महान् दुःख हेतु गोपीजनोंका मस्तक अवनत है। उनके नेत्रोंमें उच्छ्वसित अश्रुजलका प्लावन आया हुआ है। महाक्षोभवश उनके कण्ठ अवरुद्ध हैं। "तुष्णीं तस्थुः"—"चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे"—वे श्रीकृष्णके समीप निर्वाक् निस्पन्द मूर्त्तिकी भांति दण्डायमान रहीं, मानो आनन्दघनके सन्निकटमें महावेदनाका एक सजीव मर्मान्तिक दृश्य हो। श्यामसुन्दरने गोपीजनोंके परम प्राण-प्रियतम होकर भी नितान्त संवेदनहीनकी भांति वचन कहे हैं। इससे गोपीजनोंको असहनीय कष्ट हुआ है, किन्तु इतनी दुःखी होने पर भी वे प्राण-गोविन्दके सान्निध्यका परित्याग नहीं कर रही हैं। किन्तु वेदना इतनी तीव्र है कि जब सम्भवतः प्राण देहमें नहीं टिक पायेंगे, किसी भी क्षण बहिर्गत हो जायेंगे।

देवी योगमायाने उनके प्राणरक्षा करने का उपाय किया। समुद्रजलमें तरङ्ग के बाद तरङ्ग उठती रहती है, गोपी-भाव समुद्रमें भी उसी प्रकार तरङ्गे उठती रहती हैं। एक अभिनव तरङ्ग उठी—प्रणय कोप तरङ्ग। इस तरङ्ग के उदयके साथही गोपी-जनों के रुद्ध-कण्ठ थोड़े खुले, गद्गद होगये। अपने गलदश्रुव्याप्त नयनजलको वे स्वयं ही पोंछने लगीं। अब कृष्णार्थे सर्वत्या-गिनी अनुरागिणी गोपियोंने श्यामसुन्दर को कुछ बातें सुनायीं। उन्होंने क्या कहा उसको अब सुनेंगे किन्तु तत्पूर्व एक विवेचना तो करलें कि श्रीकृष्णने इतने कष्टदायक उपेक्षापूर्ण वचन उनको क्यों कहे।

गोपीजन श्रीकृष्णके समीप वंशीकी पुकार पर द्रुतगतिसे दौड़ी आयी हैं। किस अवस्थामें आयी हैं, वह सारी बातें कहीं जा चुकी हैं। किन्तु वे अपने हृदयके भीतर कितनी और किस प्रकार की आकुलता लिये हुये आयी हैं, यह अभीतक नहीं बताया गया। श्रीशुकदेवजी उस बातको बोल नहीं सके, बोलनेका साहस भी नहीं जुटा सके। जिसके हृदयमें व्याकुलता है, वह जानता है कि उसकी तीव्रता कितनी है। इस गंभीर वार्ताको वह-ही बता सकता है। अन्य व्यक्तितो केवल यह अनुमान कर सकता है कि किसी वेगके वश होकर ये दौड़ रही है। उनके गतिवेगका, गतिकाल की अङ्गभङ्गी का भलेही कितना भी विश्लेषण किया जाय किन्तु इस तथ्य का पता नहीं लगाया जा सकता कि वह क्यों दौड़ रहा है रेलगाड़ी पकड़ने हेतु, डाक्टर को बुलाने हेतु, कार्यालय जाने हेतु अथवा अन्य किसीभी प्रयोजन से दौड़ सकता है। जिसके हृदयकी आन्तरिक संवेदनाके विषयमें हम जानना चाहते हैं, वह स्वयं जब तक खुलकर हमें इसके विषयमें नहीं बतावे तबतक इस विषयके सही ज्ञानका अन्य कोई उपाय नहीं है। गोपीजनोंके हृदयकी बात जबतक स्वयं उनके ही मुख से प्रकट नही होती, तबतक श्रीशुकदेवजीके प्राणोंमें भी शान्ति नहीं है।

गोपाङ्गनाओं के अभिसारमें गीता की "सर्वधर्मान् परित्यज्य" वाणी मूर्त्त होकर साकार हुई। यह धर्म त्याग कोई बाह्य व्यापार नहीं है। शारीरिक मानसिक अथवा बौद्धिक बलके सहारे इसका अनुष्ठान सम्भव नहीं है। गोपीजनों ने धर्मत्याग हेतु किसी प्रकार का प्रयास नहीं किया। श्रीकृष्णके प्रति प्रगाढ अनुरागवश धर्मका त्याग सहजरूपसे ही होगया है। यदि हृदयके गंभीरतम अन्तस्तलमें प्रबल अनुराग-शक्ति विद्यमान नहो तो यह त्याग सम्भव ही नहीं है। भावनाके इस गभीरतम प्रदेशमें भीतर उतरकर अनुरागकी वार्ता बाहर लानी होगी। इसे कौन निकालकर लायेगा जब तक गोपीजन स्वयं इसे प्रकट नहीं करें, तब तक अन्य किसीको उसके सम्बंधमें ज्ञान होना असंभव है। जब तक गोपीजनोंके आन्तरिक प्रेमका स्वरूप स्वयं उनके ही श्रीमुख से व्यक्त नहीं होता, तबतक रस-शास्त्र अधूरा ही रह जायेगा। गीताका मंत्र अपने सम्पूर्ण अवयवों समेत मूर्त नहीं हो सकता। किन्तु अपने अनुरागकी कथा कोई स्वयं कहता है क्या ? कहने से सुन्दर भी नहीं लगती कारण उसमें रस-दुष्टता का दोष हो जाता है। इसीलिये गोपीजन यह बात प्रकट नहीं कर सकतीं। किन्तु शास्त्रकारकी इच्छा है, उनके मुख से बुलवा सकें तो ही प्रसंग विचार अत्युत्तम रूपसे सम्पादित होगा।

जीवमात्र आनन्द हेतु सर्वदा लालायित है, आनन्द का प्यासा है; और श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दघनविग्रह हैं। इस आनन्दप्राप्तिके पथका अनुसंधान देने हेतु एक आचार्य एवं गुरु की आवश्यकता है, जिनके द्वारा प्रदर्शित पथका हम अनुकरण कर सकें। निखिल जीवोंके श्रेष्ठ गुरु तो गोपीजन ही हैं। अद्यावधि उन-सदृश व्याकुल होकर श्रीकृष्णानुसन्धान हेतु कोई अन्य धावमान नहीं हुआ। गुरुका अनुध्यान केवल उनके बाह्य स्वरूप को देखकर नहीं करना चाहिये। उनमें जिस भावकी अभि-व्यक्ति स्पष्टतया परिदृष्ट हो रही हो, उस भावका ही अनुध्यान करना होगा। जिस भावके बलसे ये भावमयी व्रजाङ्गनाएँ समस्त सांसारिक वस्तुओंको तुच्छ समझकर दौड़ी चली गयी, उस भावका अनुभव प्राप्त करना होगा। किन्तु यह अनुभव हम प्राप्त करेंगे किससे ? गोपी स्वयं कृपा करके यदि अपने अन्तरकी अनुभूति हमें न बताये तो हम इसको जानेंगे कैसे ? किन्तु गोपीजनों ने कृपा करके इस विषयमे कुछ भी नही बताया। तब किसी अन्य उपायसे यह बात उनके मुखसे निकलवानी पड़ेगी; और उस उपायका आविष्कार किया है स्वयं रसराजने।

आनन्दघन श्यामसुन्दरके हृदयमें भी न जाने कितनी कामनायें स्फुरित होती रहती हैं। उन्हें। आज यह जानने की कामना हुयी है कि गोपीके हृदयके अन्तरतलमें जिस मधुमय रसकी अनुभूति भरी हुयी है उसके विषयमें गोपीके स्वमुखसे सुनेंगे। किन्तु प्रेम तो एक नीरव-गीति है, उसे वाणी से प्रकट करने पर प्रेम क्षुण्ण हो जाता है। नारियलके जलको अन्य

पात्रमें उड़ेलकर पीनेसे उसका स्वाद ही बदल जाता है। यदि उसका पूर्ण स्वाद ग्रहण करना है तो नारियलमें ही मुंह लगाकर पीना होगा। प्रियतमाके अन्तर्हृदय की बात—उसमें निहित मधुका पूर्ण आस्वादनतो विरह के माध्यमसे ही करना होगा। मिलन-कालमें प्रेमकी चर्चा विशेष रसावह नहीं होती, । किन्तु बिरहमें वही रस की पुष्टि करती है। इसलिये यदि गोपी को विरहिणी बनाकर उसीके मुखसे उसके प्राणों को निचोड़कर निकली हुयी उसके अन्तर्हृदय की समस्त वार्ता किसी प्रकारसे सुनी जा सके तो श्यामसुन्दर की कामना पूर्ण हो।

प्रेमका प्रकृष्ट परिचय विरहमें ही मिलता है। विरहकालमें प्रिय हेतु प्रियाके हृदयमें जो कातरता या व्याकुलता होती है, उसको देखने-सुननेकी कामना प्रत्येक प्रेमिकके मनमें रहती है। किन्तु इस कामनाको पूर्ण करनेमें रस-शास्त्र असमर्थ रहा है, कारण प्रेमिक विरहिणीके समीप आते ही उसका विरह लुप्त हो जाता है। उसके नयनोंसे बहती हुई अश्रुधारा समाप्त हो जाती है और मुखपर हास्यकी छटा खिल जाती है। सुतरां विरहकालकी आर्ति देखने एवं बिरहका रुदन सुननेका अवसर कहां मिला ? रसशास्त्रने इस असम्भवताको भी दूर करनेका कुछ प्रयास किया तो है, किन्तु प्रयास सफल नहीं हुआ। दूरसे पत्र पढ़कर, छिपकर देखनेसे अथवा छद्मवेशमें उपस्थित रहकर अल्पांशमें इस कामनाकी पूर्ति हो सकती है। किन्तु इससे विरहिणी के सन्निधानमें अवस्थान करते हुए, उसकी विरह-वेदनाका अनुभव साक्षात् कहां सम्भव होता है ?

आज रसशास्त्रकी इस चिरन्तन समस्याका समाधान होगा। आज रसराज श्रीकृष्ण स्वयं इन अनुरागिणियोंको ऐसे बचन कहेंगे कि जिससे वे उनके सन्निधानमें ही विरहके तीव्रतापसे दग्ध होने लगेंगी और इसके फलस्वरूप अपने अन्तरकी समस्त वार्त्ता उलीचकर प्रकट कर देंगी। श्रीकृष्णके उपेक्षावचनोंके फलस्वरूप अघटन घटेगा—मिलन एवं विरह एक ही स्थानपर दृष्टिगोचर होंगे। इससे श्रीशुकदेवजी तृप्त होंगे, गीता-शास्त्र सार्थक होगा, एवं रागानुगा मार्गके भक्तवृन्द प्रीत होंगे। श्रीगोविन्दकी कामना भी पूर्ण होगी और रसशास्त्रपर लगा अक्षमताका कलंक दूर होगा।

आज दुःखभाराक्रान्त गोपीजनोंके उत्तरसे सभीको लाभ होगा—गीताको, भागवतको, गोविन्दको। हम समस्त जगज्जीव भी उसी आनन्दपथके यात्री हैं। इस पथकी एक परम प्रयोजनीय और रमणीय गोपन वार्त्ताको सुनकर हमभी लाभान्वित होंगे। तो क्या केवल गोपियों के पल्ले ही नुकसान पड़ेगा ? उनके भाग्यमें क्या केवल रोना ही लिखा है ? नहीं, उन्हें भी अन्ततः लाभ होगा।

गोपीजनोंको तो न जाने कितनी बार रुदन करना पड़ता है। किन्तु रोनेकी क्रिया कभीभी श्रीकृष्णके सम्मुख नहीं होती। पूर्वराग-विरहका रोदन, मान लीलाका रुदन, माथुर-विरहका रुदन—सभी रुदन तो प्राणनाथकी अनुपस्थितिमें हुए हैं। श्रीकृष्ण गोपीजनोंका अपने हेतु रुदन तो आज ही उनके सम्मुख बैठे हुए देख रहे हैं, हँस रहे हैं, उसका उपभोग कर रहे हैं। उनकी कामना पूर्ण हुई इसलिये आनन्दित भी हो रहे हैं। आजके रुदनसे अपने हृदयके प्रगाढ आन्तरिक अनुरागकी गोपन वार्त्ता प्रकाशित करके गोपीजन प्राणकान्तकी सेवा—सुखविधान करेंगी। यही तो परम लाभकी बात है। श्रीगोविन्दके उपेक्षा वचनोंसे व्यथित होकर गोपी क्रन्दन करेगी किन्तु उस क्रन्दनसे जगत्के नर-नारी धन्य होंगे, जगत्की साहित्य-सम्पद् समृद्ध होगी।

इतनी विस्तृत आलोचनाके पश्चात् स्पष्ट समझमें आया कि "वदतां श्रेष्ठः" अर्थात् वाग्मिश्रेष्ठ श्रीकृष्णने वाग्विलाससे मुग्ध करते हुए ("वाचःपेशैर्विमोहयन्") दश श्लोकोंमें जो भाषण दिया वह कितना मूल्यवान है। मानो यह भाषण तो गोपीके हृदय-सम्पुटको खोलनेकी गुप्त चाबी है ॥ २८-३० ॥

(१०)

श्रीकृष्णको चारों दिशाओंमें घेरकर व्रजाङ्गनाएँ अपने-अपने यूथमें सम्मिलित होकर दण्डायमान हैं। चारों दिशाओंमें गोपीजनोंकी पृथक्-पृथक् चार यूथोंकी श्रेणियां हैं। भावभेद-अनुसार श्रेणियां विभक्त हैं—स्वपक्ष, विपक्ष, सुहृत्पक्ष और तटस्थ पक्ष। जो गोपियां श्रीराधाके सङ्ग श्रीकृष्णका मिलन कराने हेतु सतत चेष्टारत हैं, वे स्वपक्ष की गोपियां है जैसे कि ललिता, विशाखा प्रभृति। जो गोपियां श्रीराधाकृष्ण-मिलनमें प्रतिबन्धक रहती हैं, बाधएँ उपस्थित करती हैं, वे विपक्ष यूथमें हैं जैसे कि चन्द्रावली, पद्मा, शैव्या प्रभृति। जिन गोपियांका स्वपक्षके साथ भी सौहार्द है अर्थात् जो श्रीराधाकृष्णमिलन हेतु चेष्टारत रहती हैं, अथ च जिनका विपक्ष यूथके साथ भी कोई विरोध नहीं है, वे सुहृत्पक्षीया गोपियां हैं। जो गोपियां श्रीराधा अथवा चन्द्रावली, दोनोंमें से किसीके भी साथ श्रीकृष्णके मिलन, विलास आदिसे समान रूपसे आनन्दित होती हैं और किसीका पक्षापात नहीं करतीं, वे तटस्थ-पक्षी यूथके अन्तर्गत हैं। साधन-सिद्धा गोपियां अपने साधनकी पूर्णता हेतु गोपी-देह प्राप्त करके व्रजमें जन्म ग्रहण करती हैं। अपने-अपने भावानुसार वे उपरोक्त यूथोंमें से किसी एकमें श्रेणीयुक्त होती हैं।

श्रीकृष्णके भाषणके प्रत्युत्तरमें गोपीजनोंने एकादश श्लोक कहे हैं। तीन यूथोंने प्रत्येकने तीन श्लोक कहे हैं और एक यूथने दो श्लोक कहे हैं।

प्रथम यूथेश्वरी बोलीं—"मैवं विभोऽर्हति भवान्"। यहां श्रीकृष्णको प्राणवल्लभ नहीं कहकर 'विभो' कहकर सम्बोधन किया है। यह वक्रोक्ति है। जो न्याय; अन्याय का विचार किये बिना अपनी इच्छानुसार आचरण करते हैं, उन्हें 'विभु' कहा जाता है। वे चाहें तो किसीको अपने समीप रख भी सकते हैं, चाहें तो उन्हें भगा भी सकते हैं, उन्हें गोदमें भी उठा सकते हैं अथवा पदाघात भी कर सकते हैं। इस वक्त वे ही 'विभु' वाक्याघात करके गोपीजनोंको तिरस्कार करके दूर भगा रहे हैं। गोपी बोली, तुम विभु हो, अतः जैसी इच्छा हुई वैसा आचरण कर सकते हो, कारण इस प्रकार का आचरण करनेका तुम्हें अधिकार प्राप्त है। किन्तु अधिकार होनेसे ही उसका प्रयोग बिना सोचे-समझे नहीं करना चाहिये। तुमने अत्यन्त नृशंस वचनोंका प्रयोग किया है। तुम्हारा रूप सुन्दर हैं, कण्ठ भी मधुर है, फिर इससे इतनी कठोर भाषा का उच्चारण हुआ कैसे? ऐसा करना तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम्हारे इन नृशंस वाक्याघातोंके फलस्वरूप अब तुम्हारे सन्निधानमें ही इतनी सारी रमणियोंकी मृत्यु होगी। तुमने हमें धर्मोपदेश दिया है—"स्वामीसेवा नारीका परम धर्म है"। तुम हमें तो धर्मोपदेश दे रहे हो और स्वयं अत्यन्त धार्मिक बनने का ढोंग कर रहे हो। अतः तुम "दुखग्रह" हो अर्थात् स्वेच्छाचारी एवं स्वच्छंद आचरण करने वाले हो, मानो तुम्हारे ऊपर धर्मनीति का कोई अंकुश ही न हो। तुम हमें व्रजपुर लौट जाने हेतु कह रहे हो, किन्तु अब हमें लौटकर व्रजपुर नहीं जाना होगा। व्रजपुर की अपेक्षा यमपुर अधिक निकटवर्ती है। तुमने हमें जो वाक्य-विष खिलाया है उसके फलस्वरूप हम यमपुरके समीप ही पहुंच गयी हैं, अतः अब हम यमपुरकी यात्रा करें और तुम हमारी हत्या के पाप-भारको लेकर व्रजपुर जाओ! तुम्हारे वाक्य-विषकी ज्वाला इतनी तीव्र है कि हम इसे और अधिक सहन नहीं कर पा रही हैं "अकरुण वचन विशिख नाहि स हइ।।"

किन्तु मृत्युसे पूर्व तुम्हारी कुछ जिज्ञासाओंका उत्तर देलें। तुमने जिज्ञासा की है—"प्रियं किं करवाणि?"—क्या प्रिय करूं? । क्या प्रिय करना है, सुन लो।

"सन्त्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलं भक्ता भजस्व"—हम अपने समस्त विषय, पति प्रभृति स्वजन एवं धर्म, लज्जा आदि भूषणों का त्याग करके यहाँ आयी हैं। हमने इनका सम्यक् रूपसे ही त्याग किया है। हमने इन सबका इस दृढ निश्चय के साथ ही त्याग किया है कि पुनः कभी इनका ग्रहण नहीं करेंगीं और यह इस आशासे किया है कि शेष जीवन तुम्हारे चरणकमलोंकी सेवा करेंगीं। अतः तुम हमारा त्याग मत करो वरञ्च 'भजस्व'-हमारी मनोकामना पूर्ण करो।

तुमने हमसे व्रजकी कुशल-जिज्ञासा की है। उत्तर सीधा-सा है-हम जिसका त्याग करके आयी हैं उसकी कुशल-अकुशल का कोई संवाद हम नहीं रखतीं। तुमने हमें भय दिखाया है कि रात्रि घोररूपा है और वनमें बहुत हिंस्र प्राणी हैं। यह भी कहा है कि आत्मीय स्वजनोंको दुःख देना उचित कार्य नहीं है। हमने आत्मीयोंके प्रति प्रीति और निज प्राणों हेतु भीति-उभयका ही त्याग कर दिया है। फिर तुमने हमें वनकी शोभा देखनेकी बात भी कही है। तुम्हें हमारा एक निश्चित निर्णय सुना दें—तुम्हारी श्रीमुख-शोभा व्यतीत और किसी शोभाको देखनेकी वासना हमने बहुत पहिले ही त्याग कर दी है। सुतरां ये सभी बात व्यर्थ हैं। जिस मानसिक एवं आन्तरिक वेदना सहित हम समस्त स्वजनों एवं ममतास्पद वस्तुओंका परित्याग करके तुम्हारे चरणोंकी सेवार्थ यहां आयी हैं, इसप्रकारसे यदि कोई आदि-पुरुषदेव नारायणकी भजना करता तो वे भी उसकी मनोकामना पूर्ण कर देते, निश्चय ही कृपा पूर्वक उसका अङ्गीकार कर लेते।

तुमने हमें बहुत-सारा धर्मोपदेश दिया है। इतने दिन तक हमें तो ज्ञात ही नहीं था कि तुम इतनी अच्छी-अच्छी धर्म की बातें जानते हो। चलो आज हमें यह भी ज्ञात हो गया। तुमने हमें नारी धर्मके सम्बन्धमें जो उपदेश दिया है वह सुन लिया। तुमने कहा कि नारीका धर्म पति-सेवा, पतिके स्वजनोंकी परिचर्या एवं सन्तान-पालन है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुम्हारा यह उपदेश अत्यन्त मूल्यवान है, जगत्का कोई भी व्यक्ति इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता। तुमने जो भी कहा है सब यथार्थ है, किन्तु हमारा केवल एक निवेदन है कि हम इस उपदेश का योग्य पात्र नहीं है। अतः तुम इस मूल्यवान उपदेशको लौटाकर स्वयंके पास ही सुरक्षित रख लो जिससे यदि तुम्हें कभी योग्य स्थान पर योग्य पात्र मिल जायँ तो उन्हें यह सुना सको। जगत्की समस्त नारियां सम्भवतः तुम्हारे इस मधुर उपदेशको सुनने हेतु योग्य पात्री हैं, केवल हम नहीं हैं।

यदि कहो कि इस सार्वजनीन नियमका उल्लंघन करनेकी हम अकेली ही अधिकारिणी क्यों है? तो इसका भी उत्तर सुन लो। धर्मके उपदेश किसके लिये है? प्रायः सभी इस संसार-पथके यात्री हैं। जो अपनी जीवन यात्राका निर्वाह कर रहे हैं, उन सबके लिये धर्मोपदेशकी आवश्यकता है। संसार रूपी पथ पूरा का पूरा सुन्दर नहीं है, निष्कण्टक भी नहीं है। जीवके

गन्तव्य स्थल–परम धाम तक पहुँचने तक अनेक विपद हैं। कहाँ क्या बाधा या विपत्ति है, पथका कौनसा अंश ऊँचा–नीचा (बंधुर) है, किस स्थान पर दस्यु–तस्करों का भय है, दीर्घ पथ पर कौनसे विश्राम स्थल विपज्जनक हैं और कौनसे सुरक्षित हैं, इन सारी वातों का ज्ञान होना प्रयोजनीय है। पथकी विपदोंसे रक्षापानेके उपाय जानना भी आवश्यक है। धर्मशास्त्र इन सारी बातोंका ज्ञान कराकर पथका संधान देता है। सुतरां जो भी जीवन पथके पथिक हैं, उन सबको धर्मके अनुशासनका ज्ञान एवं उसे पालन करना आवश्यक है, । किसको इस धर्मोपदेश की आवश्यकता नहीं है ? केवल उसी व्यक्ति को आवश्यकता नहीं है जो अब पथिक नहीं रहा, पथको पार करके गन्तव्य स्थान पर पहुँच चुका है। जो व्यक्ति अब यात्री ही नहीं रहा, जिसकी यात्रा समाप्त हो गयी है, केवल उसे ही इस पथके उपदेश की आवश्यकता नहीं है।

हमारी यात्रा समाप्त हो चुकी है; हम अब पथिक नहीं रहीं। सारा पथ पार करके अब चरम भूमि–इन तुम्हारे पाद-पद्मोंमें पहुंच चुकी हैं। समस्त जीवोंका परम गन्तव्य स्थान तुम्हारे श्रीचरणों का सान्निध्य ही है। हमें वह प्राप्त हो चुका है। अत एव स्त्रीके लिये पति–सेवा रूपी जिस परम धर्म की कथा तुमने सुनायी, वह तुम्हारे इन श्रीचरणों की सेवा से ही पूर्ण करेंगी। (अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे)।

सुतरां पति पुत्रादि–सेवा रूप धर्मोपदेश की पात्र हम अब नही हैं। संसारमें करोड़ों पथिक हैं, पथिकों के पथकी वार्त्ता उन्हें सुनाओ; हमें अब इसकी आवश्यकता नहीं है। प्रश्न उठ सकता है कि हमने यह किस प्रकार समझ लिया कि समस्त जीवोंका गन्तव्य स्थान तुम्हारे (श्रीकृष्णके) चरण ही हैं ? इसकाभी कारण तुम्हें बता देती हैं—"प्रेष्ठो भवान् तनुभृतां किल बन्धुरात्मा।" चरम स्थान किसे कहेंगे ? जहां पहुंचने पर जीवको अन्य किसी वस्तुका प्राप्ति अलब्ध नहीं रहती, अन्य किसीभी वस्तु की प्राप्ति तदधिक लोभनीय नहीं लगती, समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, सारी वेदना समाप्त हो जाती है, जो सर्वाधिक प्रिय हैं, जो सबके सर्वाधिक हितकारी बन्धु हैं, जो अन्तर्यामी हैं—अन्तरमें विराजमान रहकर हृदयकी सब अनुभूतियोंको जानते हैं—वे ही परम स्थान हैं। वह स्थान तुम्हारे ये पादपद्म ही है। इस बातके ज्ञानहेतु हमें शास्त्र–श्रुति–पुराणोंकी आवश्यकता नहीं है। हमारे अन्तरकी गंभीरतम अनुभूति यह है कि तुम-ही परम प्रिय हो, परम बन्धु हो। अनुभूतिसे अधिक शक्तिशाली प्रमाण अन्य नहीं होता। किन्तु तुम यह अवश्य कह सकते हो कि हमारी भांति अनपढ़ गंवार ग्वालिनोंकी अनुभूतिका मूल्य ही क्या है ? हां, विवेकशील व्यक्तियोंकी अनुभूतिका प्रमाण दो तो हम बात मान लेंगे। अच्छा, वह भी सुना देती हैं। जो शास्त्र-निपुण (कुशलान्) हैं, विवेकशील एवं चतुर हैं, जो सार-असार वस्तुका विवेक करके अनुभूतिसम्पन्न हैं, उन्हींकी बात सुनाती हैं। तुम-ही नित्य प्रिय हो, स्वाभाविकरूपसे प्रेमास्पद हो—यह जानकर वे केवल तुम्हींसे प्रीति करते हैं। एतद्‌विपरीत वे पति-सुतादिकी केवल दुःखका आकार मानकर अत्यन्त तुच्छज्ञान करते हैं। सुनो—

"तातल सैकते, वारिविन्दुसम, सुतमित रमणी समाजे।"

सुतरां महद् व्यक्तियोंके अनुभव और कार्य हमारी अनुभूतिका ही समर्थन करते हैं। हे व्रजजीवन ! तुम पद्मनेत्र हो, तुम्हारे नेत्र पद्म-सदृश हैं। अतः सम्भव है वे रात्रिमें मुद्रित रहती हैं और इसीलिये शायद तुम हमारे वेदनाश्रुसिक्त मुख देख नहीं पा रहे हो। अपने इन विशाल नयनोंको एक बार खोलकर देखो तो सही कि तुम्हारे सम्मुख हम कौन खड़ी हैं ? कात्यायनी देवीकी पूजाके उद्यापन-अवसर पर तुमने जिन्हें वरप्रदान किया था, हम वहा गोपियाँ हैं। तुमने ही हमको कहा था—"संकल्पो विदितः साध्व्यो······सत्यो भवितुमर्हति ॥ (भा० १०।२२।२५)"—हे साध्वियों ! तुम्हारे संकल्पका मुझे पता है, वह सत्य होगा। अतः हे नन्दनन्दन ! अब तुम हम पर प्रसन्न होवो एवं हमें अपनी चरणसेवाका वर प्रदान करो। हमारे हृदयमें एक आशालताका उद्‌गम हुआ था। तुमने ही हमारे नयन-रन्ध्रोंसे हमारे अन्तरमें प्रवेश करके इसका बीजरोपण किया था। फिर तुम्हारे रूप-गुण-श्रवणरूप जल-सिञ्चनसे ही यह वर्धित हुई है। अब इस आशालतापर फल भी आ गये हैं। अपनी उपेक्षारूप कुठाराघातसे इसका छेदन मत करो (मा स्म छिन्धाः)।

एक यूथेश्वरीका कथन समाप्त हुआ। इस गोपीके वचनोंमें श्यामसुन्दरके समस्त प्रश्नोंका उत्तर है। शेष दश श्लोकोंमें श्रीकृष्णकी उस युक्तिका चरम खण्डन है जिससे उन्होंने धर्मकी उक्तियोंका एक जाल बिछा दिया था। यूथेश्वरीने कहा है कि रमणीके लिये पति-सेवाकी जिस शास्त्रविधि या धर्मविधिका विधान हैं, वह भी तो तुम्हें प्राप्त करनेका एक उपाय मात्र है। जो तुम्हें नहीं चाहते उनकी पति-सेवा भी व्यर्थ ही हैं, और जिन्होंने तुमको प्राप्त कर लिया है उनके प्रति पति-सेवाका उपदेश निरर्थक है।

उपरोक्त निष्कर्ष लाखों उक्तियोंका सार-स्वरूप है। इस वचनसे समस्त शास्त्रोंका मुख उज्ज्वल हुआ है, "सर्वधर्मान् परित्यज्य"रूपी गीताके चरम श्लोकका साकार विग्रह है। चतुर-चूड़ामणि श्रीकृष्ण यूथेश्वरीकी उपरोक्त युक्तियोंसे हतप्रभ और चकित हो गये ॥ ३१–३३ ॥

(११)

श्रीकृष्णके अपर पार्श्वमें स्थित यूथकी स्वामिनी गोपीने बोलना आरम्भ किया—"तुम हो तो व्रजसुन्दर, किन्तु तुम्हारे वचन अत्यन्त असुन्दर (कठोर) हैं। तुम्हारे इस कार्यकी तुलना तो केवल एक वधिकके कार्यसे ही की जा सकती है। मान लो, कोई निरीह व्यक्ति अपने गृहकार्यमें तल्लीन होकर लगा हुआ है। अन्य एक व्यक्ति आकर बलपूर्वक उसे अपहरण करके वनमें ले जाता है और उसे दृढतापूर्वक एक वृक्षके साथ बांध देता है। वह व्यक्ति फिर उसके गात्र पर निर्मम वेत्राघात करता हुआ कहता है—"यहाँ क्यों आये हो ? जाओ, अपने घर जाकर अपने कर्तव्य कर्म करो।" तुम्हारी नृशंसताकी तुलना भी केवल ऐसे ही वधिकके साथकी जा सकती है।

हमारे हस्त-पाद, मन-प्राण सब अपने गृहकार्यमें—अपने कर्तव्यपालनमें व्यस्त थे। तुम अपनी चित्ताकर्षक वंशी-ध्वनिसे अनायास ही हमारे देह मन-प्राणों सहित हमें घरसे बाहर यहां खींच लाये। यहां लाकर हमें अपने हास्य-लालित्य एवं मधुर नेत्र-दृष्टिरूपी दो रज्जुओंसे हमें बांध दिया है। तत्पश्चात् अब हमारे मन-प्राणोंपर उपेक्षा-वाक्योंका कषाघात करते हुए कह रहे हो, "यहां क्यों आयी हो ? जाओ, अपने-अपने घर जाकर अपने गृहकार्य सम्पादन करो।" अब तुम-ही बताओ कि जाँय कैसे ? तुम्हारे श्रीचरणोंकी शरण त्याग कर हमारे चरण एक पदक्षेप (कदम) भी हटना नहीं चाहते। यदि प्रश्न करो कि चरण चलते क्यों नहीं ? तो इसके दो कारण हैं। प्रथम कारण है कि वह "भवतापहृतम्"—हमारे चित्तका अपहरण करके तुमने उसे अपनी सम्पत्ति बना लिया है और उसे बांधकर अपने श्रीचरणोंके सान्निध्यमें रख छोड़ा है। उस अपहृत सम्पत्ति (चित्त) पर अब हमारा अधिकार नहीं रहा कारण उसे तुमने आत्मसात् कर लिया है। और देखो, किसी भी कार्यके करनेमें उस कार्यपद्धतिकी शिक्षा आवश्यक होती है। नदी पहाड़से समुद्रकी दिशामें ही बहती है, समुद्रसे पर्वतकी दिशामें नहीं बहा करती, कारण उसे वैसी शिक्षा नहीं मिली। हमारे चरणोंको भी सब कुछ त्यागकर तुम्हारे पास आनेकी ही शिक्षा प्राप्त हुई है, तुम्हें त्यागकर गृहकार्य करनेकी शिक्षा इन्हें नहीं मिली है। तुम कह सकते हो कि "चलो, हम तुम्हारे चरणोंको घर जानेकी आज बलपूर्वक शिक्षा दे देंगे।" हम स्वीकार करती हैं कि तुम ऐसा करनेमें समर्थ भी हो; किन्तु केवल इतना बता दो कि हम वहां जाकर अब करेंगी क्या ? हम कौन-सा काम कर सकेंगी ? तुम्हारे इन श्रीचरणोंकी सेवामें समर्पित जीवन तुम्हारी पद-सेवाके अतिरिक्त अन्य कोई काम कर भी सकेगा क्या ? नहीं, हम निश्चयपूर्वक कह सकती हैं कि अब यह सम्भव नहीं है।

तुम्हारी कठोर निर्दयताका एक और कार्य भी तुम्हें बता दें—तुमने घरमें अग्नि लगा तो दी किन्तु अब घरको भस्मीभूत होते हुए देखकर भी उसे निर्वापित करनेका प्रयास भी नहीं करो, जबकि इस अग्निज्वालाको शांत करनेका साधन और उपाय भी तुम्हारे ही पास है। फिर भी तुम तो खड़े-खड़े कौतुक देख रहे हो और हंस रहे हो। इसकी अपेक्षा अधिक निर्दयता का निदर्शन और क्या हो सकता है ? कृष्ण-अनुरागरूपी बह्नि तो अवश्य हमारे हृदयमें ही स्फुलिंगरूपसे वर्तमान थी। किन्तु तुम्हारे मधुर हास्य, वङ्किम दृष्टि और वेणु-ध्वनिने इस अग्निमें इंधन डालनेका कार्य किया है। अब वह अग्नि अपने विकराल रूपमें प्रज्वलित हो उठी है और हम इस अग्निमें जलकर मर रही हैं। अभी भी तुम अपने अधरामृत-सिञ्चनसे इसे निर्वापित कर सकते हो। किन्तु तुम ऐसा नहीं करके खड़े-खड़े तमाशा देख रहे हो। यदि तुम्हारा ऐसा विचार है कि इन गोपियोंके जलकर मरनेसे क्षति तो कुछ होगी नहीं वरंच लाभ ही होगा कारण इन उद्वेगजनक आपदाओंसे हमेशाके लिये परित्राण मिल जायेगा, तो तुम्हारी यह दुराशा फलीभूत नहीं होगी जलकर मरनेके भयसे हम तो तुम्हारे ध्यानका त्याग नहीं कर सकेंगी, सुतरां जन्मान्तरमें हमें फिर तुम ही प्राप्त होओगे। हम पुनः तुम्हारा पथ रोककर बाधा स्वरूप नहीं खड़ी मिलेंगी।

"एड़ाते नारिका तुमि।"

ये दो श्लोक कहकर यूथेश्वरी नीरव हो गयीं। इन दो श्लोकोंमें स्वयं धर्मोपदेष्टा श्रीकृष्ण द्वारा गोपीजनोंके प्रति किये गये निर्मम एवं निर्दय व्यवहारकी विवेचना की गई है। इसके अतिरिक्त, गूढ वचनोंमें लुक्कायित मधुर सम्भोगकी प्रार्थना, भर्त्सनाके साथ-साथ सम्भोगलालसाके संयोगने इन श्लोकोंमें एक निरुपम चमत्कारिता की सृष्टि की है॥ ३४-३५॥

(१२)

श्यामसुन्दर गोपीजनोंको पुनः पुनः घर लौट जाने हेतु कह रहे थे। इसका उत्तर देने हेतु द्वितीय यूथेश्वरीका वक्तव्य समाप्त होते ही तृतीय यूथेश्वरी कहने लगी, "हे व्रजनाथ, तुम पुनः पुनः एक ही बात की रट लगा रहे हो कि व्रजमें लौट जाओ। किन्तु इसमें एक महान समस्या यह उत्पन्न हो रही है कि हम कहां तो रहेंगी और वहां क्या करेंगी ? हम अब अन्य किसीके समीप अवस्थान करनेमें सक्षम नहीं हैं—"नान्यसमक्षं स्थातुं पारयामः"। यह स्वभाव किस प्रकार गठित हो गया, वह भी बता देती हैं।

जिस दिनसे हमें तुम्हारे लक्ष्मी-वांछित इन पद तत्वोंका स्पर्श प्राप्त हुआ, उसी दिनसे हमारी यह अवस्था हो गई। अवश्य इन चरणोंका स्पर्श हमें अपने स्वयंके गुणोंके फलस्वरूप प्राप्त नहीं हुआ है। तुम कमल-नयन हो, करुणाघन भी हो। तुम हम अरण्यवासिनी गवांर ग्वालकन्याओंको भी उन रमा-लालित पाद-पद्मोंका स्पर्श देनेमें कुण्ठित नहीं हुये। तुमने यह जानते हुए भी कि ये अयोग्य हैं, हमें उन पाद-पद्मोंका स्पर्श दिया था। अब हम उन्हीं करुणाघन श्रीचरणोंकी शरणागता हैं। इसके लिये श्रीचरण ही उत्तरदायी हैं। यदि कहो कि "नहीं ऐसी बात नहीं है, इसके लिये तो तुम-ही दोषी हो"। उसके उत्तरमें हमारा कहना है कि इस दोषके दोषी केवल हम-ही नहीं हैं। जिन वैकुण्ठेश्वरी लक्ष्मीकी कृपा दृष्टिकी देवगण भी कामना करते हैं, वे लक्ष्मीदेवी भी इन्हीं श्रीचरणोंकी शरणागता हैं। श्रीनारायणका वक्षःस्थल अति उत्तम स्थान है, वहां सतत रहती हुयी भी लक्ष्मी देवी इन चरणोंकी लालसा रखती हैं। तुम्हारे श्रीचरणोंके पार्श्वमें तो तुलसी सर्वदा उनकी सपत्नीकी भांति रहती हैं। यह देखकर भी लक्ष्मी देवीका मन खिन्न नहीं होता और वे श्री चरणोंकी धूलि प्राप्त करनेकी लालसा करती रहती हैं। इनके अतिरिक्त भी इन चरणोंके सेवा हेतु अपेक्षारत भक्तजनों की लम्बी सूची है। अत एव लक्ष्मो देवी यह स्पष्ट रूपसे जानती हैं कि चरण सेवामें उनको अल्पांश ही प्राप्त होगा फिर भी वे अपना अधिकार मांगनेमें कतई पश्चात् पद नहीं हो रहीं। लक्ष्मी देवी का तो श्रीनारायणके उत्तम अङ्ग, वक्षःस्थल पर एकच्छत्र अधिकार है फिर भी वे उसका त्याग करके तुम्हारी चरण सेवाकी कामना करती हैं। सुतरां, इन भोली-भाली ग्वालिनों का फिर ऐसा करनेमें क्या अपराध है ? वैकुण्ठेर लक्ष्मीगणे करे येइ आकर्षणे, तार आगे केवा गोपीगणे ?" अत एव स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है कि सारा दोष तो इन श्रीचरणोंका ही है। फिर भी तुम हमें बिना योग्य कारणके होते हुए भी वेदना पहुंचा रहे हो।

हे पुरुषश्रेष्ठ। हमारे ऊपर प्रसन्न होकर कृपा-दृष्टिपात करो। यदि हमसे कोई अपराध हो गया हो तो उसे क्षमा कर दो। तुम तो वृजिनार्दन अर्थात् सब पापोंका नाश करने वाले हो। हम तो केवल एक यह-ही आशा हृदयमें संजोकर यहां आयी हैं कि तुम्हारे कोमल चरणोंकी सेवा करेंगी। इसीलिये हमने गृह-संसारकी समस्त वस्तुओंका त्याग किया है। अब तो हम तुम्हारे श्रीचरणोंके सन्निधानमें पहुंच गयी हैं और अपने साथ केवल एक लालसापूर्ण चित्त लेकर आयी हैं। यह लालसा भी तो तुम्हारी सृष्टि है। तुम्हारे सुन्दर मुखमण्डल और रमणीय हास्ययुक्त कटाक्षों ने युक्ति करके ही इस लालसाको जन्म दिया है। अत एव अब हमें दासीरूपसे स्वीकार करके अपनी चरणसेवा में नियुक्त करो। हमारे हृदयमें बस यही एक लालसा है, इसके हम किसी फलकी अपेक्षा नहीं रखती।

यूथेश्वरी का वक्तव्य समाप्त हुआ। कथनमें मधुर दैन्य, विनय और आकुलता पूर्ण लालसा का ही प्राचुर्य है। मधुर प्रेमिकाओं ने दासीत्व की कामना की है। माधुर्य का दास्य अत्यन्त मधुर होता है ॥ ३६-३८ ॥

(१३)

यूथ की यूथव्रजाङ्गनाओं ने श्रीगोविन्द को चारों दिशाओं से घेर रखा है। इनमें से तीन यूथेश्वरियों का वक्तव्य समाप्त हुआ, अब चतुर्थ यूथेश्वरी व्रजाङ्गनाओं के सम्पूर्ण वक्तव्यका उपसंहार कर रही हैं। इस यूथेश्वरीके कथनमें समस्त गोपाङ्गनाओं के आन्तरिक निवेदन को भाषा मिली है।

हे व्रजनाथ ! हम तो जीवनभरके लिये आपके इन कोमल, ललित, सन्तापहारी चरणोंकी दासी हैं। हमतो आपकी अशुल्क दासी हैं, सेवाके प्रतिफलस्वरूप हमें तो किसी भी वस्तुकी कोई अभिलाषा नहीं है। हम तो जीवनभर किसी पारितोषक की प्रत्याशा किये बिना ही प्राण-मन से तुम्हारे इन ललित चरणोंकी सेवा करेंगी और नयन भरकर तुम्हारी अनुपम रूपसुधा का पान करेंगी। इससे बढ़कर महामूल्य और क्या हो सकता है ? तुमने तो हमें यह मूल्य दासी होने से पूर्व ही अग्रिम भुगतान कर दिया है। हमारे दर्शनेन्द्रिय खुले हैं और तुम्हारे अनुपम रूपराशि की हाट लगी हुई है।

तुम्हारे अलकावली-परिवेष्टित श्रीमुख पर मानो मधुलुब्ध मधुकर पुञ्ज एक नीलपद्म पर नृत्य कर हैं। तुम्हारे कर्णोंमें मकराकृतिकुण्डल दोलायमान हैं, जिनकी झलक तुम्हारे दर्पण-सदृश गण्डदेश पर पड़कर उसे उज्ज्वलता प्रदान कर रही है। तब ऐसा लगता है मानो सौन्दर्यभण्डार छलक-छलक-कर चारोंदिशाओं में बिखर रहा है। तुम्हारे अरुणिम अधर-द्वय सुधाके भण्डार हैं, जिन्हें देखकर हृदयमें इस सुधाको निःशेषरूपसेभोग करनेकी लालसा जाग्रत होती है। तुम्हारे हास्यपूर्ण नयनोंकी कटाक्षवृष्टिमें मनको मदमत्त करनेवाली अनुपम सुषमा है। तुम्हारे दोनों बाहुदण्ड सुदीर्घ, सुगठित एवं सुगोल हैं, जिन्हें, देखकर भय स्वयं भी भयभीत है। जिनको इन बाहुदण्डोंका आश्रय प्राप्त हो जाता है, उनको फिर किसी प्रकारके भयकी आशंका कैसे हो सकती है ? तुम्हारा वक्षः स्थल अतिसुविस्तृत है, जहां लक्ष्मी देवी अत्यन्त आनन्दपूर्वक स्वर्ण रेखाके आकार में विराजमान हैं, मानो वे उस वक्षः स्थल पर अपना एकाधिकार रखकर किसी अन्यको वहां फटकने भी नहीं देतीं। किन्तु उनके चाहने मात्र से क्या होता है—

अति उच्च सुविस्तार, लक्ष्मी श्रीवत्स अलंकार, कृष्णेर ये डाकातिया वक्ष।
व्रजदेवी लक्ष लक्ष, ता सभार मनोवक्ष, हरि दासी करिवोर दक्ष ॥

तुम्हारी रूपराशिको देखकर बस मनमें एकही खेद होता है कि विधाताने हमें कोटि चक्षु क्यों नहीं दिये ? मन में बस एक ही लालसा है कि सर्वस्व त्यागपूर्वक तुम्हारे चरणोंकी दासी होकर कोटि नेत्रों से अपलक तुम्हारी रूप-मधुरिमाका पान करती रहूँ। इस लालसाके लिये यदि तुम हमें उत्तरदायी बनाना चाहो तो बना भलेही लो, किन्तु सत्य बात तो यह है कि इसके लिये तुम्हारा यह अनुपम रूप ही दोषी। इसका प्रमाण—

कृष्ण जिनि पद्म चाँद, पातियाछे मुखफाँद, ताहे अधर-मधुरस्मित-चार।
व्रजनारी आसि आसि, फाँदे पड़ि हेय दासी, छाड़ि लाज पति घर द्वार ॥

हे सर्वचित्ताकर्षक ! तुमने जो नाना युक्ति देकर हमें यह उपदेश दिया है कि कुलनारीके लिये औपपत्य जुगुप्सित (निन्दनीय) है, इसका कोई प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। किन्तु उसका भी व्यतिक्रम तो होता ही है। तुम-ही बताओ, कि इस त्रिभुवनमें ऐसी कोई नारी है क्या, जो तुम्हारे सम्पर्कमें आनेके बाद आर्यपथसे भ्रष्ट नहीं हो जायेगी ? यदि पूछो—क्यों तो इसका हेतुभी तुम्हें बतला देती हैं। विश्वकी समस्त नारीजातिके परम व्रतको नष्ट करने योग्य दो महान अस्त्र तुम्हारे पास निरंतर विद्यमान रहते हैं—एक तुम्हारी मोहन वेणु, और द्वितीय तुम्हारा श्यामल तनु। तुम्हारी वंशीके छिद्रोंमें से मधुरातिमधुर स्वर सर्व दिशाओं में प्रसारित होते हैं। जो भी सुनता है, वह समझता है कि मेरा नाम लेकर ही पुकार रहे हैं। एक तो मधुर स्वर, फिर तुम उसमें अभिनव राग-रागिनी, ताल, एवं मधुर-रसोद्दीपक मूर्च्छना की पुट देते हुए गीतालाप करते हो। उसके फलस्वरूप होता यह है कि कोई कितनी ही महान सतीरमणी हो लालसामें उन्मादिनी हो जाती है।

से ध्वनि चौदिके धाय, अण्ड भेदि वैकुण्ठे याय, बले पैशे जगतेर काने।
सबा मातोयाल करि, बलात्कारे आने धरि, विशेषतः युवतीर गणे ॥
नीवि खसाय पति आगे, गृह कर्म कराय त्यागे, बले धरि आने कृष्ण स्थाने।
लोकधर्म लज्जा भय, सब ज्ञान लुप्तहय, ऐछे नाचाय सब नारीगणे ॥

न हो, इन मृत्युलोक की रमणियों की बातको इतना अधिक महत्व न भी दे, तो तुम्हें देव-ललनाओं की अवस्थाके बारे में बता देती हैं। तुम्हरा वेणुनाद सुनकर स्वर्गकी देवियां निज-पतियों सहित विमानोंमें सवार होकर वृन्दावनके आकाशमें उपस्थित हो जाती हैं। तत्पश्चात् जब वेणुकी स्वरलहरी विश्वजगत् को मदमत्त करती हुई वायुमण्डलके विभिन्न स्तरोंपर नृत्य करती हुई उनके कर्णरन्ध्रोंके पथसे उनके हृदयमें प्रवेश करती है, तब वे कामविवश होकर अपनी संवित्हारा अवस्थामें अपने पतियों की गोदमें बेहोश होकर गिर पड़ती हैं। उनके कटि-बस्त्र शिथिल हो जाते हैं और उनकी आलुलायित कबरोंके पुष्प गुच्छ वृन्दावनमें पुष्पवृष्टिकी भांति गिरते रहते हैं।

जो इतनी दूरसे तुम्हारी वंशी-ध्वनिका श्रवण करती हैं, उनकी ही जब ऐसी करुणदशा हो जाती, तो फिर जो तुम्हारे समीप आकार वशीध्वनिश्रवणके अतिरिक्त तुम्हारे असमोर्द्ध्व माधुर्यकी खनि तुम्हारे श्यामल तनुका दर्शन भी करती हैं, वे कितनी आत्महारा हो जायंगी, उसका वर्णन करने की भाषा भी मिल सकती है क्या ?

ये रूपेर एक कण, डुबाय सब त्रिभुवन, सर्व प्राणी करे आकर्षण।

विश्वमें बिखरे हुए समस्त सौन्दर्यको भी एकत्र करलें, तो वह सौन्दर्यराशि तुम्हारे सौन्दर्य-महासमुद्रकी एक बिन्दु-मात्र ही होगी। तुम्हारी 'नवकिशोर नटवर गोपवेश वेणुकर' मूर्त्ति को जो एक बार भी देख लेता है, वह अपनी सुध-बुध अवश्य खा बैठेगा। सुनातो यह भी है कि तुम स्वयं भी विस्मित होजाते हो।

रूप देखि आपनार, कृष्णेर हय चमत्कार, आस्वादिते मने उठे काम।

तुम्हारे रूपकी मोहिनी-शक्तिसे गाय आदि पशुगण तृण-भक्षणका त्याग कर देते हैं, पक्षिगण नेत्र निमीलित करके ध्यानी-योगी की भांति वृक्षशाखा पर नीरव होकर बैठे रहते हैं। मृग-मृगी वनभूमिका त्याग करके तुम्हारा अनुगमन करते हैं। वेणुनाद श्रवण करके यमुनाका प्रवाह स्थिर हो जाती है, गोवर्धनगिरिकी शिला पिघल जाती है और नीरस तरु पुनः पल्लवित हो जाते हैं। जब हम तुम्हारा रूप निहारती हैं तो मनमें यही कामना होती है कि हमारी समस्त इन्द्रियां ही चक्षु क्यों नहीं हो गयी ? किन्तु जब वेणुनाद श्रवण करती हैं तब कामना करती हैं कि समस्त इन्द्रियां कर्ण हो जाती तो कितना अधिक आनन्द मिलता।

विलोक्य कृष्णं व्रजवामनेत्राः सर्वेन्द्रियाणां नयनत्वमेव ।
आकर्ण्य तद्वेणुनिनादभङ्गीं सैच्छन् पुनस्ता श्रवणत्वमेव ।।

तुम्हारे अनन्यसाधारण रूपमाधुर्य और वेणुमाधुर्य तो सतीलक्ष्मीगणों को भी चंचल कर देता है।

पतिव्रता शिरोमणि, याँरे कहे वेद वाणी, आकर्षये सेइ लक्ष्मीगण ।

सुतरां हम स्पर्धा करके दृढतापूर्वक कह सकती है कि तुम्हारे वेणु-श्रवण और श्यामल-तनुदर्शन करने के पश्चात् आर्यपथसे भ्रष्ट न हो जायँ, ऐसी कोई नारी विधाताकी सृष्टिमें नहीं है।

तुम्हारा यह कथन कि कुलनारीके लिये औपपत्य निन्दनीय है, सत्य तो है किन्तु वह कथन भी तुम्हारे सम्बन्धमें सत्य नहीं हो सकता । यदि तुम कहो कि, "नहीं, यह मेरे विषयमें भी सत्य है, तो विवश होकर हमें कहना होगा कि इसके लिये भी दोषी हम नहीं हैं । जो समरूपसे दोषी हों वे एक-दूसरे पर दोषारोपण नहीं कर सकते । त्रिभुवनमें ऐसी एक भी रमणी, नहीं होगी जो स्वयं इस स्वधर्मत्याग की दोषी नहीं हो अतः हमारे दोष का प्रचार करने की अधिकारिणी हो । यदि कोई इस दोष का प्रचार करती हैं तो वे इसके लिये वंशीनाद को ही दोषी मानेगी, हमें नहीं ।

गोपीका वक्तव्य प्रायः समाप्त होने को आया । हृदय व्यथित था, अतः इससे अधिक बोलने की उसमें शक्ति नहीं थी । श्रीकृष्णने जितने प्रश्न उपस्थित किये थे और दोष दृष्टि की थी, संक्षेपमें व्रजाङ्गनाओंने उन सभी प्रश्नों का उत्तर अपने वक्तव्यों में दे दिया था।

अन्तिम श्लोकमें गोपीने कहा कि हम जैसी-वैसी भले ही हों, किन्तु इसके लिये तुम्हें व्रतभ्रष्ट मत होना । गोवर्धन-धारणसे पूर्व तुमने कहा था—

"गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः ।।" (भा. १०।२५।१८)—"मैं व्रजवासियों की रक्षा करूंगा ही, यह मेरा विशेष व्रत है ।" तुम तो व्रजजनों का दुःखकष्ट दूर करनेके लिये ही व्रजमें आविर्भूत हुये हो । व्रजके ऊपर अनेक संकट आये और तुमने अपना व्रत-पालन करते हुए अपना आर्तबन्धु नाम सार्थक भी किया है । जिस प्रकार देवलोकके रक्षक नारायण हैं, उसी प्रकार व्रजभूमिके रक्षक तुम व्रजेन्द्रनन्दन हो । नारायण भी शरणागत को शान्ति प्रदान करते हैं । हम भी तुम्हारे श्रीचरणों की शरणागता हैं, अतः तुम्हें भी हमें शान्ति प्रदान करनी ही होगी । यदि तुम हमार जीवन की रक्षा करना चाहते हो तो प्रसन्न होकर हमारी यह आर्त्ति दूर करो । यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो तुम्हारा व्रत तो भङ्ग होगा ही, तुम नारी-वधके भी दोषी होगे । अतः तुम प्रसन्न होकर अपनी करुणा-दृष्टि हम पर डालो । अपने कोटि-कोटि चन्द्रोंसे भी शीतल करकमलोंसे हमार वक्षको स्पर्श करके हमारे हृदयमें प्रज्ज्वलित तीव्रताप को शांत करो । हमतो तुम्हारी चिर-दासी हैं; अतः हमें स्वीकार करके अपना वरदहस्त हमारे शिर पर रखकर आशीर्वाद दो जिससे हम तुम्हारी चरण-सेवासे कभी भी वंचित न हों ।

गोपियोंका यह निवेदन कितना प्रार्थना-दैन्य-विनयसे परिपूर्ण है । गोपीके निवेदनमें निज मधुर-भावोचित मिलन प्रार्थना "तन्नो निधेहि करपङ्कज" वाक्यकी ओटमें संगुप्त होने हेतु सारा कथन मधु-गन्धि हो गया है । यही आस्वादन करने की कामना व्रजेन्द्रनन्दनके अन्तरमें उत्पन्न हुई थी । वह कामना पूर्ण हुई ।

गोपी-गोविन्द का कथनोपकथन समाप्त हुआ । इसमें कितना वैशिष्ट्य और वैचित्र्य है, यह आस्वादनीय है । श्रीकृष्णका वक्तव्य दश श्लोकोंमें और गोपाङ्गनाओं का प्रत्युत्तर एकादश श्लोकोंमें व्यक्त हुआ है । ऐसा लगता है, मानो दोनों का कथन ही अत्यंत सत्य एवं युक्तिसंगत है । श्रीकृष्णका कथन सुनकर लगता है मानो व्रजाङ्गनाएँ अब इसका कोई प्रत्युत्तर नहीं दे सकेंगी । किन्तु तत्पश्चात् जब उनका प्रत्युत्तर श्रवण करते हैं तो वह अत्यन्त चमत्कार लगने लगता है और लगता है कि व्रजेन्द्रनन्दनके पास इसका कोई उत्तर नहीं है । ऐसा क्यों लगता है, इसका कारण बता रहे हैं—

वेदमन्त्र परम सत्यके प्रकाशक हैं । उनसे दो प्रकार की विचार-धारा उत्पन्न हुई हैं—कर्ममीमांसा और ब्रह्म-मीमांसा । कर्ममीमांसाका वक्तव्य है—"हे जीव ! जब तुम संसारमें आये हो, तो जीवनके समस्त कर्म, शास्त्र एवं समाज-विहित कर्तव्यों का पूर्णरूपसे प्रतिपालन करो । अपने पितृऋण, ऋषिऋण, देवऋण इत्यादि का परिशोध करो । कर्तव्यकी उपेक्षा करके यदि स्वेच्छाचार करोगे तो प्रत्यवायके दोषी होवोगे । इसके फलस्वरूप इहलोक एवं परलोक-दोनोंमें कष्ट पावोगे" ।

ब्रह्ममीमांसा इन सारी बातोंको महत्त्व नहीं देती । उसका वक्तव्य है—"हे जीव ! मानव-जीवनका परम लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति है । शास्त्रीय कर्म और सामाजिक कर्तव्यादि सब ही आनुषङ्गिक हैं, समस्त गौण हैं । जब तक मनुष्यको इस ज्ञानकी

अनुभूति नहीं होती कि संसार नश्वर है, तभी तक कर्म एवं कर्तव्यकी आवश्यकता है। "एकमात्र ब्रह्मवस्तु ही सत्य है", इस ज्ञानके जाग्रत होनेके पश्चात् सारे कर्तव्य, धर्म, कर्म का त्याग करके मनुष्यको ब्रह्मका ही अनुध्यान करना चाहिये, अपनी गति उसी दिशामें मोड़ देनी चाहिये। कोटि मिथ्याको एकत्र करने पर भी एक सत्यकी समानता नहीं कर सकतीं। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, उसके समान अन्य कुछ नहीं है। इस महातत्त्वको कभी मत भूलना।"

श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण उक्ति कर्म-मीमांसाकी भित्ति पर आधारित हैं। इसके मूलमें एक दार्शनिक दृष्टि होने हेतु उनकी सभी उक्तियां अत्यन्त युक्तिसंगत लगती हैं। गोपीजनोंने श्रीकृष्णके कथनका जो प्रत्युत्तर दिया है, उस उक्तिकी भित्ति ब्रह्म-मीमांसा-शास्त्र है। यदि ब्रह्मका संधान प्राप्त हो गया है तो सब असत्य वस्तुओंका त्याग करके उसकी शरण ग्रहण करो। कारण यही जीवका चरम लक्ष्य है।

दर्शन शास्त्रकी विचार प्रणाली शुष्क है, नीरस है, किन्तु गोपीगोविन्दका कथोपकथन रसमय है। यहां दर्शनका विचार रसकी भूमिकामें चल रहा है। शास्त्रोंमें इसप्रकारका अन्य दृष्टांत दुर्लभ है।

यह तो हुई वैशिष्ट्यकी बात। अब किंचित्-वैचित्र्यका भी आस्वादन कर लें। भागवतशास्त्रने दो प्रकारके श्रोताओंको श्रीमद्भागवत श्रवणका निमंत्रण दिया है—भावुक और रसिक (भा० १।१।३) दूसरी भाषामें—दार्शनिक और साहित्यिक। भावुक श्रोता जानते हैं कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं और गोपीजन भक्त हैं। अतः यह भक्त एवं भगवान्का तत्त्वालाप है। रसिक श्रोताकी दृष्टिमें श्रीकृष्ण हैं नायक और गोपीजन हैं नायिकायें। अतः नायक-श्रेष्ठ और नायिका-शिरोमणिके मध्यमें मधुर रसालाप चल रहा है। उपरोक्त कथोपकथनके विषयमें यह उनकी दृष्टि है।

श्रीभगवान्की उक्ति सुनकर भावुक भक्तके हृदय मर्माहत और अत्यन्त व्यथित हो गया। क्या यह श्रीभगवान्की वाणी है? संसारमें कितने व्यक्ति भगवान्के द्वारपर पहुंचते हैं? आज कुछ भक्त दौड़ते हुये श्रीभगवान्के समीप पहुंचे हैं। उनके प्रति श्रीकृष्णके निर्दय उपेक्षावाक्योंको सुनकर भावुक भक्तका हृदय अत्यन्त व्यथित हुआ है। किन्तु गोपीजनोंका प्रत्युत्तर श्रवण करके भावुक भक्तोंको अत्यन्त हर्ष एवं प्रीतिलाभ हुआ है। अहो! कितनी भयानक उपेक्षा? किन्तु भक्तोंने इतनी उपेक्षा किन्तु भक्तोंने इतनी उपेक्षा सहन करके भी श्रीभगवान्का त्याग नहीं किया; वरं च "चरणोंका आश्रय दो" कहकर वहीं पड़े रहे। ऐसे भक्तोंको शत-शत प्रणाम और धन्यवाद! ये ही भक्तों के आदर्श एवं शीर्षस्थानीय हैं।

रसिक श्रोता नायक-नायिकाका आलाप श्रवण कर रहे हैं। नायिकायें आयी है, किन्तु नायक उनकी उपेक्षा कर रहे हैं। धन्य नायक! श्रेष्ठ नायकका तो यही लक्षण है। नायककी उक्तिसे रसिक श्रोता गर्वित और उल्लसित है। तत्पश्चात् नायिकाओंका उत्तर श्रवण करके रसिक श्रोता अत्यन्त मर्माहत और व्यथित होता है। ये कैसी नायिकायें है? नायक उन्हें नहीं चाहते किन्तु नायिकायें पैर पकड़कर खुशामद कर रही हैं—चरणोंमें स्थान दो, प्रेमदान दो इत्यादि! यह भी कोई बात हुई? इनकी उक्ति श्रवण करके तो जगत्की समस्त नायिकाओंका शिर लज्जावश अवनत हो जायेगा।

रसिक और भावुक श्रोताओंके विचार सुनकर मानो श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं—"तुम लोग पुनः मनोयोग पूर्वक ध्यानसे श्रवण करो कि गोपी एवं गोविन्द क्या आलाप कर रहे हैं! तब भावुक एवं रसिक—किसीको भी निराश और निरुत्साह नहीं होना होगा। "स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः" से प्रारम्भ करके श्रीकृष्ण द्वारा उक्त दश श्लोकोंका निम्न अर्थ करनेसे भी कोई व्याकरण-दोष नहीं होगा। श्लोकोंके अन्वयमें कुछ परिवर्तन करनेसे ही अर्थ भी परिवर्तित हो जायेगा। दृष्टांत स्वरूप—श्रीकृष्णने कहा, हे भाग्यवती ब्रजाङ्गनाओं! स्वागतम्, तुम्हारा भाग्य सराहनीय है, तुम कितनी भाग्यशाली हो! शारदीया रजनी, निर्जन वनभूमि, शुभ संघटन! तुम्हारा आगमन पूर्णतः देशकालपात्रोपयोगी है। प्रिय-मिलनके हित यह प्रकृष्ट है। तुम्हारा आगमन और आनन्द मेरा काम्य है। अब तुम लोग मुझे अपने मनकी आन्तरिक कामना बतावो कि कीदृश विलास-विहार द्वारा तुम्हें प्रीतिकी प्राप्ति होगी। मैं तुम्हारे मनोनुकूल आचरण ही करूंगा।

यह रजनी अघोररूपा है अर्थात् उज्ज्वल ज्योत्स्नासे उद्भासित है। यहां अघोरसत्त्व अर्थात् शांतस्वभाववाले पशु-पक्षियों का निवास है, अतः यहां तुम्हें कोई भय नहीं है। "ब्रजं प्रति न यात"—इस वनभूमिका त्याग करके तुम्हरा ब्रजमें जाना उचित नहीं है। अब तो तुम्हें यहीं अवस्थान करना चाहिये—"स्त्रीभिः इह स्थेयम्"। तुम पुनः पुनः ब्रजकी दिशा में क्यों देख रही हो? क्या तुम्हें यह आशंका है कि तुम्हारे माता-पिता-पति-भ्राता प्रभृति तुम्हें खोजते हुए यहां आ पहुंचेंगे? न तो वे तुम्हें खोज पायेंगे और यदि यहां आभी जायें ता भी वे तुम्हें देख नहीं पायेंगे। (अपश्यन्तो वर्तन्ते)। अतः तुम यह आशंका अपने मन से निकाल दो कि बन्धुजन यहां आकर तुम्हें देख लेंगे तो अनर्थ हो जायेगा। मेरे समीप ही रहो। देखो, यह कुसुमित कानन, मधुर ज्योत्स्ना, मलय अनिल, मंदमंद समीरसे मृदु-मृदु कम्पायमान ये पल्लव, यमुना की मधुर कलकल ध्वनि—वे सब किस बात हेतु इंगित कर रहे हैं? ये कह रहे हैं—कुञ्जमें जाओ, मिलित होकर धन्य होवो। ऐसी मधुर वेलामें लौटकर मत

जाओ (तद् यात मा चिरम्) । अब पति'सेवा में रत मत होना (पतीन मा शुश्रुषध्वम्) । सती स्त्रियों के मार्गका अनुसरण मत करना । चिन्ता मत करो, तुम्हारे शिशु क्रन्दन नहीं कर रहे हैं ।

तुम मुझसे प्रेम करती हो, इसमें अयौक्तिक कुछ नहीं है । व्रजके सभी प्राणी मुझसे यथायोग्य प्रेम करते हैं । यह भी उचित ही है कि तुम लोग मुझसे मधुरभावसे प्रेम करती हो । मैं तुमलोगों से मिलने की आशासे ही यहां आया हूँ और बहुत समय से तुम्हारी अपेक्षामें हूँ, अतः मेरी वासना पूर्ण करो । मैं ही तुम्हारा प्रकृत भर्ता (अमायया भर्ता) हूँ, अतः मेरी सेवा करना ही तुम्हारा कर्तव्य है । "अमायया यो भर्ता तस्य शुश्रूषामेव स्त्रीणां परो धर्मः ।" जिसे निष्कपटभावसे पतिरूपमें ग्रहण किया जाता है, वह ही प्रकृत पति होता है । अतएव कपटभावसे स्वीकृत पतिकी सेवा करनेकी अपेक्षा मेरी सेवा करना ही तुम्हारा कर्तव्य है । मैं सारे जगत्का भर्ता हूँ, अतः मेरी सेवा ही परम धर्म है ।

तुमलोग शैशव कालसे ही मेरे प्रति आकृष्ट हो और मैं भी तुम्हारे प्रति अत्यंत अनुरक्त हूँ । अतएव औपपत्य-दोषके भयसे मेरा त्याग करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है । जिसको तुम हृदयसे चाहती हो उसके संग सम्बन्ध रखना ही कर्तव्य है । प्रियजनके समीपमें जाकर उसके साथ यथोचित व्यवहार करनेसे प्रेम जितना पुष्ट होता है, दूर रहकर श्रवण, कीर्तन, ध्यानादि द्वारा प्रेम उतना पुष्ट नहीं होता । (सन्निकर्षेण यथा मयि भावो भवति, श्रवणात् दर्शनात् ध्यानात् तथा नैव भवति) । अतएव उन निकटवर्ती निकुञ्जगृहोंमें गमन करो ("प्रतियात ततो गृहान्") । चलो, निकुञ्जमें चलें जिससे प्रेम व्यवहार द्वारा प्राणोंकी पिपासा तृप्त हो । श्रीकृष्णने जब प्रार्थनाकी तब गोपीजनोंने उनकी उपेक्षाकी । इस कथनके प्रत्युत्तरमें गोपियोंने एकादश श्लोकोंमें क्या कहा, वह भी संक्षेपमें बता रहे हैं—

गोपियाँ कहने लगीं, "हे विभो ! "भवान् एवं नृशंसं गदितुं मा अर्हति"—हे कृष्ण, तुम हमारे राजाके पुत्र हो, प्रभु हो; हमारे ऊपर शासन करनेका तुम्हें अधिकार प्राप्त है । किन्तु उस अधिकारका इस प्रकार दुरुपयोग करना तुम्हें शोभा नहीं देता । हमें इस प्रकारके निष्ठुर एवं अधर्म प्रेरक वाक्य कहना तुम्हारे योग्य नहीं है । हम कुलनारी हैं; रात्रिकालमें वनमें पुष्पचयन हेतु आयी हैं । नवदुर्गको पूजा हेतु हमें पुष्पोंकी आवश्यकता है । किन्तु हमारे प्रति इस प्रकारके निम्न-श्रेणीके इंगित करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है । मङ्गलकामी पुरुष कभी स्वप्नमें भी परनारीकी कामना नहीं करते । लगता है तुम्हारे ऊपर काम-वासनाने अधिकार कर लिया है, किन्तु तुम्हारी वासनापूर्ति तो कोई ऐसी-वैसी स्त्री ही कर सकती है जिसने अपने पिता, पति आदिका त्याग कर दिया हो और तुमसे कामयाचना कर रही हो । तुम हमें ऐसी मत समझ बैठना । अतः हमारे पथसे हट जावो और अपने हृदयसे हमारे संग मिलनलालसाको सदाके लिये विसर्जित कर दो । आदि-पुरुष भगवान् श्री नारायण भक्तोंकी कामना ही पूर्ण करते हैं, अभक्तोंकी नहीं । हम यहां तुम्हारे लिये नहीं आयी हैं । तुम धार्मिक हो, धर्मके ज्ञाता भी हो, अतः इस प्रकारका दुराचरण मत करो । तुम कपटपूर्वक हमें इस असत् आचरणका उपदेश क्यों दे रहे हो कि पति-पुत्रकी सेवा करना परम अधर्म (सु+अधर्म) है । इस प्रकारके अनुचित वाक्य पुनः मत कहना; हम तुम्हारे इस प्रकारके उपदेशका पालन नहीं कर सकती । तुम समस्त व्रजवासियोंके प्रिय अवश्य हो, किन्तु तुम अत्यंत कुटिल स्वभाववाले हो, बन्धुरात्मा (बन्धुरः कुटिलः आत्मा स्वभावो यस्य सः) । इस निर्जन प्रदेशमें तुम हमारे प्रति धर्मकी असत् व्याख्या करके हमें धर्मभ्रष्ट करनेका प्रयास कर रहे हो । तुम्हारा सौन्दर्य अत्यंत मनोहारी है; क्या इसीलिये पतिव्रता नारियां पतिसेवाका त्याग करके तुम पर आसक्त हो जायेंगी ? इस प्रकारकी कल्पना तुम स्वप्नमें भी मत करना । हे गोकुलस्वामिन् (ईश्वर) ! अब हम यहां अधिक देर तक नहीं ठहर सकती (वयमत्र चिरात् मास्म न तिष्ठामः) । हम तो पुष्प चयन हेतु इधर आयीं किन्तु संयोगवश तुम्हारे सम्मुख पड़ गयीं हैं । यदि हमें यह पता होता कि तुम यहां हो तो हम इधर आती ही नहीं । अतः तुम प्रसन्न होवो और हमारे गृह-प्रत्यागमनमें बाधा मत दो । अपनी दुराशाको जड़से उखाड़ फेंको । तुम्हारे चक्षु पद्म-सदृश हैं, अतः रात्रिमें मुद्रित रहते हैं । इसीलिये सम्भव है कि तुम हमें पहिचान नहीं पाये । हम धर्मनिरत पतिपरायण नारियोंको अपनी किसी प्रणयिनीके धोखेमें असत् निवेदन कर रहे हो । क्या तुमने हमारे चित्तका अपहरण कर लिया है ? हमारे चित्तका अपहरण तुम्हारे लिये पूर्णतया असंभव है । तुम्हारा यह निवेदन कि, "तुम्हारे सहास्य वदन-दर्शन और मधुर वाणी श्रवणसे मेरे हृदयमें कामाग्नि प्रज्ज्वलित हो गयी है । अपने अधरामृत सिञ्चनसे उसे शांत करो" अत्यधिक निन्दनीय है । हमलोगोंमें तो ऐसी एक भी नारी नहीं है जो तुम्हारी इस अग्निको शांत करेगी । हे शठ ! यदि तुम बलपूर्वक हमारी देहका स्पर्श करने हेतु अग्रसर हुये तो हम अपने पतियोंकी विरहाग्निमें यह देह यहीं विसर्जन कर देंगीं । अब तो किसी दिन हम स्वप्नमें भी तुम्हारे सम्मुख नहीं आयेंगी । सुतरां दुराग्रहवश हमारे संग मिलन कामनका पोषण करके अकारण ही इस कामाग्निमें क्यों दग्ध हो रहे हो ? यह सत्य है कि शैशव अवधि हमारी तुम्हारे साथ प्रीति रही है । किन्तु जिस दिन हमारी समझमें आ गया कि तुम्हारे चरण रमणियोंकी दिशामें अग्रसर हो रहे हैं, उसी दिनसे तुम्हारे अङ्ग-स्पर्शकी बात तो दूर रही, हमने कभी भी तुम्हारे चरणोंका भी स्पर्श नहीं किया । ऐसा नहीं किया तभी तो आज भी हम अपने गुरुजनोंके समीप वास

करनेमें सक्षम हैं। हमने सुना है कि साक्षात् लक्ष्मीदेवी और तुलसी तुम्हारे इन चरणोंकी कामना करती हैं, तो वे ऐसा किया करें इससे हमें क्या लेना-देना ? लक्ष्मीदेवी तो चंचला हैं और तुलसीके पास पातिव्रत्य-धन ही नहीं है। सुतरां उनका अनुकरण हम नहीं करेंगीं।

तुम्हारे इस असदाचरणसे सारा पुरुषसमाज कलङ्कित हो जायगा—"(पुरुषभूः पुरुषसामान्यः तस्य ऊषकं पीडकः- तज्जातिमात्रकलङ्ककारिन्)"। सुतरां अपने इस असदाचरणसे विरत होवो। हमें अपने रूपसे मोहित करके वशमें कर लोगे,- यह आशा त्याग दो। इतना सौन्दर्य-गर्व अच्छा नहीं है। "अ-मदास्यः भवः-मदः गर्वः तद्युक्तं आस्यं यस्य सः"।

हम धर्मनाशके भयसे आर्त हो रही हैं, अतः यह आर्ति हरण करो। अरे ! यह क्या ? तुम तो हमारे अङ्ग स्पर्श करनेकी चेष्टा कर रहे हो ! ऐसा न करो। केवल हमारे ही क्यों, अन्य किसी भी नारीके, यहां तक कि अपनी गृहदासीके अङ्ग स्पर्श करनेकी चेष्टा भी तुम्हें नहीं करनी चाहिये। हमारा वक्ष स्पर्श करनेकी आशाको अपने हृदयमें स्थान मत दो, ऐसा करवाना असम्भव है, अतः पथरोध करके क्यों खड़े हो ? हमारे पथसे दूर हट जाओ, हमें अपने गृह लौट जाने दो।

गोपाङ्गनाओंने जिन एकादश श्लोकोंका उच्चारण किया, उनका एक अन्य तात्पर्य ऊपर कथित हुआ। इसी प्रकार सभी श्लोकोंके दो प्रकारके अर्थ हैं। श्रीसनातन गोस्वामीने इनका नामकरण किया है—उपेक्षाभङ्गिमय और प्रार्थनाभङ्गिमय। इसके अतिरिक्त गोस्वामीपादने युगलार्थसन्धापनमय। और वास्तवार्थमय नाम देकर दो प्रकारके अन्य अर्थोंका भी संकेत किया है। जटिलता परिहार हेतु इन चारमें से दो अर्थोंको आलोचना की गई।

द्वितीय प्रकारका अर्थ श्रवण करके भावुक और रसिक भक्तोंका मत-परिवर्तन हुआ। इस बार भक्त-भगवानके आलाप में भगवान्‌की उक्ति सुन्दर है। भगवान भक्तकी सादर अभ्यर्थना करते हैं। नायक-नायिकाकी उक्तिमें प्रत्युक्तिमें से उस बार नायिकाकी प्रत्युक्ति चमत्कार पूर्ण लगती है। नायकके असीम आग्रहकी उपेक्षा करके जो रमणी स्थिर रहती है, रस-शास्त्रमें वही स्वाधीन भर्तृका साधुजनों द्वारा प्रशंसित होती है। दोनों उत्तरोंको मिलाकर दोनों पक्ष ही संतुष्ट और प्रीत हुये। अब यदि कोई जानना चाहे कि वास्तविक अर्थ कौन सा है, तो हम कहेंगे कि हम नहीं जानते। जिसने कहा है और जिसे उद्देश्य करके कहा है, वे ही जानते हैं। श्रीगोस्वामीपादने भी कहा है—

यासामेव प्रसादेन यासां श्रीनागरेश्वरे। जल्पतत्त्वं ज्ञायते ता वन्दे श्रीनागरीश्वरीः॥ ३९-४१॥

(१४)

श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी प्रियतमाओं की प्रणयकोपकी वाणी सुनी। जिस प्रकार की वाणी श्रवण करने हेतु उनके हृदयमें तीव्र लालसा थी, ठीक उसी प्रकारकी वाणी सुनी एवं उनकी मनोकामना पूर्ण हुई। ये एकादश श्लोक क्या थे, मानो गोपीजनोंकी निरावरण एकादश इन्द्रियां ही थी, जिनका दर्शन करके श्रीकृष्णकी एकादश इन्द्रियां भी मधुमय हो गयीं। श्यामसुन्दर के परिहासवाक्य श्रवण करके गोपियोंके चित्तमें एक नैराश्यमय विकलता उत्पन्न हो गयी थी जिसके फलस्वरूप उनके मुख से प्रणय-कोप जन्य रोष मिश्रित दैन्योक्ति का उच्चारण हुआ। उसने रसराजके कर्णोंमें मानो मधुकी वर्षा ही कर दी। "वेदस्तुति हइते अधिक हरे मन।"

जिस प्रकार श्रीकृष्णके वचनोंका उपेक्षामय और आदरसूचक - दो प्रकारके अर्थ अभिप्रेत थे, उसी प्रकार गोपाङ्गनाओंके वचनोंमें भी दो प्रकारके अर्थ छिपे थे। रस-पारिपाट्यमें दोनों ही समान थे। जहां श्रीकृष्ण द्वारा उपेक्षा दर्शायी गयी, वहां उसके उत्तरमें गोपियों द्वारा प्रार्थना की गई। जब श्रीकृष्ण द्वारा आदर दर्शाया गया तब गोपियों द्वारा प्रत्युत्तरमें परम उदासीनता दर्शायी गई। नायकके वाम आचरणके उत्तरमें नायिका द्वारा दाक्षिण्य प्रदर्शन और नायकके दाक्षिण्य प्रदर्शनके उत्तरमें नायिका का वाम्य प्रदर्शन। इससे रसशास्त्र भी तृप्त हुआ, रस-विलासी श्यामनागर भी परम उल्लसित हुये। आनन्दके आतिशय्यमें श्यामसुन्दरका वाम्य वह गया। वे जिस कृत्रिमता की ओरमें यह सब बोल रहे थे, वह कृत्रिमता विलीन हो गई। परिहासप्रिय, प्रेमदयार्द्रहृदय गोकुलानन्दने अब मुक्त हास्य करते हुए गोपियोंके नयनोंसे प्रवाहित गलदश्रुधाराको अपने उत्तरीयके अञ्चलसे पोंछ दिया। गोपियोंके गलेमें अपना कोमल हस्त डालते हुए ईषत् गर्व-मिश्रित स्नेहके स्वरमें श्रीकृष्णने गोपियों से कहा कि आज तुम पराजित हो गई।

यह बात है भी सत्य। आज सचमुच ही वामा नायिकाओंकी पराजय हुई है। श्रीगोविन्दके वाक्यसूचक अभिनय से धोखा खाकर गोपियोंका वामस्वभाव विलीन हो गया। जिन वाम नायिकाओंके मुखसे 'अधरामृत-प्रार्थना, वक्षपर करार्पण याचना' आदि आज तक कभी भी उच्चारित नहीं हुई, रङ्गढाल रसराज श्रीकृष्णने आज अपनी कौतुकपूर्ण वाक्चातुरी द्वारा वही उनके मुखसे कहलवाकर श्रवण कर लिया। लीलारङ्गभूमिमें इस जयलाभके उल्लासमें भरकर श्यामनागरने गोपियोंसे कहा—

"अब स्वच्छन्दपूर्वक मेरे संग विहार करो। मैं अब तुम्हारे सम्मुख अपने अन्तर का कपाट खोले दे रहा हूं। जिसकी जैसी कामना हो, वैसा यथेच्छ लूटने की तुम्हें पूरी छूट है।

किन्तु श्रीकृष्ण द्वारा हृदयके कपाट खोलने से क्या होगा? गोपीजनों का आनन्द लूटने की शक्ति ही लुप्त होगई है! पराजय की लज्जा हेतु उनका स्वभावगत वाम्य पुनः उनपर प्रबल रूपसे अधिकार जमा चुका है। जो कुछ क्षण पहिले तक विरह और नैराश्य हेतु उन्मादिनी दीख रही थीं, श्रीकृष्णके आशा से अधिक दाक्षिण्य प्रदर्शन हेतु हठात् उनके वाम्यभावने उनपर आधिपत्य जमा लिया। उनके इस वाम भावको दूर करने हेतु रसराज उनका गात्रस्पर्श करके नानाविध आदर एवं प्रेम दिखाने लगे। गोपियों को नानाविध विहार का प्रलोभन देकर नटनागर अब गोपललनाओं के प्रेमका आस्वादन करने हेतु प्रबल आग्रह प्रदर्शित करने लगे। कितना मधुर दृश्य है? यह दृश्य देखकर लगता है मानो आत्माराम आज गोपीप्रेमके अधीन होकर उनके आदर और प्रेमके भिखारी सजे हैं।

आकाशमें तारिकाओंसे परिवेष्टित पूर्ण चन्द्र शोभित हो रहा है किन्तु घने बादलोंसे ढके होने हेतु शोभा निखर नहीं रही है। मेघ विलीन हो जाँय तब ही चांदनीकी असली छटा खिलेगी। श्रीगोविन्दकी भी गोपीजनोंने चारों दिशाओं से घेर कर रखा है किन्तु उपेक्षा एवं नैराश्यके घने कालेमेघसे आवृत होने हेतु शोभा नहीं हो रही है। हठात् मेघ हटगये, विलीन हो गये; वंशीवट गोपी-गोविन्द की मिलन-सुषमा द्वारा उद्भासित हो गया।

रसराज की उदार लीला प्रारम्भ हुई। व्रजाङ्गनाओंमें से किसीके अङ्गपर हस्तार्पण, किसीके अङ्गपार पुष्प-क्षेपण, किसी की ठोड़ी ऊपर उठाकर मधुर चितवन—इत्यादि शत शत प्रकार की मधुमय प्रचेष्टामें उन्हें अनुकूल बनाने हतु होने लगीं। वामनयनाओंके युगल नयन-पद्म मुद्रित है। रसराजकी दृष्टि—सूर्यके मधुर किरण पातसे धीरे—धीरे नेत्र उन्मीलित हो रहे हैं। यह मधुर दृश्य दर्शन करके ही श्रीशुकदेवजी बोल उठे—"प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखी गोपाङ्गनाओं की शोभा का दर्शन करो"।

श्रीकृष्णके श्रीमुखके प्राण-भरे हास्यसे मानो उनके समस्त अङ्गोंसे लावण्य छिटक कर चारों दिशओं को व्याप्त कर रहा है दन्तपंक्ति की शुभ्रछटासे व्रजाङ्गनाओं के लज्जावृत्त समस्त अङ्ग मानो कुमुदिनीकी भांति प्रस्फुटित हो रहे हैं। श्रीकृष्णके गलेमें वैजयन्तीमाला दोलायमान है; उनके मधुर रूपकी उज्ज्वलतासे वनभूमि झलमल कर रही है। मधुर चालसे वे यमुना तटवर्ती रासस्थली पर आये। वहां स्निग्ध पवन सुगन्धित पुष्पोंकी गंध से मत्त होकर मंद मंद बह रहा था। पुलिनके बालुका-कण सूक्ष्म, शीतल और कर्पूर की भांति उज्ज्वल एवं धवल थे, जिससेकि नृत्य के समय चरणोंमें किसी प्रकार की व्यथा नहो।

रास-क्रीड़ा प्रारम्भ हुई। शत-कोटि गोपियोंके संग श्रीकृष्ण एकाकी नृत्य कर रहे हैं। प्रत्येक गोपीको लगता है मानो श्यामनागर उसीके सन्निधानमें हैं। इससे गोपियोंके हृदयमें गोविन्द-कामना अधिक प्रबल होकर हिलोरे ले रही है। मधुमय क्रीड़ा अबाध चल रही है।

रसराजने किसी गोपीको वक्षके समीप खींच लिया, तो किसीके अङ्गपर नख-स्पर्श किया। किसीके ऊरुपर, किसीकी नीविपर स्नेहमय श्रीकरका स्पर्श प्रदान किया। इस प्रकार गोपियोंकी लालसा वृद्धिप्रात हुई और नाना प्रकारके क्रीड़ा-विहार-चेष्टायें चलने लगीं। ज्यों ज्यों क्षुधा बढती है, खाद्य वस्तुके स्वादमें भी त्यों त्यों वृद्धि होकर अधिक आनन्द प्राप्त होता है। उत्कण्ठा और उत्साह बढ़ने से ही प्राप्त वस्तुका आनन्द निविड़तर होता है। श्रीकृष्णने अपने मधुर हास्यमय दृष्टिपात द्वारा गोपियों की कामना का उद्दीपन किया। यह भक्तऔर भगवान के प्रेम का खेल है, नायक-नायिका की रसमय क्रीड़ा है, यही तो रास है। एकबार आरम्भ होनेके बाद रासलीला की गति क्रमशः वर्धित होने लगी॥ ४२-४६॥

(१५)

गोपियोंका हृदय एक ऐसा प्रेमका समुद्र है, जिसमें अगणित तरङ्गें उठती रहती हैं। एक योगमायाके अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं जानता कि कब किस भावकी तरङ्ग उठेगी। रासलीलाके मध्यमें ही हठात् दो नवीन तरंगें उठी—एक मद, दूसरी मान। मुझे अपने अभीप्सितकी प्राप्ति हो गयी है, अतः मैं कितनी भाग्यशाली हूँ, और तुम्हें तुम्हारे इष्टकी प्राप्ति नहीं हुई अतः तुम तुच्छ और भाग्यहीन हो—इस भावका नाम है मद। गोपियाँ सोचने लगी—"हम कृष्ण-धन प्राप्त करके धनी हैं। अन्य किसके पास है ऐसा धन? ऐसा धन न इन्द्राणीके पास है, न ब्रह्माणीके पास है। हमलोगोंके अतिरिक्त अन्य किसीके पास ऐसा धन नहीं है, सुतरां इस त्रिभुवनमें भी हमसे श्रेष्ठ भाग्यवती रमणी अन्य कोई नहीं है (इष्टलाभादिना चान्यहेलनं गर्वः)।

समस्त गोपियोंकी शिरोमणि जो एक गोपी थी—उसको हो गया मान। श्रीकृष्ण सभी के साथ एक-जैसा व्यवहार कर रहे हैं—ऐसा क्यों करेंगे? जो श्रेष्ठ है, उसे श्रेष्ठ व्यवहार क्यों नहीं मिलेगा? इस भावनाहेतु वे मानिनी हो गयीं। ये

करनेमें सक्षम हैं। हमने सुना है कि साक्षात् लक्ष्मीदेवी और तुलसी तुम्हारे इन चरणोंकी कामना करती हैं, तो वे ऐसा किया करें इससे हमें क्या लेना-देना ? लक्ष्मीदेवी तो चंचला हैं और तुलसीके पास पातिव्रत्य-धन ही नहीं है। सुतरां उनका अनुकरण हम नहीं करेंगीं।

तुम्हारे इस असदाचरणसे सारा पुरुषसमाज कलङ्कित हो जायगा—"(पुरुषभूः पुरुषसामान्यः तस्य ऊषकं पीडकः—तज्जातिमात्रकलङ्ककारिन्)"। सुतरां अपने इस असदाचरणसे विरत होवो। हमें अपने रूपसे मोहित करके वशमें कर लोगे,—यह आशा त्याग दो। इतना सौन्दर्य-गर्व अच्छा नहीं है। "अ-मदास्यः भवः—मदः गर्वः तद्युक्तं आस्यं यस्य सः"।

हम धर्मनाशके भयसे आर्त हो रही हैं, अतः यह आर्ति हरण करो। अरे ! यह क्या ? तुम तो हमारे अङ्ग स्पर्श करनेकी चेष्टा कर रहे हो ! ऐसा न करो। केवल हमारे ही क्यों, अन्य किसी भी नारीके, यहां तक कि अपनी गृहदासीके अङ्ग स्पर्श करनेकी चेष्टा भी तुम्हें नहीं करनी चाहिये। हमारा वक्ष स्पर्श करनेकी आशाको अपने हृदयमें स्थान मत दो, ऐसा करवाना असम्भव है, अतः पथरोध करके क्यों खड़े हो ? हमारे पथसे दूर हट जाओ, हमें अपने गृह लौट जाने दो।

गोपाङ्गनाओंने जिन एकादश श्लोकोंका उच्चारण किया, उनका एक अन्य तात्पर्य ऊपर कथित हुआ। इसी प्रकार सभी श्लोकोंके दो प्रकारके अर्थ हैं। श्रीसनातन गोस्वामीने इनका नामकरण किया है—उपेक्षाभङ्गिमय और प्रार्थनाभङ्गिमय। इसके अतिरिक्त गोस्वामीपादने युगलार्थसन्धापनमय। और वास्तवार्थमय नाम देकर दो प्रकारके अन्य अर्थोंका भी संकेत किया है। जटिलता परिहार हेतु इन चारमें से दो अर्थोंकी आलोचना की गई।

द्वितीय प्रकारका अर्थ श्रवण करके भावुक और रसिक भक्तोंका मत-परिवर्तन हुआ। इस बार भक्त-भगवानके आलाप में भगवान्की उक्ति सुन्दर है। भगवान भक्तकी सादर अभ्यर्थना करते हैं। नायक-नायिकाकी उक्तिमें प्रत्युक्तिमें से उस बार नायिकाकी प्रत्युक्ति चमत्कार पूर्ण लगती है। नायकके असीम आग्रहकी उपेक्षा करके जो रमणी स्थिर रहती है, रस-शास्त्रमें वही स्वाधीन भर्तृका साधुजनों द्वारा प्रशंसित होती है। दोनों उत्तरोंको मिलाकर दोनों पक्ष ही संतुष्ट और प्रीत हुये। अब यदि कोई जानना चाहे कि वास्तविक अर्थ कौन सा है, तो हम कहेंगे कि हम नहीं जानते। जिसने कहा है और जिसे उद्देश्य करके कहा है, वे ही जानते हैं। श्रीगोस्वामीपादने भी कहा है—

यासामेव प्रसादेन यासां श्रीनागरेश्वरे। जल्पतत्त्वं ज्ञायते ता वन्दे श्रीनागरीश्वरीः॥ ३९-४१॥

(१४)

श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी प्रियतमाओं की प्रणयकोपकी वाणी सुनी। जिस प्रकार की वाणी श्रवण करने हेतु उनके हृदयमें तीव्र लालसा थी, ठीक उसी प्रकारकी वाणी सुनी एवं उनकी मनोकामना पूर्ण हुई। ये एकादश श्लोक क्या थे, मानो गोपीजनोंकी निरावरण एकादश इन्द्रियां ही थीं, जिनका दर्शन करके श्रीकृष्णकी एकादश इन्द्रियां भी मधुमय हो गयीं। श्यामसुन्दर के परिहासवाक्य श्रवण करके गोपियोंके चित्रमें एक नैराश्यमय विकलता उत्पन्न हो गयी थी जिसके फलस्वरूप उनके मुख से प्रणय-कोप जन्य रोष मिश्रित दैन्योक्ति का उच्चारण हुआ। उसने रसराजके कर्णोंमें मानो मधुकी वर्षा ही कर दी। "वेदस्तुति हइते अधिक हरे मन।"

जिस प्रकार श्रीकृष्णके वचनोंका उपेक्षामय और आदरसूचक - दो प्रकारके अर्थ अभिप्रेत थे, उसी प्रकार गोपाङ्गनाओंके वचनोंमें भी दो प्रकारके अर्थ छिपे थे। रस-पारिपाट्यमें दोनों ही समान थे। जहां श्रीकृष्ण द्वारा उपेक्षा दर्शायी गयी, वहां उसके उत्तरमें गोपियों द्वारा प्रार्थना की गई। जब श्रीकृष्ण द्वारा आदर दर्शाया गया तब गोपियों द्वारा प्रत्युत्तरमें परम उदासीनता दर्शायी गई। नायकके वाम आचरणके उत्तरमें नायिका द्वारा दाक्षिण्य प्रदर्शन और नायकके दाक्षिण्य प्रदर्शनके उत्तरमें नायिका का वाम्य प्रदर्शन। इससे रसशास्त्र भी तृप्त हुआ, रस-विलासी श्यामनागर भी परम उल्लसित हुये। आनन्दके आतिशय्यमें श्यामसुन्दरका वाम्य बह गया। वे जिस कृत्रिमता की ओरमें यह सब बोल रहे थे, वह कृत्रिमता विलीन हो गई। परिहासप्रिय, प्रेमदयार्द्रहृदय गोकुलानन्दने अब मुक्त हास्य करते हुए गोपियोंके नयनोंसे प्रवाहित गलदश्रुधाराको अपने उत्तरीयके अञ्चलसे पोंछ दिया। गोपियोंके गलेमें अपना कोमल हस्त डालते हुए ईषत् गर्व-मिश्रित स्नेहके स्वरमें श्रीकृष्णने गोपियों से कहा कि आज तुम पराजित हो गई।

यह बात है भी सत्य। आज सचमुच ही वामा नायिकाओंकी पराजय हुई है। श्रीगोविन्दके वाक्यसूचक अभिनय से धोखा खाकर गोपियोंका वामस्वभाव विलीन हो गया। जिन वाम नायिकाओंके मुखसे 'अधरामृत—प्रार्थना, वक्षपर करार्पण याचना' आदि आज तक कभी भी उच्चारित नहीं हुई, रङ्गाल रसराज श्रीकृष्णने आज अपनी कौतुकपूर्ण वाक्चातुरी द्वारा वही उनके मुखसे कहलवाकर श्रवण कर लिया। लीलारङ्गभूमिमें इस जयलाभके उल्लासमें भरकर श्यामनागरने गोपियोंसे कहा—

"अब स्वच्छन्दपूर्वक मेरे संग विहार करो। मैं अब तुम्हारे सम्मुख अपने अन्तर का कपाट खोले दे रहा हूं। जिसकी जैसी कामना हो, वैसा यथेच्छ लूटने की तुम्हें पूरी छूट है।

किन्तु श्रीकृष्ण द्वारा हृदयके कपाट खोलने से क्या होगा ? गोपीजनों का आनन्द लूटने की शक्ति ही लुप्त होगई है ! पराजय की लज्जा हेतु उनका स्वभावगत वाम्य पुनः उनपर प्रबल रूपसे अधिकार जमा चुका है। जो कुछ क्षण पहिले तक विरह और नैराश्य हेतु उन्मादिनी दीख रही थीं, श्रीकृष्णके आशा से अधिक दाक्षिण्य प्रदर्शन हेतु हठात् उनके वाम्यभावने उनपर आधिपत्य जमा लिया। उनके इस वाम भावको दूर करने हेतु रसराज उनका गात्रस्पर्श करके नानाविध आदर एवं प्रेम दिखाने लगे। गोपियों को नानाविध विहार का प्रलोभन देकर नटनागर अब गोपललनाओं के प्रेमका आस्वादन करने हेतु प्रबल आग्रह प्रदर्शित करने लगे। कितना मधुर दृश्य है ? यह दृश्य देखकर लगता है मानो आत्माराम आज गोपीप्रेमके अधीन होकर उनके आदर और प्रेमके भिखारी सजे हैं।

आकाशमें तारिकाओंसे परिवेष्टित पूर्ण चन्द्र शोभित हो रहा है किन्तु घने बादलोंसे ढके होने हेतु शोभा निखर नहीं रही है। मेघ विलीन हो जाँय तब ही चांदनीकी असली छटा खिलेगी। श्रीगोविन्दकी भी गोपीजनोंने चारों दिशाओं से घेर कर रखा है किन्तु उपेक्षा एवं नैराश्यके घने कालेमेघसे आवृत होने हेतु शोभा नहीं हो रही है। हठात् मेघ हटगये, विलीन हो गये; वंशीवट गोपी–गोविन्द की मिलन–सुषमा द्वारा उद्भासित हो गया।

रसराज की उदार लीला प्रारम्भ हुई। व्रजाङ्गनाओंमें से किसीके अङ्गपर हस्तार्पण, किसीके अङ्गपार पुष्प–क्षेपण, किसी की ठोड़ी ऊपर उठाकर मधुर चितवन—इत्यादि शत शत प्रकार की मधुमय प्रचेष्टामें उन्हें अनुकूल बनाने हेतु होने लगीं। वामनयनाओंके युगल नयन–पद्म मुद्रित है। रसराजकी दृष्टि—सूर्यके मधुर किरण पातसे धीरे—धीरे नेत्र उन्मीलित हो रहे हैं। यह मधुर दृश्य दर्शन करके ही श्रीशुकदेवजी बोल उठे—"प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखी गोपाङ्गनाओं की शोभा का दर्शन करो"।

श्रीकृष्णके श्रीमुखके प्राण-भरे हास्यसे मानो उनके समस्त अङ्गोंसे लावण्य छिटक कर चारों दिशाओं को व्याप्त कर रहा है दन्तपंक्ति की शुभ्रछटासे व्रजाङ्गनाओं के लज्जावृत्त समस्त अङ्ग मानो कुमुदिनीकी भांति प्रस्फुटित हो रहे हैं। श्रीकृष्णके गलेमें वैजयन्तीमाला दोलायमान है; उनके मधुर रूपकी उज्ज्वलतासे वनभूमि झलमल कर रही है। मधुर चालसे वे यमुना तटवर्ती रासस्थली पर आये। वहां स्निग्ध पवन सुगन्धित पुष्पोंकी गंध से मत्त होकर मंद मंद बह रहा था। पुलिनके बालुका-कण सूक्ष्म, शीतल और कर्पूर की भांति उज्ज्वल एवं धवल थे, जिससेकि नृत्य के समय चरणोंमें किसी प्रकार की व्यथा नहो।

रास–क्रीड़ा प्रारम्भ हुई। शत–कोटि गोपियोंके संग श्रीकृष्ण एकाकी नृत्य कर रहे हैं। प्रत्येक गोपीको लगता है मानो श्यामनागर उसीके सन्निधानमें हैं। इससे गोपियोंके हृदयमें गोविन्द–कामना अधिक प्रबल होकर हिलोरे ले रही है। मधुमय क्रीड़ा अबाध चल रही है।

रसराजने किसी गोपीको वक्षके समीप खींच लिया, तो किसीके अङ्गपर नख–स्पर्श किया। किसीके ऊरुपर, किसीकी नीविपर स्नेहमय श्रीकरका स्पर्श प्रदान किया। इस प्रकार गोपियोंकी लालसा वृद्धिप्रात हुई और नाना प्रकारके क्रीड़ा–विहार–चेष्टायें चलने लगीं। ज्यों ज्यों क्षुधा बढती है, खादय वस्तुके स्वादमें भी त्यों त्यों वृद्धि होकर अधिक आनन्द प्राप्त होता है। उत्कण्ठा और उत्साह बढ़ने से ही प्राप्त वस्तुका आनन्द निविड़तर होता है। श्रीकृष्णने अपने मधुर हास्यमय दृष्टिपात द्वारा गोपियों की कामना का उद्दीपन किया। यह भक्तऔर भगवान के प्रेम का खेल है, नायक–नायिका की रसमय क्रीड़ा है, यही तो रास है। एकबार आरम्भ होनेके बाद रासलीला की गति क्रमशः वर्धित होने लगी॥ ४२–४६॥

(१५)

गोपियोंका हृदय एक ऐसा प्रेमका समुद्र है, जिसमें अगणित तरङ्गें उठती रहती हैं। एक योगमायाके अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं जानता कि कब किस भावकी तरङ्ग उठेगी। रासलीलाके मध्यमें ही हठात् दो नवीन तरंगें उठी—एक मद, दूसरी मान। मुझे अपने अभीप्सितकी प्राप्ति हो गयी है, अतः मैं कितनी भाग्यशाली हूँ, और तुम्हें तुम्हारे इष्टकी प्राप्ति नहीं हुई अतः तुम तुच्छ और भाग्यहीन हो—इस भावका नाम है मद। गोपियाँ सोचने लगी—"हम कृष्ण-धन प्राप्त करके धनी हैं। अन्य किसके पास है ऐसा धन ? ऐसा धन न इन्द्राणीके पास है, न ब्रह्माणीके पास है। हमलोगोंके अतिरिक्त अन्य किसीके पास ऐसा धन नहीं है, सुवरां इस त्रिभुवनमें भी हमसे श्रेष्ठ भाग्यवती रमणी अन्य कोई नहीं है (इष्टलाभादिना चान्यहेलनं गर्वः)।

समस्त गोपियोंकी शिरोमणि जो एक गोपी थी—उसको हो गया मान। श्रीकृष्ण सभी के साथ एक-जैसा व्यवहार कर रहे हैं—ऐसा क्यों करेंगे ? जो श्रेष्ठ है, उसे श्रेष्ठ व्यवहार क्यों नहीं मिलेगा ? इस भावनाहेतु वे मानिनी हो गयीं। ये

मानिनी ही भानुसुता राधा हैं। भागवतमें श्रीराधाका नाम नहीं है, किन्तु मात्र इशारा है। जिन्हें सौभाग्यमद हुआ, उनकी दृष्टि ऐसे स्थान पर गयी जहां श्रीकृष्ण नहीं हैं; अर्थात् उनकी दृष्टि इन्द्राणी, ब्रह्माणीके पास गई, जिनके पास कृष्ण-धन नहीं है। श्रीकृष्णके समीप अवस्थान करते हुये भी उनका मन कृष्ण-शून्य स्थान पर चला गया। किन्तु मानवतीकी स्थिति इससे विपरीत है। उनका मन वहीं जा रहा है, जहां जहां श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण जिस प्रकार सबके पार्श्वमें हैं, उतने ही मेरे पास हैं। मुझे उनका सान्निध्य इससे अधिक क्यों नहीं मिलना चाहिये ? मैं उनकी श्रेष्ठ प्रियतमा हूँ, अतः उनका सान्निध्य भी सबसे अधिक मिलना चाहिये।

साधारण प्रेम देखि सर्वत्र समता। राधार कुटिल प्रेम हइल वामता ॥

मदयुक्ता गोपीजनोंको जितना प्राप्त हुआ है, उससे उनका आधार (भाण्ड) पूर्ण हो गया है। मानिनीको जितना प्राप्त हुआ है उससे उसे तृप्ति नहीं है, उसके पात्रमें अधिककी मांग है। श्रीकृष्ण-माधुर्यके आस्वादन हेतु उसकी क्षुधा सर्वाधिक है। वे मानवश अब आलिंगन-विमुख हो गयी हैं। "आश्लेषवीक्षादिनिरोधी मानः।"

दो कटाहोंमें दूध भरा है। दोनोंको एक ही स्थानसे बराबर मात्रामें अग्नितप प्रदान किया जा रहा है, किन्तु दोनों कटाहोंमें फल अलग प्रकारके हुए। एक कटाहका दूध उफनकर बाहर गिरने लगा, जब कि दूसरे कटाहका दूध गाढा होते होते मावा बना गया। तुलना करें तो प्रथम कटाह का दूध मदयुक्ता गोपी सदृश है और द्वितीय कटाहका दूध मानिनी गोपी-सदृश है। अब मदका प्रशमन करना होगा अर्थात् उफनते हुये दूधका उफान बंद करना होगा। और मानका प्रसादन करना होगा अर्थात् मधुर मावेको कटाहसे निकालकर भोग लगाना होगा। अग्निका ताप कम कर दें तो दोनों ही कार्य हो जायंगे। रसराज गोविन्द द्वारा प्रदत्त आदर एवं प्रेमके आतिशय्य एवं औदार्य हेतु ही मद और मानकी उत्पत्ति हुई है। अतः आदर कम करना आवश्यक है। इस उद्देश्यकी पूर्ति हेतु रसिकशेखर श्यामसुंदर रासमण्डलसे अन्तर्हित हो गये।

जिनका मन कृष्ण-शून्य स्थानमें भ्रमण कर रहा था, उन्होंने हठात् देखा कि प्राण-देवता उनके पार्श्वमें नहीं हैं। तत्क्षणात् उनका मद प्रशमित हो गया। इधर मानिनीको एकाकी निर्जन स्थानपर ले जाकर अधिक आदर प्रदान करनेसे ही प्रसादन होगा। गोपीकी सेवाका रूप शुद्ध कृष्णसुखैकमयी है किन्तु "कृष्णेर सकल वाञ्छा राधातेइ रहे।" श्रीराधा यदि पृथकरूपसे विशेष सेवा नहीं करती हैं तो कृष्ण-सुखमें कमी आती है। इसीलिये श्रीकृष्णके विशेष सुख-विधान-हेतु ही मान और उसके प्रसादनकी व्यवस्था है। श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेका हेतु है—"प्रशमाय प्रसादाय"। मधुरलीलाके मध्यमें योगमायाने हठात् ऐसा क्यों किया ? सङ्गीतका स्वर सर्वोच्च स्तरपर आरोहण करनेके पश्चात् उसे पुनः सोमपर लाकर नया गान प्रारम्भ करना पड़ता है। गोपीगोविन्दका मिलनानन्द चरम पर पहुँच चुका है, अतः पुनः विरह-वेदनाके सोम पर न लानेसे रसकी पूर्ण परिपुष्टि नहीं हो सकती। मिलनानन्द और विरहवेदना—इन दो ज्वार-भाटोंकी उपस्थितिसे ही रसकी स्रोतस्विनीका सौन्दर्य है। एक दूसरेका पूरक है। यह गर्व, मान इत्यादि सभी अप्राकृत एवं शुद्धसत्वगुणी है।

"न विना विप्रलम्भेन रसः सम्पुष्टिमश्नुते"—विप्रलम्भ न हो तो सम्भोग पुष्ट नहीं होता। विरह व्यतीत मिलनके माधुर्यका आनन्द कैसे प्राप्त होगा ? रासमें अब विरह आवश्यक है। इसी उद्देश्यसे योगमायाने यह कौशल दिखाया है ॥ ४७-४८ ॥

उनतीसवीं अध्यायकी "फेलालव" नामक व्याख्या समाप्त हुई ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

[इस अध्यायमें विरहसंतप्त गोपाङ्गनाओंने अतिदीर्घ रात्रिभर उन्मत्त की भांति वनमें श्रीकृष्णान्वेषण हेतु विचरण करते हुए जैसा आचरण किया था, उसका वर्णन किया गया है ।]

(१६)

हाथियोंके यूथ जब वनमें क्रीड़ा करते हैं तब यूथपति गजराज का अनुगमन करती हुई अनेक हथिनियां झूमती हुई चलती हैं । गजराज अपनी शुण्ड द्वारा हथिनियोंके अङ्ग स्पर्श करके उन्हें नानाविध आनन्द प्रदान करता है । गजराज यदि हठात् उन्हें त्यागकर अन्यत्र चला जाता है तो हथिनियां उन्मादिनी-सी हो जाती हैं । ठीक वैसी ही अवस्था श्रीकृष्णके विरहमें व्रजाङ्गनाओं की हुई । श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त मधुर प्रेम-व्यवहारके अभावमें वे पूर्णतः पागल ही हो गयीं ।

किन्तु बाह्यरूपसे कृष्ण-हारा होकर उन्हें अंतरमें कृष्ण की प्राप्ति होगई । श्रीकृष्णके संग मिलनसे बाहर परमानन्द की प्राप्ति होती है तो अन्तरमें भविष्यत् में होनेवाले विरहकी तीव्र वेदना रहती है । विरहकालमें बाहर दुःसह सताप रहता है तो अन्तर अतीत मिलनकी सुखस्मृति हेतु आनन्दसे भरपूर रहता है ।

बाहिरे विषज्वाला हय, अन्तरे आनन्दमय, कृष्ण-प्रेमार अद्भुत चरित ।

अन्तरकी आनन्द-तन्मयता-हेतु उनका तत्कालीन आकार-इंगितभाव-भङ्गी प्राणकान्त सदृश ही हो गयी । यहां तक कि कोई-कोई गौरवर्णा गोपी कृष्ण-वर्णा भी हो गई ।

"चित्रं कृष्णावेशितामाप गौराङ्गी सा कृष्णवर्णा प्रतीता ।।"—श्रीजीव तब विरहिणी गोपाङ्गनाएं श्रीकृष्णभावसे विभावित होगयीं । गंभीर ध्यानके फलस्वरूप उनमें श्रीकृष्ण की गति भङ्गी, मधुमय हास्य, प्रेमभरी दृष्टि प्रस्फुटित होगई । शास्त्रमें इसे प्रतिरूढ़ मूर्ति कहा जाता है । इस अवस्था का प्राप्त होकर वे परस्पर को कहने लगीं—"मै ही कृष्ण हू । तुम व्याकुल क्यों हो रही हो ? देखो, मैं तो तुम्हारे समीप ही हूँ ।" यह अवस्था अहंग्रह—उपासना अथवा अद्वैतवादियों की "अहं ब्रह्मास्मि" अनुभूति नहीं है । प्रेम—तन्मयतावश रसके लीलासागरमें यह मात्र एक अनुभाव—विशेष है ।

कुछ क्षण पश्चात् यह अनुभाव-तरंग प्रशमित हो गई । विरहवेदना तीव्रतर हो गई । तब सब व्रजाङ्गनाएं समवेत होकर श्रीकृष्णके गुणगान करती हुई वनसे वनान्तरमें अनुसंधान करती हुई भटकने लगीं । वे उन्मादिनोंकी भांति वनके वृक्ष-समूहोंसे—यहां तक कि लताओंसे भो कृष्णका पता पूछने लगीं । उनके बाह्य-भीतर सर्वत्र कृष्णकी ही स्फूर्ति होने लगी । स्थावर-जङ्गम सर्वभूतोंमें उन्मुक्त आकाशको भांति कृष्ण-तन्मयता छा गयी । उन्होंने तत्त्वज्ञोंकी भांत सर्वभूतोंमें कृष्णान्वेषण नहीं किया । एतद्विपरीत जो सर्वभूतोंमें व्यापक हैं, उनका पता सबसे जिज्ञासा करने लगीं ।

प्रेमातुरा व्रजाङ्गनाओंने पीपल, पाकर, वट आदि विशालाकार वृक्षोंको देखकर विचार किया कि ये ऊँचे हैं अतः इनकी दृष्टि दूर-दूरतक जाती है, अतः इन्हें प्राणकान्त कृष्णकी खबर अवश्य होगी । वे जिज्ञासा करने लगीं—"आपलोगोंने नन्दनन्दनको इस पथसे जाते हुए देखा है क्या ? आह ! आप हमें स्वयही उन्हें खोजने हेतु कह रहे हैं ? किन्तु हम एसा नहीं कर पा रही हैं, कारण खोजनेमें भी तो मनोयोग लगाना पड़ता है, जो हमारे पास नहीं है । हमारा मन तो कृष्णने पहले ही चुरा लिया । कैसे चुराया, यह भी बता दें । उसकी प्रेमयुक्त हास्यसमन्वित दृष्टिके सामने किसी का मन स्वयके पास नहीं रह सकता ।"

गोपाङ्गनाएँ वृक्षोंके उत्तरकी अपेक्षामें कुछ क्षण खड़ी रहीं । किसी वृक्षने अपना अग्रभाग नत करके मानो संकेत दिया कि वह इससे विमुख है । अन्य एक वृक्षने अपने ऊपर मडराते मदमत्त भ्रमरोंके गुंजन द्वारा मानो अपने क्रोधभावको व्यक्त किया । जो लोग ज्यादा बड़े होते हैं, वे छोटोंकी बातोंपर विशेष ध्यान नहीं दिया करते । अतएव गोपियां थोड़ा अग्रसर होकर अपेक्षाकृत छोटे सदाबहार, अशोक, नागकेशर, चम्पा प्रभृति वृक्षोंसे जिज्ञासा करने लगीं—"क्या तुमने बलरामजीके लघु भ्राताको इस पथसे जाते हुये देखा है ? उनके मुखमण्डल पर गर्वपूर्ण मुस्कान है, कारण जब हमें दर्प हो गया तो उन्होंने एक क्षणमें ही अन्तर्धान होकर हमारा दर्प चूर्ण कर दिया । किन्तु उस दर्पहारीकी विरह-व्यथा असहनीय है, इसलिये तुमसे उनके बारेमें पूछ रही हैं ।" गोपियाँ कुछक्षण उनकी तरफ आकुल दृष्टिसे निहारते हुये उत्तरकी अपेक्षामें खड़ी रहीं, किन्तु कोई उत्तर नहीं मिला । अब प्रश्न-कर्त्रियोंको लगा कि ये सभी वृक्ष पुरुष जातिके हैं, अतः नारीकी वेदना समझने योग्य बोध-शक्तिका इनमें अभाव है । देखें, कोई सम-व्यथित मिल जावे तो ! इतनेमें सम्मुख तुलसीवन दृष्टिगोचर हुआ तो सब वहीं

खड़ी रह गयीं। इसबार उन्हें सही उत्तर प्राप्त होनेकी आशा हुई। वे कहने लगीं—हे तुलसी! तुम तो कल्याणी हो; श्रीगोविन्दके श्रीचरण तुम्हें अत्यन्त प्रिय हैं और तुम भी गोविन्दकी परम प्रिया हो। जब भ्रमर तुम्हारी मंजरी का भोग करते रहते हैं, तब भी श्रीगोविन्द तुम्हारा त्याग नहीं करते। तुम्हारे प्रियतम अच्युत इस वक्त कहां हैं, यह बताकर हमारी प्राणरक्षा करलो। हमामें तो उन्हें खोजने योग्य अब शक्ति भी नहीं रही है।"

उत्तर न पाकर दीर्घनिश्वास छोड़ती हुई ब्रजाङ्गनाएँ परस्पर कहने लगीं—"अरी, कृष्णपरायणा तुलसी तो हमारी सपत्नी है इसीलिये जानते हुए भी ईर्ष्यावश उसने हमें कृष्ण का संवाद नहीं बताया। अग्रसर होने पर अल्प दूरी पर ही पुष्पवन दृष्टिगोचर हुआ। सब गोपियाँ हाथ जोड़कर कहने लगीं—"हे मालति-मल्लिके-यूथिके! तुम्हारे हास्यसे ही स्पष्ट हो रहा है कि तुम्हारे हृदयमें कितना आनन्द भरा है। निश्चय ही आनन्दनिकेतन माधव इसी पथसे गये होंगे और तुम्हारे अंगोंका का द्वारा स्पर्शकरके पुष्प चयन किया होगा। तत्पश्चात् वे किस दिशामें गये हैं, यह तो तुम्हें पता होगा ही? बता देना!" गोपियाँ ताकती रहीं किन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। विरहिणी गोपियोंने सोचा—"ये श्रीकृष्णकी दासी है, अतः उनके आदेश व्यतीत कोई गोपनीय संवाद देनेका इन्हें अधिकार नहीं है। चलो, अन्यत्र चलें।"

विरहिणी गोपाङ्गनाएँ वनपथ पर फिर अग्रसर हुईं; देखा, सम्मुख ही आम्र, कटहल, कचनार, जामुन, बिल्व, कदम्ब आदि वृक्ष खड़े हैं। रुक कर नवजानु होकर गोपियां उससे पूछने लगीं—

आम्र पनस जम्बु कोविदार। तीर्थवासी कर सबे पर उपकार॥
कृष्ण तोमार इँहा आइला? पाइला दर्शन कृष्णेर उद्देश कहि राखह जीवन॥

पथका संधान बता दो, फिर तो हम ढूंढ लेंगी प्राणवल्लभ कृष्ण कहां छिपे हैं। कोई उत्तर नहीं मिला तो गोपियोंने सोचा किये सभी तपस्वी हैं। सब ध्यानमग्न और समाधिस्थ हैं, अतः उत्तर किस प्रकार दे सकते हैं।

हाय! इस रात्रिकालमें इस निर्जन वनमें अब और किसके पास जावें, कहां जावें? कौन सत्पुरुष हमें ब्रजजीवन की वार्ता लाकर सुनावेगा? इस प्रकार कृष्णप्रेममें उन्मादिनी गोपियाँ कृष्णके अदर्शन हेतु विह्वल होकर गिर गयीं॥ १-९॥

(१७)

आकुल-व्याकुल कृष्णविरहिणी गोपाङ्गनाएँ अपने प्राणकान्त का अन्वेषण करती हुयी वनमें इधर उधर भटक रही हैं, किन्तु कोई भी उन्हें श्रीकृष्णका पता नहीं बता रहा। अब वे कहां जावें और किससे जिज्ञासा करें? उन्हें चारों दिशायें शून्य-सी दृष्टिगोचर हो रही हैं, मानो कहीं कोई भी नहीं है। धरित्री पर क्षुद्र-क्षुद्र तृणाङ्कुरोंको देखकर ब्रजाङ्गनाओंको ऐसा लगा मानो पृथिवीदेवीके अङ्गोंमें पुलक प्रकट हो रहा है। इतना रोमाञ्च! निश्चय ही पृथिवीदेवीको श्रीगोविन्दके श्रीचरणोंका सद्यः ही स्पर्श प्राप्त हुआ है। धरणीको सम्बोधन करती हुई ब्रजाङ्गनाएँ जिज्ञासा करने लगीं—"देवि! श्रीगोविन्दके पादपद्मस्पर्श-हेतु तुम्हारी देहमें कितना आनन्द-शिहरण व्यक्त हो रहा है। जरा बताओ तो सही कि तुमने जन्म-जन्मान्तरमें ऐसी कौन सी तपस्या की थी जिसके फलस्वरूप तुम श्रीहरिके पाद-पद्म-स्पर्शसे एकक्षण भी वञ्चित नहीं रहती। श्रीकृष्ण जहाँ कहीं भी रहें, किन्तु रहेंगे तो तुम्हारे वक्षस्थलपर ही। तुमने कौन-सी तपस्याकी, वह यदि हमें भी बता दो तो हम भी वैसी-ही तपस्या करें जिसके फलस्वरूप प्राणकृष्णके श्रीचरणोंको हम भी सर्वदा अपने वक्ष पर धारण करनेकी योग्यता प्राप्त कर लें। देवि! तुम्हें तो इन श्रीचरणोंका स्पर्श इससे पूर्व भी कई बार प्राप्त हो चुका है। जब श्रीवामनभगवान्ने महाराज बलिसे त्रिपादभूमि ग्रहण करने हेतु अपना विराट स्वरूप प्रकट किया, तब भी उन्होंने अपना विशाल पादविक्षेप प्रथमतः तुम्हारे अङ्गपर ही किया था। फिर वराह-अवतारके अवसर पर श्रीभगवान्ने तुम्हें अपने दन्तोंपर धारण किया था एवं आदरपूर्वक आलिंगन प्रदान किया था। किन्तु उन अवसरोंपर तुम्हें इतना प्रेम-रोमाञ्च हुआ हो, ऐसा हमने आजतक सुना नहीं। अतः आजका यह अद्भुत रोमाञ्च तो निश्चय ही ब्रजजीवनके श्रीचरणोंके स्पर्शहेतु ही है।

हे धरणिदेवि! तुम्हें तो निश्चय ही यह पता होगा कि हमारे जीवनधन इस समय कहाँ हैं, कारण तुम्हारे विना तो वे कहीं अन्यत्र गये नहीं होंगे। कृपया इतना-सा बता दो कि कहां जाने पर हमें हमारे प्राण-सर्वस्वके दर्शन होंगे। इतनी विनति करनेपर भी उन्हें जब कोई उत्तर नहीं मिला तब वे विचार करने लगीं—"अरे! पृथिवी भी तो तुलसीकी भांति हमारी सपत्नी ही तो है! अतः उससे इस जिज्ञासाके उत्तरकी आशा रखना ही वृथा है।" हाय! अब हम कहां जायें? किससे प्राणवल्लभ का संवाद जिज्ञासा करें?

इतनेमें उन्हें वन-प्रान्तरमें कुछ हरिणियाँ विचरण करती हुई दृष्टिगोचर हुयी। हरिणियाँ अपने सुन्दर नयन विस्फारित करके इधर ही देख रही थीं। अहो! कितने सुन्दर नेत्र हैं इनके और इनकी दृष्टिभङ्गी भी कितनी सुन्दर है! अवश्य

ही इन्होंने श्रीकृष्णके दर्शन किये हैं, अन्यथा सौन्दर्यका इतना अद्भुत विकाश सम्भव ही नहीं है। विरहिणी गोपियोंने मनमें विचार किया कि श्रीकृष्णदर्शनसे इन हरिणियोंका जीवन धन्य हो गया है। इस जगत्में कृष्ण-दर्शनसे वञ्चित केवल हम गोपियोंका जीवन ही अधन्य है।

गोपियाँ हरिणियोंको सम्बोधित करके कहने लगीं—"हे मृगपत्नियों! हमारा दृढ विश्वास है कि तुमलोगोंने हमारे प्राणवल्लभको इस पथसे जाते हुए निश्चय ही देखा है। वे अकेले नहीं हैं; वे अपने संग अपनी प्रियतमा गोपीको भी ले गये हैं। अरी! तुम उत्तर न देकर मौन क्यों हो? अच्छा, मौन रहकर सारी बात हमसे गोपन रखना चाहती हो? किन्तु ऐसा कर नहीं सकोगी। कारण हमारी नासिका अन्य किसी गंधकी पहिचान नहीं भी कर सके, तब भी श्रीगोविन्दकी अङ्ग-गंध हमारी सुपरिचित है। किन्तु यहां हमें केवल उन्हीं अकेलेकी गंध नहीं मिल रहीं, इस गंधमें उनके गलेमें धारणकी हुई कुन्द-कुसुम-मालाकी सुवास भी स्पष्ट मिश्रित है। सुवास इतनी तीव्र है यह स्पष्ट है कि कुन्द-कुसुमसमूह उनकी प्रियतमाके कुंकुम-चर्चित वक्षके चापसे विमर्दित हो चुके हैं। हमारी नासिका ही अविभ्रांतरूपसे हमें यह संवाद प्रदान कर रही है। निश्चय ही तुमने अपने इन सुन्दरनेत्रोंसे उस सुन्दरतमका अपनी प्रियतमाके संग मिलनका दृश्य देखा है। इसलिये तुम तो निश्चितरूपसे यह बता सकती हो कि श्रीकृष्ण इस समय कहाँ हैं।"

हरिणियाँ अन्यत्र चली गयीं। विरहिणी गोपियोंने सोचा कि ये श्रीकृष्णका संधान जानते हुए भी इसलिये नहीं कह पा रही हैं, क्योंकि चतुरचूड़ामणिने इन्हें ऐसा करनेसे निषेध कर दिया है। इसीलिये ये कुछ भी बोले बिना यहाँसे चली गयीं। अब कहां जावें? किससे जिज्ञासा करनेसे श्रीकृष्णका संधान प्राप्त हो? अल्प दूर अग्रसर होनेपर फलभारसे अवनत वृक्षसमूह दृष्टिगोचर हुये। उनके अवनत मस्तक देखकर गोपियोंने सोचा कि निश्चय ही ये श्रीकृष्णको प्रणाम-मुद्रामें खड़े हैं। किन्तु प्रणामानन्तर मस्तक पुनः उत्तोलित क्यों नहीं कर रहे हैं? सम्भव है कि श्रीकृष्णने इनकी दिशामें दृष्टिपात करके इनका मस्तक स्पर्शपूर्वक आशीर्वाद नहीं दिया हो। अतः ये अभी भी नतमस्तक ही दण्डायमान हैं।

गोपियोंने वृक्षोंसे कहा—"हे वृक्षों! श्यामसुन्दरने इस पथसे गमन करते हुए तुम्हारे प्रणामका अभिनन्दन किया है तो?"

प्रत्युत्तरमें मानों वृक्ष कह रहे हैं—"क्यों नहीं करेंगे? वे जब भी वनमें पधारते हैं, तब हम उन्हें प्रणाम करते हैं। वे हमारी तरफ मधुमय दृष्टिपात करते हुए स्नेहवश हमारे मस्तकको श्रीकरोंसे स्पर्श भी करते हैं। इस कार्यमें वे कभी प्रमाद नहीं करते।" गोपियोंने कहा—"यह बात तो हम भी जानती हैं कि वे कभी प्रमाद नहीं करते। किन्तु आज और अन्य दिनोंकी बातमें थोड़ा पार्थक्य है। यदि श्यामसुन्दर वनमें एकाकी आये होते तो हम भी तुमसे ऐसा प्रश्न नहीं करती। किन्तु आज वे वनमें अपनी प्रियतमाको संग लेकर आये हैं। उनका वाम बाहु तो प्रियाके स्कन्धपर न्यस्त है। इधर प्रियाके श्रीमुखको पद्म समझकर उसपर भ्रमरोंका दल मंडरा रहा है। श्रीकृष्णके दक्षिण हस्तमें लीलाकमल है और उसे घुमा-घुमाकर वे भ्रमर-समुदायको भगा रहे हैं। श्रीकृष्ण अपने दोनों नेत्रोंसे निष्पलक होकर प्रियाके कमल-सदृश नेत्रोंको निहार रहे हैं। क्योंकि उनके दोनों हस्त एवं दोनों नेत्र आज निबद्ध हैं, अतः तुम्हारे प्रणामको ग्रहण करते हुए तुम्हारे मस्तक पर हस्तार्पणपूर्वक आशीर्वाद देनेकी सम्भावना नगण्य ही है। इसीलिये हमने तुमसे यह जिज्ञासा की। वृक्ष मौन दण्डायमान रहे, कोई उत्तर नहीं दिया। गोपियां चिन्तामग्न होकर विचार करने लगीं कि अब और किससे जिज्ञासा करें। इतनेमें एक व्रजबाला उच्चस्वरसे बोलने लगी—"अरी, वृक्षोंसे जिज्ञासा करना व्यर्थ है। उधर देखो, वह जो स्वर्णलता तमाल वृक्षसे लिपटी हुयी दृष्टिगोचर हो रही है, चलो, उससे जिज्ञासा करें। उस लताको निश्चय ही श्रीकृष्णके श्रीकरोंका स्पर्श प्राप्त हुआ है, अन्यथा उसके अङ्गोंमें इतना पुलकोद्गम (रोमांच) नहीं हो सकता। देखो तो सही, लता कितनी आनन्दित लग रही है। उसकी मूलसे लेकर सर्वोपरि शाखा पर्यन्त कितना पुलक हो रहा है। पथमें लताएँ तो और भी कई देखीं किन्तु ऐसी आनन्दित अन्य कोई दृष्टिगोचर नहीं हुई। निश्चय ही श्रीकृष्णने इस पथसे गमन करते समय इस लताके गात्र पर नख-स्पर्श किया है। तभी तो वह आनन्दके आतिशय्यसे शिहर सी रही है। एक अन्य वैशिष्ट्य भी देखो। लताके पति तमालने उसे कितनी दृढतापूर्वक आलिंगन कर रखा है। लताकी देहपर श्रीकृष्णके अङ्ग-स्पर्श-जनित शिहरणका ज्ञान होते हुए भी उसे इस बातसे असंतोष नहीं है। वह हमारे पति देवताओंकी भांति नहीं हैं। चलो, उसके समीप चलें और उससे श्रीकृष्ण-संवाद जिज्ञासा करें। सब गोपियां एक साथ ही उस तमाल-आश्लिष्ट सर्वांगों में कोमल कलियोंको धारण कर रही स्वर्णलताके अभिमुख चल पड़ीं।

विरहिणी गोपियोंकी किसी-किसी उक्तिसे ऐसा लगता है मानो गोपियोंसे यह तथ्य अपरिज्ञात नहीं है कि श्रीकृष्ण अपनी परम प्रेयसी श्रीराधाको संग लेकर ही अन्तर्हित हुये हैं। वस्तुतः यही सत्य है। श्रीराधाकी नित्यसंगिनी एवं स्वपक्षा गोपियोंको तो यह स्पष्ट ज्ञात था कि श्रीकृष्ण एकाकी अन्तर्हित नहीं हुये हैं। इन गोपयोंके विरहका मुख्य हेतु है—श्रीराधा-गोविन्दकी युगल लीलाका अदर्शन। विरहकालमें ये गोपियां ध्यानयोग द्वारा लीलाका दर्शन पाती हैं। इस समय भी श्रीराधा

और श्रीराधानाथ किस प्रकार वन-वनान्तरमें विचरण कर रहे हैं, यह ध्यान द्वारा दर्शन करके ही नित्यसंगिनी गोपियोंने हरिणियों और वनभूमिके वृक्षोंसे उनके विलास-लीलाके सम्बन्धमें जिज्ञासा की थी। किन्तु अन्यान्य गोपियोंका विरह श्रीकृष्ण अदर्शन हेतु है ॥ १०–१३ ॥

(१८)

अन्तर्हित श्यामसुन्दर का अनुसन्धान करते करते व्रजाङ्गनाएँ कातरता की चरम सीमा पर पहुंच गयीं। विरह वेदना इतनी अधिक थी कि अब तो उनमें इधर-उधर आने-जानेकी शक्ति ही नहीं रही, मानो प्राण अब निकलने ही वाले हैं। शास्त्र-कारने ठीक ही कहा है—

वियोग हइले कभु ना जीयाय।

योगमाया ही लीलाशक्ति हैं–लीलाकी साकार-विग्रहस्वरूपिणी हैं। इन विरहिणीयोंके प्राणरक्षाका दायित्व अब उसीका है। तब योगमायाने रस-समुद्रमें एक और अभिनव तरंगकी सृष्टि कर दी। योगमायाने व्रजाङ्गनाओंको लीलाके भावसे भावित करके लीलामयी बना दिया। गोपियां भावतन्मयताकी अवस्थामें अपने प्राणवल्लभकी लीलाओंका अनुकरण करने लगीं। एक अपूर्व दृश्यकी सृष्टि हो गई। कोई एक गोपी पूतना-भावसे भावान्वित हो गयी तो दूसरी एक गोपी कृष्णका अनुकरण करते हुए उसका स्तन्यपान करने लगी। कुछ क्षण पश्चात् पूतना चीत्कार करती हुई मृतावस्थामें दूर जाकर गिर गई। बालगोपालरूपी गोपी उसके वक्षपर स्तन्यपानमें रत रही। एक गोपी हाथोंके बलपर चलती हुई शकटका अभिनय करने लगी तब अन्य एक गोपीने उसके नीचे लेटकर पदक्षेप द्वारा शकट को उल्टा दिया। शकट रूपी गोपी भग्न शकट को भांति मृतवत् पड़ी रही। एक गोपी तृणावर्तका अनुकरण करती हुई घूर्णिवात की भांति चक्कर काटने लगी, तब अन्य एक गोपी श्रीकृष्णके भावसे भावित होकर उनके गलेको कसकर पकड़ लिया मानो शून्यमें उड़ रही हो। कुछ क्षण पश्चात् तृणावर्त भूमि पर मृतावस्थामें गिर पड़ा। गोपियोंकी स्मृतिमें रिंगन-लीला उभर आई–मा यशोदाके अंगनमें घुटनोंके बल चलने की लीला। वन नन्दभवन प्रतीत होने लगा, एक गोपी कृष्णकी भांति ठुमक ठुमक कर चलने लगी। उसके नूपुर किङ्किणी से मधुर ध्वनि होने लगी।

गोपियोंकी स्मृतिमें गोष्ठलीलाका उदय हुआ। दो गोपियां कृष्ण-बलरामकी भांति गोष्ठलीला करने लगे। अनेक गोपियां व्रजबालक बन गयीं। कुछ गोपियां गो-वत्स हो गयीं। फिर उछल-कूद, दौड़ा दौड़ी इत्यादि कितनी ही आनन्ददायक गोष्ठ क्रीडाएँ होने लगी। एक गोपी वत्सासुरका अनुकरण करने लगी तब अन्य एक गोपीने कृष्णरूपसे उसे पैरोंसे पकड़कर घुमाकर उसका वध कर दिया। एक अन्य गोपी वकासुर की भांति ध्यान-मग्न होकर बैठ गई तब कृष्ण रूपी एक अन्य गोपीने उसके होठ पकड़कर चीरकर वध कर दिया। एक गोपी कृष्णानुकरण करती हुई ललित त्रिभङ्गीसे दण्डायमान होकर दूरस्थ गौ-वत्सोंका आह्वान करती हुयी अपनी अंगुलियोंसे मानो मुरली वादन करने लगी। धेनुरूपी कुछ गोपियां वंशी-ध्वनिसे उद्ग्रीव होकर दौड़ी चली आयीं। अन्य कुछ गोपियां गोपबालकोंका अनुकरण करते हुए वेणुनादकी प्रशंसा करने लगीं। एक गोपी कृष्णरूप होकर अन्य एक गोपीके स्कंध पर वाम–बाहु-अर्पण पूर्वक मधुर भङ्गीसे दण्डायमान होकर कहने लगी—'देखो, मैं ही कृष्ण हूँ। मेरी गतिभङ्गी कितनी मनोहर है। भीषण तूफान और वर्षा आ रही है। किन्तु तुम्हें इससे भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं। मैंने इससे तुम्हारी रक्षा करनेकी व्यवस्था कर रखी है।' यह कहकर वह गोपी अपने उत्तरीय (ओढनी) को एक अंगुली पर ऊँचे उठाकर गोवर्धनलीलाका अनुकरण करने लगी। विरहकातरा गोपीकी उस समय ऐसी मुखाकृति हो रही थी मानो ओढनी उठाये रखनेमें भी उसे कष्ट हो रहा हो। एक गोपी टेढीमेढी होकर कालियनागका अनुकरण करती हुयी खड़ी हुई तब अन्य एक गोपी कृष्णरूपसे उछलकर उसके मस्तक पर आरूढ़ होकर नृत्य करने लगी और उसे कहने लगी—"हे दुष्ट सर्प! यहां से अन्यत्र चला जा। जानते हो मैं खलोंका दण्डविधानकर्ता हूँ।" एक गोपी को दिखने लगा मानो वनभूमि दावानलसे दग्ध हो रहो है। कृष्णानुकरण करती हुई एक गोपी बोली—"सब अपने नेत्र मूंद लो"। सबने नेत्र बंध कर लिये तो कृष्णरूप गोपीने दावानल-पानका अभिनय किया।

गोपियोंको दाम बंधनलीला की स्मृति सब लीलाओंके पश्चात् हुई। यह लीला तो बाल्यावस्थाकी है और इसकी स्मृतिका उदय हुआ सर्वशेषमें। ऐसा लगता है मानो मधुर-भाववती गोपियोंमें से किसीको भी माँ यशोदा सजनेकी इच्छा नहीं थी। अतः योगमाया स्वयं ही मा यशोदा बनी। दधिभाण्ड भंग करने हेतु मा यशोदा बालकृष्णको शासन करती हुई धमकाने लगी। कृष्णरूपी गोपी भयभीत होकर कांपने लगी। यशोदाने कृष्णको अपने गलेमें पड़ी पुष्पमालाओंसे बाधा—उदूखल-अनुकारिणी अपर एक गोपीके संग। भयभीत कृष्ण रोने लगे।

इस लीलानुकरण विषयमें जहां-जहां गोपियोंके पक्षमें भावविरोधी या रस-विरोधी परिस्थिति उपस्थित हुई, उसे स्वयं योगमायाने उसका समाधान कर दिया जिससे रस प्रवाहमें कहीं किसी प्रकारकी क्षुण्णता न हो। पूतना, तृणावर्त आदिके

अनुकरणसे उनमें आसुरी भावका सञ्चार नहीं हुआ। इसी प्रकार "मैं कृष्ण हूँ" ऐसा बोलने पर भी उनमें ब्रह्मकी अद्वैत भावना रूढ नहीं हुई। गोपियोंने मधुर रसके विरहमें आकण्ठ निमग्न रहकर ही विरहके आवेशमें ही ये सब अभिनय किये। लौकिक अभिनय की भांति न तो इसमें साज-सज्जा परिवर्तनका झंझट था, न संवाद मुखस्थ करनेकी आवश्यकता थी। एक गंभीर भावावेशमें स्वतःस्फूर्त स्वाभाविक अनुकरण हेतु ही यह लीला प्रकाशित हुई थी। गोस्वामिपादने इस मधुर अभिनयका पारिभाषिक नाम 'लीला' दिया है। उसके लक्षण बताते हुए वे कहते हैं—

"प्रियानुकरणं लीला रम्यैर्वेशक्रियादिभिः"।

प्रेमतन्मयतावश प्रियतमके हाव-भाव, वेष, कथा एवं संवादके अनुकरणका नाम लीलाख्य अनुभाव है। रस-समुद्रमें यह एक विशेष प्रकार की तरंग है। जिस प्रकार एक द्वीप समस्त दिशाओंमें जलवेष्टित रहता है, उसी प्रकार कृष्णविरहताप रूपी आवेष्टनीके मध्यमें यह क्षुद्र स्निग्ध सरोवर था। विरहिणी गोपियां इस अभिनयमें निमग्न होकर विरहके तीव्रतापकी ज्वालाको उतने समय तक भूल गयी हैं। यदि योगमाया इस प्रकारसे लीलाकी आयोजना नहीं करतीं तो गोपियोंकी प्राण-रक्षा नहीं हो सकती थी। इस कालावधिमें उन्होंने श्रीकृष्णकी मधुर रिङ्गण-लीला, नृत्य-गीत, वङ्किम हास्य, कुटिल कटाक्ष प्रभृतिका अनुकरण किया था। इससे विरहकी विषम दावाग्निके मध्यमें भी उनको एक स्निग्ध आश्रय-गुहा प्राप्त हो गयी थी।

कुछ क्षणोंके पश्चात् इस लीला-तन्मयतामें शिथिलता आ गई। उन्होंने पुनः वृक्षलताओंसे कृष्ण-संवादकी जिज्ञासा करना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु किसी भी दिशासे कोई भी संकेत या उत्तर नहीं पाकर वे पुनः उन्मादिनीकी भांति हो गयीं॥ १४–२३॥

(१९)

वनप्रदेश की मिट्टीपर श्रीचरणका एक चिह्न अंकित था, जिसमें ध्वज–वज्र अंकुश–पद्म–यवादि की छाप स्पष्ट दिखलायी पड़ रही थी। जिनका आश्रयही यह श्रीचरण है, उन गोपियों को इसे पहिचाननें में विलम्ब नहीं हुआ। इस पदचिह्न को तो वे ही नहीं पहचान पाते जो इन चरणों की तरफ दृष्टि नहीं रखते और इनकी बगलसे चले जाते हैं। विरहिणी गोपाङ्गनाओं को तो यह पदचिह्न हठात् कुछ दूर रहते हुए ही दिखायी पड़ गया था। उन्हें अपार आनन्द हुआ! 'किसका चरणचिह्न है' कहती हुई सभी गोपियां द्रुत् वेग से दौड़ती हुई वहां आ पहुंची और उसे देखकर कहने लगीं–"अरी! यह तो हमारे हारानिधि प्राण प्रयतम का ही चरणचिह्न है। निश्चय ही वे यहीं कहीं आस–पासमें ही होंगे। विरहतप्ता गोपियां आनन्दके आतिशय्यसे दिग्विदिक्–ज्ञानशून्य हो गयीं। वे परस्पर एक–दूसरी को अंगुलि–संकेत द्वारा ध्वज, वज्र प्रभृति चरणके विशिष्ट चिह्नों को दिखाने लगीं। समस्त गोपियों के नयन–जलसे श्रीगोविन्दका चरण–चिह्न प्लावित हो गया।

कोई–कोई गोपी मिट्टी पर लोट–पोट होती हुई क्रन्दन करते–करते कहने लगीं—"हाय! यदि मैं गोपी न होकर व्रजवन–पथकी रज होती तो यह कोमल–पदचिह्न अपने वक्ष पर धारण पाती।" उन चरण–चिह्नों की दिशामें अग्रसर होने पर उन्हें ऐसे औरभी चरणचिह्न दृष्टिगोचर हुये। कुछ दूर अग्रसर होने पर गोपियों ने देखा कि श्रीकृष्णके पदचिह्नोके साथ–साथ किसी एक गोपीके पदचिह्न भी दृष्टिगोचर हुये। यह देखकर वे परस्पर नाना प्रकार की कथा करने लगीं। श्रीकृष्ण की सहचरी किस रमणीके पदचिह्न हो सकते हैं ये? चरण–चिह्नों की गंभीरता की तरफ लक्ष्य करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह रमणी श्रीकृष्णके स्कंधपर अपनी भुजाको न्यस्त करके गजगामिनी गति से इस प्रकार चली है जैसे गजराजके संग हस्तिनी मस्त होकर चलती है। श्रीगोविन्द रासलीलाके मध्यमें गोपियोंका त्याग करके विशेष प्रीतिका प्रदर्शन करते हुये इस एक गोपीको लेकर अन्तर्हित होगये हैं। "श्रीकृष्णने ऐसा क्यों किया?"—इस विचारसे विपक्ष यूथकी सखियां ईर्ष्यान्विता होगयीं। किन्तु कुछ गोपियां श्रीराधाके चरण–चिह्नोंका दर्शन करके परम आनन्दित होगयीं श्रीराधाके इस महान् सौभाग्यदर्शनसे वे अत्यन्त प्रेम-पुलकित होकर कहने लगीं—"अहो! इस गोपीके सौभाग्य की सीमा नहीं है।"

"अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः। यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥ १०।३०।२८

श्रीराधाके पदचिह्नोंके दर्शनसे अन्तरङ्ग स्वपक्षीय सखियोंके हृदयमें परम आनन्द हुआ। वे मौन रहकर गम्भीर होकर खड़ी रहीं। किन्तु विपक्ष–यूथ वाली सखियां ईर्ष्यान्वित होकर दुःख पा रही हैं। जो उदासीन–यूथकी सखियां हैं, वे अन्य रमणीके पदचिह्नके प्रति भी उदासीन ही हैं। सुहृत्पक्ष की सखियां कहने लगीं—

"प्राणनाथ श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंके पार्श्वमें जिस रमणीका पदचिह्न दृष्टिगोचर हो रहा है, उसके समान भाग्यवती रमणी त्रिलोकीमें कोई नहीं है। निश्चयही उनने जन्मजन्मान्तरोंमें भगवान् नारायण की भक्ति की है। श्रीहरि नारायण सर्वदुःख हारी हैं। नारायण ही ईश्वर हैं; अतः भक्तकी कामना पूर्ण करनेमें समर्थ हैं। श्रीनारायण का भजन करके उस रमणीने निश्चय

ही उनका कृपा–प्रसाद प्राप्त कर लिया है, कारण श्रीहरिकी कृपा व्यतीत इस प्रकार का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त कर पाना असम्भव है। श्यामसुन्दर करोड़ों व्रजाङ्गनाओंका त्याग करके जिसके संग एकान्त निर्जनमें मिलित हुये हैं, अवश्य ही उस रमणीने श्रीभगवान् को सर्वाधिक आराधना की है। उनकी आराधना का प्रकार बताते हुए कविराज गोस्वामी कहते हैं—

कृष्णवाञ्छा पूर्त्ति रूप करे आराधने। अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने॥

"राधयतीति राधा"। श्री जीवगोस्वामिपाद कहते—"राधयति गोविन्दं, गोविन्देन वा राध्यते इति।" जो रमणी गोविन्दकी आराधना करती हैं अथवा जो नारी गोविन्द द्वारा आराधित होती है, वही राधिका है। जो तटस्थयूथ की सखियां हैं वे बोलीं—"भाई, 'यह किस रमणी का पदचिह्न है, वह रमणी कितनी भाग्यवती हैं' इत्यादि आलोचनाओं से हमें क्या लाभ है? आओ, हम उस पादपद्म की रज अपने मस्तक पर धारण करें। इस रज की तो ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मीदेवी पर्यन्त सभी कामना करते हैं। यह धन्य रज मस्तक पर रखकर हमारे श्याम–विरहके दुःख को दूर करे, यही कामना है।" तटस्था गोपियों इस उक्तिपर कर्णपात किये बिना ही चन्द्रा–प्रमुख प्रतिपक्षीया गोपाङ्गनाएँ कहने लगीं—"श्रीचरणरेणुके माहात्म्यके सम्बन्धमें तुमलोगोंने जो कहा, उसपर हम भी अविश्वास नहीं करती हैं। किन्तु इस अन्य रमणीके पदचिह्न दर्शन करके हमारा हृदय अत्यत व्यथित और क्षुब्ध हो गया है। हमारे लिये धैर्यधारण करना कठिन होगया है। इस रमणीने ऐसा कौनसे कपट जाल का विस्तार किया कि श्रीकृष्ण हम सबका त्याग करके उस एकाकी को निर्जन वनमें लेजाकर आनन्दआस्वादनमें रत हो गये हैं। वह मायाविनी हम सबका सर्वस्वधन अपहरण करके इस निर्जन वनमें एकाकी प्राणनाथका अधरामृत पान कर रही है। इन बातोंका विचार करते ही हमारा चित्त क्षोभसे जर्जरित हो रहा है।"

सभी गोपियां कुछ दूर और अग्रसर हुई तो देखा कि वहांतो अकेले श्रीकृष्णके ही पदचिह्न हैं; पार्श्वमें अन्य कोई पदचिह्न नहीं है। स्वपक्षीया ललिता, विशाखा प्रभृति गोपियां कहने लगीं कि तुमलोग तो अकारण ही ईर्ष्यापरायण हो रही हो, श्याम सुन्दरके संग कोई नहीं है। यदि उनके संग अन्य कोई होता तो यहां भी उसके पदचिह्न होते। सम्भव है, प्राणगोविन्दके इस पथसे चले जानेके पश्चात् अन्य कोई भी इसी पथसे गया होगा; अतः तुम ऐसा देखकर अकारण ही क्षुब्ध हो रही हो।

विपक्षयूथ की सखियां नेत्र विस्फारित करके पथकी परीक्षा करने लगीं और बोलीं—"तुम लोग चाहे जितनी सफाई दो, हम इसे स्वीकार करनेवाली नहीं हैं। यहां रमणी का चरणचिह्न न रहने का कारण तो अत्यंत स्पष्ट है। इस स्थान पर तृणाङ्कुरों का बाहुल्य है, अतः प्रियाके सुकोमल पदतलोंमें तृण चुभनेसे वेदना होगी, इसी आशंकासे श्रीकृष्णने अपनी प्रियतमाको उठाकर स्कंध पर बिठा लिया है। इससे तो हमारा क्षोभ और अधिक वृद्धिप्राप्त हो रहा है।

स्वपक्षीया अन्तरङ्गा सखियां श्रीराधाके परम सौभाग्यका चिन्तन करते हुए आनन्दित हो रही हैं। सुहृत्पक्षीया और तटस्था सखियां श्रीगोविन्दके चरणचिह्नों को लक्ष्यमें रखती हुयी नीरव अग्रसर हो रही हैं। किन्तु विपक्षीया सखियों की इससे धैर्यच्युति हो रही है। वे पथकी तरफ देखती हुयी कह रही हैं—"इधर देखो, श्रीकृष्णके पदचिह्न यहां भूमिमें कितने गहरे हैं। इसका कारण सुस्पष्ट हैं; प्रियतमाको वहन कर रहे हैं, अतः उसके भारसे आक्रान्त हैं। जरा, कामी प्रेमविदग्ध श्रीकृष्ण की अवस्था की कल्पना तो करो। हम लोग सर्वस्वका त्याग करने पर भी श्रीचरणों की सेवासे वञ्चित हैं; और वे स्वयं कामिनी को स्कंध पर वहन कर रहे हैं। पुनः इधर देखो, श्रीकृष्णने पुष्प चयन करने हेतु यहां प्रेयसी को नीचे उतार करके भूमि पर बैठा दिया है। इसीलिये यहां पुनः दोनोंके चरणचिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं। श्रीमान् प्रेयसीका श्रृङ्गार करने हैतु ही इतना पुष्प चयन कर रहे हैं! इधर देखो, ऊची शाखासे पुष्प चयन हेतु श्रीकृष्ण यहां पदाग्र पर खड़े हुए हैं इसीलिये यहां उनके पदचिह्न अर्द्ध–मग्न हैं।

कुछ दूर और अग्रसर होकर विपक्षीया सखियां कहने लगीं—"इस स्थान को सभी ध्यान से देखो। इस स्थान पर बैठकर श्रीकृष्णने अपनी प्रियतमाका केशविन्यास किया है, चूड़ा बांधा है। स्वहस्तसे चयनित पुष्पों की माला गूंथकर उस द्वारा प्रियतमाके चूड़े की शोभा बढायी है। वह रमणी श्यामसुन्दरके दोनों जानुओंके अन्तरालमें बैठी है, उसका कितना आदर किया है। देखो, इसीके चिह्नस्वरूप यहां कितने छिन्नकेश, त्यक्त पुष्प आदि बिखरे पड़े हैं। अब तो हमारा अनुमान सुनिश्चित मान लो।" प्रति पक्षीयागण ये सब बाते कहती हुयी असूया की अनलमें दग्ध हो रहीं थीं। अन्तरङ्गा सखियां आनन्दसमुद्रमें गोते लगा रहीं थी॥ २४–३४॥

(२०)

श्रीमती राधारानीके मान-प्रसादनार्थ श्यामसुन्दर उनके संग वनमें अनेक स्थानोंमें विचरण कर रहे हैं। अन्यान्य गोपीजनोंने उसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया, केवल चिह्नोंसे इसका अनुमान किया है। "श्यामनागरने प्रेयसीको स्कंधपर वहन

किया है, पुष्पचयन करके केशविन्यास किया है"— इत्यादि केवल अनुमान मात्र हैं। इसके पश्चात् श्रीशुकदेवजीने "श्रीराधा सह श्रीगोविन्द द्वारा परमानन्द-माधुर्य-आस्वादन लीला" की अत्यन्त गंभीर एवं तत्त्वपूर्ण भाषामें वर्णन किया है।

"रेमे तया स्वात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः"। (भा० १०।३०।३५)

"आत्मरतः स्वतस्तुष्टः। आत्मारामः स्वक्रीडः। अखण्डितः स्त्री-विभ्रमैरनाकृष्टोऽपि"। (श्रीधर)। श्रीभगवान्ने आत्मरत, आत्माराम और अखण्डित होकर भी श्रीराधा संग मिलनानन्द आस्वादन किया था।

श्रीकृष्ण स्वात्मरत हैं अर्थात् स्वयंमें ही स्वयं संतुष्ट हैं। किसी बाह्य वस्तुकी अपेक्षा किये बिना एवं किसी वस्तु अथवा अन्य किसीकी सहायता लिये बिना ही वे सर्वदा संतुष्ट रहते हैं। उनमें कभी भी किसी भी कारणसे असन्तोष या अपूर्णता नहीं रहती, वे पूर्णकाम हैं। वे आत्माराम हैं—आत्मनि आरमते इति आत्मारामः। यदि कभी ऐसा दिखायी पड़े कि वे किसीके संग क्रीडा कर रहे हैं तो समझना होगा कि वे जिसके साथ क्रीडा कर रहे हैं वह अन्य कोई नहीं है, उन्हींका स्व-स्वरूप है। वे सर्वदा स्वक्रीड हैं।

वे अखण्डित हैं अर्थात् उनके एकत्व (Integrality) का कभी भी नाश नहीं होता। स्वयं ही स्वयंके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु या व्यक्तिसे वे आकृष्ट या आविष्ट नहीं होते। एवम्भूत होकर भी उन्होंने श्रीराधाके संग क्रीडा की थी। तो इससे उनकी भगवत्ताकी हानि नहीं हुई क्या ? नहीं। "तस्य ह्लादिनीशक्तित्वेन स्वरूपभूतत्वात्"। श्रीराधा श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्तिरूपिणी, सुतरां स्वरूपभूता हैं।

ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी तत्सारभूता राधेयम्—(तन्त्रशास्त्र)

ह्लादिनी शक्ति श्रीकृष्णकी अनन्त शक्तियोंमें सर्वश्रेष्ठा हैं। श्रीराधा इस महाशक्तिकी ही स्वरूपभूता हैं। सुतरां शक्ति एवं शक्तिमान् अभिन्न हैं, इसलिये श्रीराधा और श्रीकृष्ण एक ही वस्तु हैं। श्रीराधाके संग क्रीडा-विहारमें श्रीकृष्णका आत्मारामत्व या अखण्डत्व क्षुण्ण नहीं होता। वरञ्च उज्ज्वल ही होता है। कारण अविलसित शक्ति, शक्ति है ही नहीं, शक्तिके विलाससे ही शक्ति प्रकाशित होती है। गायक जब गान गाता है तभी उसकी सङ्गीत शक्तिका विलास होता है और वही गायकत्वका प्रकृत परिचय है। विलाससे ही शक्ति का प्रकाश होता है। विलास-हीन अवस्थामें शक्ति का होना न-होना समान है। कोई गायक जब गान किये बिना पथसे गमन कर रहा होता है, तब उसे गायक नहीं कहकर पथिक कहना ही युक्ति-संगत है। शक्तिके विलाससे रहित भगवान् भगवान् ही नहीं हैं, उस समय वे निर्विशेष, निःशक्तिक ब्रह्म हैं। वे जब शक्ति-विलासी होते हैं, तभी उनकी भगवत्ता प्रकट होती है। जब उनकी सृजनी-शक्तिका विलास होता है, तब वे स्रष्टा कहलाते हैं। जब उनकी पालनी-शक्तिका विलास होता है, तब वे पालक होते हैं। जब ह्लादिनी-शक्तिका विलास होता है, तब वे रसिकशेखर श्रीकृष्ण हैं, स्वयं श्रीभगवान् हैं। कोटि-कोटि गोपाङ्गनाओंका त्याग करके निर्जन-वनमें श्रीराधा-संग मिलनमें ही स्वयं उनकी भगवत्ता एवं रसिक शेखरत्व सुप्रकटित होता है। रासके प्रारम्भमें 'भगवानपि' पद के प्रयोग की यही सार्थकता एवं पूर्णता है।

तत्त्वकी दृष्टिसें श्रीराधा और श्रीकृष्ण अभिन्न हैं; किन्तु लीलारसके विचारसे श्रीराधा श्रीकृष्णसे भिन्न हैं। एकात्म होकर भी "देहभेदं गतौ तौ।" केवल देह-भेद ही नहीं हुआ है; योगमायाने इन्हें ऐसे परपुरुष एवं परनारी भी सजा दिया है जो परस्पर सर्वप्रकारके सम्बन्ध-विहीन भी हैं। इसका उद्देश्य है—प्रेमकी महिमाका प्रदर्शन। सम्बन्धानुगत प्रेम सोपाधिक होता है; अतः प्रेमका हेतु यदि स्वामित्व हो तब प्रीति निरुपाधिक नहीं हो सकती। जबतक प्रेम निरुपाधिक नहीं होगा तबतक प्रेमकी पूर्ण मूर्ति व्यक्त नहीं होगी। सुतरां रस-दृष्टिसे श्रीराधा और श्रीकृष्ण भिन्न हैं,—पृथक् वस्तु हैं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि इस पृथक् वस्तुके संग क्रीडा-विलास-हेतु श्रीकृष्णका भगवत्त्व एवं आत्मारामत्व क्षुण्ण नहीं हुआ क्या ? अवश्य हुआ है, उनका आत्मारामत्व बह गया है। ऐसा क्यों हुआ ? तो सीधा-सा उत्तर है:—यह सब प्रेमाधीनवशतः हुआ है।

"तदेवं तस्या एतादृशप्रेमा येन तादृशोऽप्यसौ वशीचक्रे तस्य चैतादृशः येन तादृशात्मरामतापि तिरश्चक्रे"—(श्रीवैष्णवतोषणी)।

श्रीराधाके प्रेमकी महिमा ही इस प्रकारकी है कि, जो स्वात्मरत, एवं अखण्डित हैं, उसके उनको भी वशीभूत कर लिया है। प्रेमके महान् गौरव से आत्मारामत्व आच्छादित और पराभूत हो गया है। जिस प्रकार "इत्थम्भूतगुणो हरिः" अर्थात् श्रीहरिके गुण ही इस प्रकारके हैं कि वे आत्मारामगुणाकर्षी हैं, उसी प्रकार श्रीराधाके प्रेमकी सामर्थ्य ही इतनी निरङ्कुश है कि उससे आत्माराम-शिरोमणि योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण भी वशीभूत हो जाते हैं। श्रीराधा का प्रेम अनन्त है और श्रीकृष्ण

की प्रेमवश्यता असीम है। इसी हेतु श्रीकृष्णने श्रीराधाके संग क्रीड़ा-विहार किया। परम प्रेमवती श्रीराधाके संग विहार हेतु श्रीकृष्ण की भगवत्ताका सार जो माधुर्य है उसका पूर्ण विकाश हुआ है। श्रीराधाके सत्प्रेमदर्पणमें श्रीकृष्णके माधुर्यका जिस प्रकार विकाश हुआ है, वैसा अन्यत्र कुत्रापि दृष्टिगोचर नहीं होता।

श्रीकृष्णने आत्माराम होते हुये भी विहार किया था। इस विषय पर तत्त्वदृष्टि एवं रसदृष्टि—दोनों प्रकारसे विचार किया गया। श्री जीवगोस्वामिपादने एक अन्य व्याख्या भी की है। "ननु तस्य वैषम्यमेतत्'—श्रीकृष्णने कोटिकोटि व्रजाङ्गनाओं की उपेक्षा करके एकाकी श्रीराधाके संग क्रीड़ा-विहार किया था; इसमें क्या दोष नहीं हुआ ? उत्तर है—नहीं दोष नहीं हुआ। कारण वे आत्माराम और अखण्डित हैं। आत्मा राम शब्दका यहां अर्थ होगा—'आसु परित्यक्तगोपीषु आत्मना मनसैव रतं रमणं यस्य सः"। उन्होंने परित्यक्ता गोपियोंके संग मानस-विहार किया था। वे अखण्डित है। अखण्डित का अर्थ होगा-अखण्ड प्रेमा, तुल्य प्रेमा; अर्थात् उन्होंने अपनी संगिनी श्रीराधासे एवं परित्यक्ता गोपीजनोंसे तुल्यभावसे यानि एक-सा प्रेम किया था। विरहके पश्चात् जब मिलन हुआ था तब व्रजाङ्गनाओं को कहा था—"मैं अन्तर्हित कहां हुआ था, मैं तो तुम लोगोंके संग ही था—मया परोक्षं भजता तिरोहितम्" (भा. १०।३२।२१)। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीकृष्णने श्रीराधाके संग प्रत्यक्ष-विहार किया था और अन्यान्य गोपाङ्गनाओं के संग मानस-विहार किया था।

"तेन तासु मानसं रमणमस्यां कायिकमिति" (श्रीजीव)

श्रीकृष्णचन्द्रने स्वात्मरत और अखण्डित होकर भी स्वीय अभिन्न-स्वरूप श्रीराधाके प्रेमाधीन होकर उनके साथ विहार किया था; किन्तु श्रीराधा इसहेतु अपनेको सर्वापेक्षा सौभाग्यवती मान बैठीं। उन्होंने सोचा कि, गोपाङ्गनाओंमें उनसे श्रेष्ठ और श्रीकृष्णकी परम श्रेष्ठ अन्य कोई गोपी नहीं है, अन्यथा श्रीकृष्ण इतनी मिलनोत्सुका रमणियोंका परित्याग करके निर्जनवनमें केवल उन्हींके साथ रमण करके नानाविध आनन्द प्रदान क्यों करते ?

यह सौभाग्य-गर्व ही प्रेमका चरम उल्लास है। तब श्रीराधा गर्व-मिश्रित वाणीसे प्राणनाथ श्रीकृष्णको कहने लगीं—"मैं अब अधिक चलने-फिरनेमें असमर्थ हूँ।" श्रीकृष्णने प्रेमपूर्वक जानना चाहा कि क्या श्रीराधा किसी निभृत कुञ्जमें चलकर विश्राम करना चाहती हैं। स्वाधीन-भर्तृका की भांति गर्वयुक्त स्वरमें श्रीराधा बोलीं—"तुम्हारी जहां इच्छा हो मुझे ले चलो।" श्यामसुन्दर सहानुभूतिसूचक मधुर स्वरमें बोले—"चलो, मेरे स्कंधपर आरोहण करो।" ज्योंहि श्रीराधा श्रीकृष्णके स्कन्धपर आरोहण करने हेतु उद्यत हुईं, चतुरचूड़ामणि श्यामनागर उसी स्थान पर अन्तर्हित हो गये। श्रीराधा असीम विरह-समुद्रमें पतित होकर गोते लगाने लगीं।

श्रीकृष्णने निर्जनवनमें श्रीराधाके संग मिलित होकर उनके प्रेमके वशवर्ती बने हुए मिलनरसकी पराकाष्ठाका आस्वादन कर लिया। मिलनके पश्चात् ही विरह-रस प्रयोजनीय है। पूर्णिमाके पश्चात् ही कृष्णपक्षका प्रारम्भ होता है। फिर विरहके पश्चात् पुनः मिलन—इसी प्रकारसे माधुर्यकी पराकाष्ठा का आस्वादन होता है।

श्रीकृष्णकी कामना पूर्ण हो चुकी है, ऐसा कह चुके हैं, किन्तु पूर्ण मनोकामना अभी भी तृप्त नहीं हुयी। "विरहिणी प्रियाओंके अन्तरतमका आस्वादन करना चाहते हैं" श्रीकृष्ण —यही कामना अतृप्त रह गयी है। श्रीकृष्ण अन्यान्य समस्त गोपाङ्गनाओं का विरहिणी-स्वरूप तो देख चुके हैं; किन्तु अभीतक निर्जनवनमें एकाकिनी विरहिणा श्रीराधाको नहीं देख पाये। श्रीराधाका विरहिणी-रूपदर्शन श्रीकृष्णके लिये अत्यन्त प्रयोजनीय है। अन्यान्य गोपीजनोंके लिये भी श्रीमतीका यह रूप-दर्शन प्रयोजनीय है। वे विरह व्याकुल हाकर सोच रही हैं—"कृष्ण-विरहमें हमारे-सदृश व्याकुल अन्य कोई नहीं हो सकता।" यह भी एक प्रकारका गर्व ही है। श्रीराधाका विरह देखनेपर ही वे सम्यक्रूपसे हृदयङ्गम कर सकेंगी कि विरह किसे कहते हैं। उनकी विरह-वेदनाकी अपेक्षा सहस्रगण तीव्र विरह-वेदना भी हो सकती है, यह बात श्रीराधाका विस्मयजनक विरह देखकर ही वे समझ पायेंगी। सुतरां सखियोंके पक्षमें भी विरहिणी श्रीराधाका दर्शन प्रयोजनीय है। समस्त गोपियोंकी तुलनामें श्रीराधाका श्रेष्ठत्व तो इसी बातसे प्रकाशित हो गया कि श्रीकृष्ण सबका परित्याग करके एकाकी उन्हें ही निर्जनवनमें ले गये हैं। किन्तु इससे श्रीराधाका सामग्रिक श्रेष्ठत्व सिद्ध नहीं हुआ। श्रीराधा जिस प्रकार मिलनमें श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार विरह में भी सर्वोपरि हैं—ये दोनों पक्ष दिखाना प्रयाजनीय है। मिलनकालमें वे जिस प्रकार श्रीकृष्णको अपने प्रेमकी असीम गभीरता हेतु सर्वाधिक आनन्द प्रदान कर सकती हैं; उसी प्रकार विरहकालमें भी वे अपने प्रेमकी चरम गाढता हेतु सर्वाधक वेदना-कातर होकर संवित्हारा होकर मूर्च्छादशाको प्राप्त हो जाती हैं। सुतरां विरहिनी श्रीराधाकी मूर्तिका दर्शन हमारे लिये भी प्रयोजनीय है, अन्यथा हमें उनके सर्वातिशायी श्रेष्ठत्वका ज्ञान किस प्रकार होगा ?

श्रीराधाकी प्रतिपक्षी सखियां श्रीकृष्णके चरण-चिह्नादि दर्शन करके इस सिद्धान्त पर पहुंचीं थी कि श्रीकृष्ण किसी अन्य रमणीके संग विहार-आनन्दका उपभोग कर रहे हैं। इसके फलस्वरूप वे ईर्ष्याकी अग्निमें दग्ध हो रही थी और विचार

कर रही थी—"हम भी तो अपने सर्वस्वका त्याग करके प्राणनाथके चरणकमलोंकी सेवा हेतु दौड़ी चली आयी हैं। श्रीकृष्ण जिस रमणीको लेकर अकेले विचरण कर रहे हैं, उसमें ऐसी कौनसी विशेषता है कि जिसके कारण श्रीकृष्णने हमारी चरम उपेक्षा कर दी ?" अत एव इन प्रतिपक्षीया गोपियोंके लिये भी विरहिणी श्रीराधाका दर्शन अत्यन्त प्रयोजनीय है, जिससे वे स्वचक्षुओंसे देख सकें कि उस रमणीमें कौन-सा विशेष गुण है। श्रीराधाकी विरह-वेदनाकी तीव्रता दर्शन करके ही उन्हें समझमें आयेगा कि वे यदि श्रीकृष्णको किसी दिन प्राप्त करेंगी तो वह केवल श्रीराधाकी विरह-व्याकुलता हेतु ही सम्भव होगा। श्रीकृष्णकी प्राप्ति हेतु कितनी अधिक विरह-व्याकुलता की आवश्यकता होती है, यह ज्ञान श्रीराधाके विरह-दर्शनसे ही प्राप्त होगा। प्रबलरूपसे धधकती अग्नि और एक स्फुलिंगमें जितना पार्थक्य है, उतना ही पार्थक्य श्रीराधाके कृष्णविरह-व्यथा और गोपियोंकी विरह-वेदनामें है। श्रीराधाकी विरह-वेदनाके दर्शनसे, उसके अनुभवसे अनुभावित होने पर प्रतिपक्षीया सखियोंमें भी जिस विद्वेष असूयाका उदय हुआ था, वह निःशेषरूपसे समाप्त हो जायेगा। सुतरां विपक्षीया सखियोंके लिये भी श्रीराधाका विरह-दर्शन प्रयोजनीय है।

सम्यक् वासना—कृष्णेर इच्छा रासलीला।" "आज रासलीला करेंगे"—इस वासनाको लेकरही आज श्रीकृष्णने वंशीवट पर आकर वंशीवादन किया था। किन्तु रासलीला अभी तक प्रारम्भ नहीं हो पायी है। रास हेतु यह नितान्त आवश्यक है कि समस्त गोपियां समभावापन्न हों। इस सकल व्रजाङ्गनाओंमें चार भाव विद्यमान हैं। श्रीकृष्णके संग श्रीराधाका एक भाव है। श्रीकृष्ण–विरहमें स्वपक्षी अर्थात् सुहृत्पक्षी सखियों का एक भाव है, विपक्षीया सखिओंका अन्य भाव है और तटस्थ सखियों का सबसे भिन्न एक अन्य भाव है। इन भिन्न–भिन्न भावों को एक ही महाभावमें परिवर्तित करने हेतु श्रीराधाके विरह की प्रयोजनीयता है। श्रीराधा विरहिणी होने पर, सभी विरहिणी हो जायेंगी, तब स्वपक्ष–विपक्षका जो भेद मिलनमें विद्यमान रहता है वह भाव विरहमें विलीन हो जायेगा। प्रबल विरहके तीव्र प्रवाहमें सारे भेद बह जायेंगे। सांसारिक मनुष्योंमें भी भीषण विपद्कालमें परस्परके क्षुद्र-क्षुद्र भेद तिरोहित हो जाते हैं। श्रीराधा की विरह–व्याकुलता की गभीरतामें डूबकर जब सभी गोपियां एक–प्राण होकर क्रन्दन करेंगी, तब रासलीला प्रारम्भ होगी।

अन्धकार जब चरम गाढता को प्राप्त होता है, तब प्रभात होता है। अतएव श्रीकृष्ण की रासलीला की कामना पूर्ण करने हेतु श्रीराधाके विरह की आवश्यकता है। समस्त गोपियां एक–भावापन्न हों तो ही रास हो सकता है। वह एक-भाव कौन–सा है ? निश्चय ही वह श्रीमती राधाका महाभाव है। अन्य अवसरों पर श्रीराधा–गोविन्द मिलित होते हैं, तब अन्यान्य गोपियां सर्वदिशाओंमें रहकर उनका दर्शन करती हैं और उनकी सेवा करती हैं। किन्तु रासलीलाके अवसर पर तो प्रत्येक गोपी श्रीकृष्णको पूर्णभावसे अपने ही पार्श्वमें प्राप्त करेंगी। प्रत्येक गोपी श्रीकृष्णको श्रीराधाके समान ही पायेंगी। किन्तु यह असम्भव सम्भव किस प्रकार होगा ? श्रीराधा कृपा करके यदि निजस्व महाभावसमुद्रके प्लावनमें समस्त गोपियों को निमग्न कर दें, तभी रासलीला सम्भव है नदीके जलसे वर्षा ऋतुमें ही प्लावन आ सकता है, शीत ऋतुमें प्लावन नहीं आसकता। उसी प्रकार श्रीराधाके महाभाव–सागरमें विरह–कालमें ही प्लावन आ सकता है, मिलन कालमें ऐसा सम्भव नहीं है। सुतरां, श्री श्रीरासलीलाके परिपूर्ण आस्वादन–हेतु श्रीराधाके विरह की परम आवश्यकता है।

श्रीराधाके विरहका यह प्रयोजन-बोध किसे है ? आमि ह ना जानि, ना जाने गोपीजन"। कोई भी कुछ भी नहीं जानता। केवल योगमाया ही सब-कुछ जानती हैं। प्रयोजन श्रीकृष्णको है, किन्तु प्रयोजन-बोध योगमायाको है और वह-ही इस प्रयोजनबोधको पूर्ण करने-हेतु चेष्टा-रत है। योगमायाने एक ऐसी चेष्टाकी, लीलामञ्च पर एक ऐसा नूतन तरंगकी सृष्टिकी, जिससे सब प्रकारसे सुसामञ्जस्य हो जाय। श्रीराधाराणीमें सौभाग्यगर्व प्रकट हुआ। अघटन-घटना-पटीयसी योगमायाकी अभावनीय लीला जयमुक्त हो॥ ३५–३९॥

(२१)

व्रजाङ्गनाओंके संग जब श्रीकृष्णका मिलन होता हैं तब उनके मधुर-रसके महासमुद्रमें दो प्रकारकी तरंगे दृष्टिगोचर होती हैं—एक हर्षकी एवं अपर गर्वकी। जब तक गोपाङ्गनाओंके चित्तमें एकमात्र प्राणनाथ की ही स्फूर्ति होती रहती है, तब तक रस-समुद्रमें हर्ष-तरंगे खेलती रहती हैं। किन्तु जब उनके हृदयमें श्रीकृष्णकी स्फूर्तिके संग अन्य किसीकी स्फूर्ति होने लगती है, तब रस-समुद्र गर्व-तरंगोंसे व्याप्त हो जाता है। प्रेमकी गंभीरताके तारतम्य अनुसार ही उपरोक्त हर्षमय और गर्वमय तरंगों के उत्थान-पतनमें पार्थक्यकी सृष्टि होती है।

यमुना पुलिन पर प्रथम मिलनके अवसर पर गोपियोंका चित्त श्रीकृष्णकी स्फूर्तिसे पूर्ण था। कुछ क्षणोंके पश्चात् ही अन्य रमणीके चिन्तनसे बाह्य स्फूर्तिमें गर्वका उदय हुआ। उस समय श्रीराधाको ऐसा प्रतीत हुआ कि श्रीकृष्णको तो समस्त गोपियोंने समान रूपसे प्राप्त किया है, अतः मेरे लिये विशेषता क्या रही ? इसी हेतु वे मानवती हो गयीं। फिर जब श्रीकृष्ण

श्रीराधाको एकाकी निर्जनवन में ले गये, उन्हें प्यारसे गोदमें बिठाया, उनका केश प्रसाधन किया, पुष्पोंसे सजाया एवं अन्य नानाविध क्रीडा-विहार किया, तब श्रीराधाको प्रतीत हुआ कि हाँ, मैंने कुछ विशेष प्राप्त किया। दीर्घकालतक नानाविध विलास लीलामें मग्न रहनेके पश्चात् श्री राधाके अन्दरमें कुछ अन्य स्फूर्ति हुई। इससे गर्व-तरंगकी सृष्टि हुई।

अन्य स्फूर्ति-कालमें अन्यान्य कोटि-कोटि गोपाङ्गनाओंके चित्तमें ब्रह्माणी, इन्द्राणी आदिकी स्मृति आई, जिनके भाग्यमें इस प्रकारकी सौभाग्य-प्राप्ति न कभी हुई थी और न कभी होनेकी सम्भावना ही है। इधर अन्य स्फूर्ति-कालमें श्रीराधा के चित्तमें अन्यान्य परित्यक्ता व्रजाङ्गनाओंकी स्मृति हुई, जिन्हें श्रीकृष्ण-मिलनका सौभाग्य प्राप्त हो चुका था एवं पुनः उस सौभाग्य-प्राप्तिकी योग्यता भी प्रचुरमात्रामें है। कोटि-कोटि परित्यक्ता गोपियोंकी अन्य स्फूर्तिका विषय हुयी कृष्ण-शून्या रमणियां और श्रीराधाकी अन्य स्फूर्तिका विषय बनी कृष्ण-विरह-संतप्ता गोपियां। अन्यान्य गोपीजनोंके गर्वोदय-कालमें उनकी भावना इतने तक ही सीमाबद्ध रही कि वे ब्रह्माणी, इन्द्राणी प्रभृति उच्चस्थानीया रमणियोंकी अपेक्षा अनेक गुण अधिक भाग्यशाली हैं। किन्तु श्रीराधाके गर्वोदयकालमें उनके चित्तमें इस भावनाके उदयके संग कि वे अन्यान्य गोपियोंकी अपेक्षा अधिक भाग्यशाली हैं, इस चिंता का भी युगपत् उदय हुआ कि मुझे इन गोपियोंकी विरह-वेदना शांत करनेका उपाय करना होगा। अपने निजके सौभाग्य-भावनाके संग-संग श्रीराधाके चित्तमें अपनी भाग्य हीना सखियोंके प्रति भी करुणाका उदय हुआ है। अत एव श्रीराधाने विचार किया कि उन्हें अन्य गोपियोंके साथ सम्मिलित होना आवश्यक है। किन्तु वे यदि श्रीकृष्णके संग इसी गतिसे चलती रही तब अन्य गोपियां सहजमें उन्हें पकड़ नहीं पायेंगी। यदि किसी बहाने यहीं कुछ क्षण अपेक्षा करें तभी अन्य गापियां हमारे संग सम्मिलित हो पायेंगी।

"यद्यहं न चलामि तदायमपि न चलिष्यति। तावता सर्वा अपि मिलिष्यन्तीति॥ (श्रीजीवगोस्वामी)।

यदि मैं अन्यत्र न जाऊं तो श्रीकृष्ण भी अन्यत्र नहीं जायेंगे। इस प्रकार विचार करके ही श्रीराधा ने कहा है— "न पारयेऽहं चलितुम्"—मैं अब चलनेमें असमर्थ हूँ। श्रीराधाके हृदयमें प्रेमकी गभीरता इतनी अगाध है कि श्रीकृष्णचन्द्र भी कभी-कभी उसका पार नहीं पाते। श्रीराधाके कथनका गूढ़ तात्पर्य न समझकर श्रीकृष्णने सोचा कि श्रीराधा वनभ्रमणहेतु अत्यन्त परिश्रांत है, सुतरां यहां विश्राम करनेसे अनुसंधानरत गोपियां कहीं यहां पहुँचकर उन्हें ढूंढ न लें इसी हेतु उन्हें किसी निभृत निकुञ्ज में विश्राम करना आवश्यक है। अतएव श्रीकृष्णने श्रीराधासे पूछा कि वे कहां जाना चाहता हैं। श्रीकृष्णका इस प्रश्नका भाव यही था कि श्रीराधा किस कुञ्जमें चलकर विश्राम करना चाहती हैं।

श्रीराधा इसके उत्तरमें बोलीं—"नय मां यत्र ते मनः"—तुम्हारा मन जहां चाहे, उसी स्थान पर ले चलो। श्रीकृष्णने श्रीराधाकी इस उक्तिको स्वाधीनभर्तृकाकी गर्वोक्ति समझा। स्वाधीनभर्तृका की गर्वयुक्त व्यवहार प्रिय नायकके लिये अत्यन्त आनन्दप्रद होता है। सभी प्रकारके धूम्रसे नेत्रोंमें जलन पैदा होती है किन्तु अगुरुकाष्ठका धूम्र प्रीतिदायक होता है। अतएव श्रीकृष्ण श्रीराधाकी इस उक्तिसे अत्यन्त प्रसन्न हुये। उनके प्रसन्न होनेका एक अन्य कारण यह भी था कि श्रीकृष्णको श्रीराधाकी यह उक्ति दाक्षिण्यभावकी उक्ति लगी। वामा नायिकायें कभी भी विलास-वासनामें स्पष्ट सम्मति नहीं देतीं। "जहाँ तुम्हारा मन चाहे, मुझे उसी स्थानपर ले चलो"—इस प्रकारकी दाक्षिण्यपूर्ण भाषाका प्रयोग इससे पूर्व श्रीकृष्णने वामाशिरोमणि श्रीराधाके मुखसे कभी नहीं सुना था। इसी हेतु श्रीकृष्णके मनमें परमानन्दका उदय हुआ। किन्तु प्रकृत बात कुछ अन्य प्रकारकी है। श्रीकृष्ण श्रीराधा-प्रेमके अगाध समुद्रकी इस बार भी थाह नहीं पा सके। श्रीराधाने न तो गर्वोक्तिकी थी, न दाक्षिण्योक्ति ही की थी। श्रीराधाने तो सूक्ष्म श्लेषोक्ति की थी। श्रीराधाके कथनका तात्पर्य है—"तुम जो इतनी देरसे मेरे संग वनमें विचरण कर रहे हो, यह सब पूर्णतः बाह्य आडम्बरमात्र है। असलमें तुम्हारा मन तो चन्द्रावली प्रभृति परित्यक्ता गोपियोंके संग लगा हुआ है; सुतरां अब मुझे अन्यत्र कहाँ ले जाओगे ? जहाँ तुम्हारा मन पड़ा है, उन गोपियोंके पास ही ले चलो जिससे तुम्हारा अन्तर और बाह्य एक-सा हो जाये। श्रीकृष्णचन्द्र रस-सम्राज्ञी महाभावमयी श्रीराधाकी इतनी सूक्ष्म व्यङ्गोक्ति न समझ पाने हेतु ठगे गये हैं, पराजित हो गये हैं।

आनन्दके आतिशय्यवश रसिक-शेखर श्रीकृष्ण बोले—"स्कन्ध आरुह्यताम्"—स्कंधपर आरोहण करो। श्रीकृष्णके इतने आदरपूर्ण कथनसे श्रीराधाका प्रेमसिन्धु उद्वेलित हो उठा और उसमें एक नवीन तरंग का उद्भव हुआ। इस तरंग का नाम है 'प्रेमवैचित्य'। प्रियतमके सान्निध्यमें रहते हुये भी गाढ-अनुरागवशतः जो विरह-स्फूर्ति होती है उसीका नाम 'प्रेम-वैचित्य' है।

"प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः। या विश्लेषधियार्त्तिस्तत् प्रेमवैचित्यमुच्यते॥ (उज्ज्वलनीलमणि)

प्रेम-वैचित्यके उदय हेतु श्रीराधा अब सम्मुखस्थ प्राणवल्लभको भी देख नहीं पा रही थीं, अतः वे विरह-सागरमें निमग्न हो गयीं। गाढ-अनुराग-हेतु श्रीराधाकी बुद्धि-वृत्ति अत्यंत सूक्ष्म हो जाती है। वे फिर एक ही समयमें दो वस्तुओंमें

मन-निवेश नहीं कर पाती। वे श्रीकृष्ण और उनके गुण-माधुर्य—इन दोनों वस्तुओंकी युगपत् भावना नहीं कर पाती। "स्कन्धपर आरोहण करो"—श्रवण करते-ही श्रीराधाको लगाकि उनके दयित कितने मधुर हैं। इस 'माधुर्य-भावना' के आविर्भावके संग ही उनके प्राण-दयित उनके नेत्रोंसे अदृश्य हो गये। प्राण-दयितको सामने न देखकर उनका विरह प्रबलरूपसे प्रकट हो गया।

श्रीराधा का प्रेम-वैचित्य-विरह श्रीकृष्ण की अत्यन्त अभिलषित वस्तु है। इस समय श्रीकृष्ण को विरह कालीन छवि-आस्वादन का सुयोग मिला। किन्तु प्रेम-वैचित्य अत्यंत दुर्लभ वस्तु है, अतः श्रीकृष्ण अपनी इच्छानुसार इसकी सृष्टि नहीं कर सकते। श्रीराधाके प्रेम-पद्मसे यह मधु कब झरेगा, यह कोई भी नहीं बता सकता और यह अधिक क्षण स्थायी भी नहीं होता। इसके दुर्लभत्व और क्षणस्थायित्व-हेतु यह श्रीकृष्ण की अत्यंत कामना की सामग्री है। श्याम सुन्दर इसका दो प्रकार से आस्वादन करते हैं; या तो जिस प्रकार वे पहिले से ही समीपमें थे उसी प्रकार वहीं अवस्थान करके अथवा समीपमें ही किसी अन्य वस्तुके पीछे छिपकर। प्रकाश्य रूपसे समीपमें अवस्थान करते हुये आस्वादन करनेमें अधिक आनन्द प्राप्त होता है। जब श्रीराधा श्रीकृष्णको ही जिज्ञासा करने लगीं कि प्राणवल्लभ कहां गये तब श्रीकृष्ण आनन्द-रससमुद्रमें डूबने-उतराने लगे। किन्तु सन्निधानमें ही अवस्थान करनेसे यह भाव अत्यंत अल्पक्षण स्थायी रहता है। कहीं छिपकर भोग करने पर यह भाव अनेक क्षणों तक परम उपभोग्य रूपमें स्थायी रहता है। समस्त विरहिणी गोपियां भी आकर यदि श्रीराधाका इस अवस्थामें दर्शन कर पायें तो उन सबका भी परम कल्याण होगा। अतएव यह आवश्यक है कि श्रीराधाकी यह अवस्था कुछ क्षण स्थायी रहे। इस उद्देश्यकी सिद्धि हेतु स्वजन-प्रेमविवर्धनपरायण श्यामनागर श्रीराधाके प्रेमवैचित्यका उपभोग करने हेतु उसी स्थानपर कुछ लताओंके अन्तरालमें छिप गये। श्रीकृष्ण अपने विस्मय-विस्फारि नेत्रोंसे कौतुक पूर्वक श्रीभानुनन्दिनी की प्रेमवैचित्यछवि निहारने लगे।

प्रेम-वैचित्य श्यामसुन्दर की अत्यंत प्रिय स्व उपभोग्य वस्तु है। इस अवस्थामें गाढ अनुराग-हेतु श्रीराधाकी सुध-बुध लुप्त हो जाती है। उन्हें लगने लगता है कि मैं इस जन्ममें तो श्रीकृष्ण-दर्शनसे वंचित हूं ही, भविष्यमें भी उनके दर्शन मिलने की कोई आशा नहीं है। सन्निपात का रोगी निरंतर जलपान करता हुआ भी सर्वदा पिपासासे अधीर होकर 'हायजल' 'हाय जल' चिल्लाता ही रहता है। श्रीराधा भी आज उसी प्रकार का रही हैं—

"हा नाथ ! रमण ! प्रेष्ठ ! क्वासि-क्वासि महाभुज !
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे ! दर्शय सन्निधिम्। (भा. १०।३०।४०)

श्रीराधारानी प्रेम-वैचित्य-विरहाकुला होकर एकाकिनी अपने प्राणवल्लभके दर्शन हेतु विलाप कर रही हैं। उनके आदर-यत्न-सेवाशुश्रुषा-हेतु उनके समीप कोई प्राणी नहीं है। वे क्रन्दन करती हुयी कह रही हैं—

हा नाथ ! हा रमण ! हा प्रियतातिकान्त ! हा हा क्व गच्छसि महाभुज ! हा क्व वासि
दास्यां सदाकृपणताजुषि नन्वमुष्यामात्मोपकण्ठमपि सूचय जीवितेश। (श्री जीव)

हे नाथ ! हे रमण ! हे प्रेममनोहर ! हाय, हाय, तुम कहां चले गये ? हे महाभुज ! तुम कहां हो ? हे जीवितेश्वर ! यह मानवी दासी तुम्हारे वियोगमें सर्वदा कातरता को प्राप्त हो रही है, इसे तुम अपने निकट खींचकर अपने कण्ठसे संलग्न करलो। हा नाथ ! त्वद्वियोगमहाग्निना दह्यमानाद्भस्माद्देहान्मे प्राणाः सम्प्रति निःसृतप्रायाः यत्नेनापि मया रक्षितुं न शक्यन्ते।

एषान्तु त्वमेव नाथः अतो दर्शनं दत्वा शीघ्रमेतान् रक्ष।
न चैषां रक्षामहं स्वार्थमेव प्रार्थये किन्तु त्वदर्थमेव ॥

हे रमण ! सर्वा अप्यन्या गोपीस्त्यक्त्वा रमणसुखविशेषार्थं यां एतावद्दूरं रहः समानैषीः तस्यां मयि मृतायां एवं रतिसुखम् अन्यत्रालभमानः मां स्मरन् त्वमपि दुःखेन विलपिष्यसि। नन्वस्तु मद्दुःखं तेन, तव किम्। तत्राह हे प्रेष्ठ ! तव मत्प्रेष्ठत्वात् तदीयं तद्दुःखं कोटीगुणीभूय मय्येव भविष्यति। मत्प्राणकोटीनिर्मञ्छनीयपादाब्जनखैरेकदेशस्य तव सद्दुःखमहं मृत्वापि सोढुं न पारयिष्यामि। अतः कृपया सन्निधाय तदेव दुःखं दूरीकुरु। ननु यदि निःसृतप्राया एव प्राणास्तदा त्वानहमपि कथं निवर्तितुं प्रभविष्यामि तत्राह त्वद्भुजस्य मृतसञ्जीवनौषधस्य स्पर्शमात्रेनैव सुस्थशीतलीभूते देहेऽस्मिन् प्राणाणः स्वयमेवागत्य स्थास्यन्ति। ननु मां विना स्वस्य गतिमेवं जानासि चेत् महाराजकुमारं परमसुकुमारमादरणीयं मां "नय मां यत्र ते मनः" इत्यादिष्टवती किमकोपयस्तत्र स काकु "आह दास्यास्ते कृपणाया मे" इति। तदानीं विलासश्रमनिद्रालस्याभिभूतयैव दीनया मया तथोक्तं क्षमस्व मा कुप। हे सखे ! तर्हि प्रसन्नोऽभुवं मत्समीपमेहीति चेत् सम्प्रत्यनुतापदुःखेनान्धास्मि त्वं क्व वर्तसे इति न पश्यामि इत्याह,—दर्शय सन्निधिम्। एतावदेव। विलप्य विरहोद्घूर्णावशात् संमुह्य भूमावपतदिति। (श्री विश्वनाथ)

हे नाथ ! विरहानलमें दग्ध हो रही हूं अतः इस देहसे प्राण अभी निकल जायेंगे। मैं शत चेष्टा करके भी इन प्राणों को रखनेमें समर्थ नहीं हो रही हूं। नाथ ! तुम ही मेरे प्राण–सर्वस्व हो, अतः अपने दर्शन देकर शीघ्र इन प्राणों की रक्षाकी व्यवस्था करो।

हे रमण ! तुम यह मत समझ बैठना कि मैं अपने स्वार्थ हेतु तुमसे इन प्राणोंकी भिक्षा मांग रही हूँ। तुम्हारे सुख-हेतु ही मेरा जीवित रहना प्रयोजनीय है। तुम कोटि-कोटि गोपियोंका परित्याग करके मुझ एकाकिनीको लेकर यहां आये हो। निश्चय ही तुम मुझे यहां इसीलिये लाये हो कि मेरे संग आनन्दका उपभोग करोगे। इससे यह अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है कि तुम्हें मेरे संगसे किसी आनन्द-विशेषका आस्वादन प्राप्त होता है। अब यदि तुम्हारे विरहमें मेरी मृत्यु हो गयी तो तुम सदाके लिये उस आनन्दसे वंचित हो जाओगे। केवल यही नहीं, तुम मेरे लिये विलाप भी करोगे।

यदि तुम कहो कि "मुझे दुःख होगा तो होने दो, तुम्हें इससे क्या लेना-देना ?" तो इसका भी कारण बता देती हूँ, सुन लो। तुम ही मेरे प्रेष्ठ यानि प्रियतम हो। तुम्हारे श्रीचरणोंकी सेवा निमित्त मेरे कोटि-प्राणभी अकिञ्चित्कर सिद्ध होंगे। तुम्हारा दुःख मेरे वक्षको कोटिगुण अधिक संतप्त करेगा। मैं मरकर भी शान्ति नहीं पाऊँगी और तुम्हारे दुःख हेतु असीम दुःख भोग करूंगी। अत एव इस दुःखको दूर करने-हेतु समीपमें आकर दर्शन दो और मेरे प्राणोंकी रक्षा करो। तुम कह सकते हो कि "अब तो तुम्हारे प्राण कण्ठागत हैं, अब मैं इन्हें किस प्रकार बचाऊँ ?" इसका भी उपाय मैं तुम्हें बता देती हूँ, सुनो। "हे महाभुज ! तुम्हारे बाहुके स्पर्शमें सञ्जीवनी सुधा है। उस बाहुके स्पर्शमात्रसे मेरी देह तृप्त और शीतल हो जायेगी। निकले हुये प्राण भी पुनः लौट आयेंगे।"

हे प्रियतम ! मैंने धृष्टताको इसीलिये तुम मेरे ऊपर कुपित हो गये हो। तुम व्रजराजकुमार हो, परम आदरणीय हो, यह सब भूलकर मैंने तुम्हें आदेश दे दिया था—"तुम मुझे अभी ले चलो"। उस समय मैं विलासश्रम–हेतु निद्रा एवं आलस्य के वशमें हो गयी थी। इसके लिये मुझे क्षमा कर दो। इस दीना किंकरी पर तुम रुष्ट हो गये तो इसकी क्या गति होगी ?

हे प्रिय ! तुम्हारे अ-दर्शन-हेतु इस समय मैं मोहांध हो गयी हूँ। तुम प्रसन्न होकर मुझे अपने पास आने-हेतु कह भी दो, तो भी मैं चलकर आनेमें असमर्थ हूँ, अतः तुम्हे ही मेरे समीप आना होगा। "दर्शय सन्निधिम्"। अब एक क्षणका भी विलम्ब मत करो। तुम जहां भी हो, शीघ्र चले आओ। अपने विशाल बाहु-युगल-द्वारा मेरा आलिङ्गन कर लो जिससे इस मृतकल्प देहमें पुनः प्राणोंका सञ्चार हो सके।"

इस प्रकार विलाप करते-करते श्रीराधा अत्यन्त उद्विग्न हो गयीं; अब तो उनमें क्रन्दन करने योग्य शक्ति भी नहीं रही। गद्गद् कण्ठसे केवल 'कासि, कासि ?—कहां हो, कहां हो बोलते-बोलते मूर्च्छित होकर धूलिमें लोट-पोट होने लगीं। रसराज श्यामनागर विरहिणी श्रीराधाका यह अपूर्व प्रेम-वैचित्य-भावका दर्शन करने लगे। रसिक शेखर श्रीराधाकी अभूतपूर्व भावदशा और प्रेमपूर्ण आर्ति श्रवण करके निर्वाक् हो गये। सम्मुखमें दण्डायमान रहकर प्रियतमाके तीव्र विरहकी भाव दशाका दर्शन करके उनकी गुप्त अभिलाषा पूर्ण हो गयी। किन्तु सचमुचमें अभिलाषा कभी पूर्ण होती है क्या ? सम्भव है इसीलिये अब उनके मनमें एक और नवीन अभिलाषाका उदय हुआ।

समीपमें ही कुछ कण्ठस्वर सुनायी पड़ रहे हैं। सम्भव है, यह यमुनापुलिन पर कृष्णपरिक्त्ता विरह-तप्ता गोपाङ्गनाओं का क्रन्दन-स्वर हो। वे भी यहां आकर विरहके इस साकार विग्रहको स्वयंके नेत्रोंसे दर्शन करें और उनकी महावेदनाकी आर्ति-वाणी श्रवण करें। इस दर्शन और श्रवण-द्वारा उन्हें भी इस महातीर्थमें स्नानका लाभ प्राप्त होगा।

विरहकी सहस्रों नदियां आकर इस महासमुद्रमें मिल जायँ। "मैं भी इस मुग्धावस्थाका दृश्य कुछ दूर रहकर दर्शन करूं"—ऐसा विचार करके श्यामनागर घनसन्निबद्ध वनराजिके अन्तरालमें छिप गये।

"ततश्च सम्भ्रमतः प्रच्छन्नतां गच्छति श्रीकृष्णे ॥ ४० ॥

(२२)

श्रीकृष्ण-प्रेमातुरा विरहिणी व्रजाङ्गनाएँ प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके चरण-चिह्नोंकी सहायतासे उनका अन्वेषण कर रही हैं। हठात् दूरसे किसी एक वस्तुको देखकर वे सभी विचार करने लगीं।

एषा चम्पकमालिकात्र पतिता किं चन्द्रलेखाऽथवा।
कान्तीनामधिदेवता भवति वा वृन्दावनश्रीरुत ॥
हा कष्टं नहि वेष्टते किमियमित्युद्विग्नधीवृत्तय-
स्तासावब्रुरमूश्च्मु कृनयना भूद्दीनिभाः पद्मिनीम्। (गोपालचम्पू-२४।१४५)

समीपमें ही वह क्या दिखायी पड़ रहा है ? क्या वह किसीके द्वारा पूजाके पश्चात् त्यागी गई चम्पा पुष्पों की माला है ? नहीं, लगता है मानो द्वितीयाकी शशिकला धूलिमें लोट रही है ? अथवा, समग्र लावण्यकी अधिष्ठात्रीदेवीका धराको धन्य करने-हेतु आगमन हुआ है ?—इस प्रकार कथोपकथन करती हुयी सभी द्रुतगतिसे अग्रसर हो रही हैं। एकदम समीपमें आकर सब विस्मित होकर चिल्ला उठती हैं—"अरे ! यह तो श्रीवृन्दावनधाम की मूर्तिमती शोभा–हमारी प्राण-सर्वस्वा भानु-दुलाली श्रीराधाराणी हैं। हाय ! हाय ! ये तो धूलि पर ही शयन कर रही हैं, किन्तु इनकी देहमें तो किसी प्रकार का स्पन्दन ही नहीं है।

जिस प्रकार भ्रमरकुल पद्मिनी का वेष्टन कर लेते हैं, उसी प्रकार मृगनयनी व्रजाङ्गनाएँ श्रीराधिका को वेष्टन करके खड़ी होगयीं। नासिकासे श्वास नहीं चल रहा है ; समीपमें सेवा-हेतु कोई सेविका भी नहीं है। उनके विरहकी तीव्रता एवं निर्जनवनमें सङ्गि-हीनताका दर्शन करके सभीका मन उनकी तरफ आकृष्ट हो जाता है। सभीका चित्त वेदनासे अत्यत व्याकुल हो रहा है। यह क्या हुआ ? श्रीराधकी इस प्रकार स्पन्दन-हीन प्राण हीन दशा कैसे हुई ? कृष्ण-अदर्शन-हेतु सभीकी आकुलता चरम सीमा पर पहुच गई। नदियां अगाध समुद्रमें जाकर मिल गयीं।

सबकी समवेत शुश्रुषा के फल स्वरूप कुछ ही क्षणोंमें श्रीराधाकी देहमें पुनः प्राणोंका सञ्चार हुआ वक्षमें धीरे-धीरे स्पन्दन होने लगा। मुखसे केवल "क्वासि क्वासि" इन दो शब्दोंका उच्चारण अर्थात् हे परमप्रिय ! तुम कहा हो ? तुम कहां चले गये हो ? तुम्हे मैं कहां पाऊँगी ? हो रहा है। वे और कुछ भी नहीं बोल रहीं। नयनों से अविरल अश्रु धारा बह रहीं है, अङ्गोंमें प्रबल कम्पन हो रहा है। सारे सात्त्विक विकार स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

श्रीराधाके प्रथम दर्शन-मात्रसे स्वपक्षा गोपियोंमें युगपत् हर्ष और विषाद-दोनों भावोंका उदय हुआ। सुहृत्पक्षीया और तटस्था गोपियोंमें यथाक्रमसे विस्मय एवं सम्भ्रमका उदय हुआ। किन्तु कुछक्षण पश्चात् ही जब उन्हें श्रीराधाकी विरह-व्याकुलताकी गभीरता एवं तीव्रताका अनुभव हुआ, तब इन दोनों पक्षोंकी गोपियोंका भाव-वैषम्य तिरोहित हो गया। वे समझ गयीं कि प्राणनाथके विरह-हेतु हम जिस परिमाणमें दुःखका अनुभव कर रही हैं, श्रीराधाकी वेदनानुभूति उसकी अपेक्षा सहस्रगुणा अधिक है। हम तो वन-वनमें विचरण करती हुई उनका अन्वेषण तो कर पा रही है, किन्तु श्रीराधाकी देहमें तो प्राण भी रह सकेंगे या नहीं, यह भी सन्देहजनक है। उनको स्पष्ट अनुभव होने लगा कि जिस प्रकार श्रीराधाका श्रीकृष्णके संग मिलनानन्द अत्यन्त अधिक है, उसी प्रकार श्रीकृष्णके विरहमें श्रीराधाकी वेदनानुभूति भी हमारी अपेक्षा सहस्रगुणा अधिक है। यही कारण है कि श्यामसुन्दर समस्त गोपियोंका परित्याग करके श्रीराधाको संगमें लेकर अन्तर्हित हो गये। खाद्य-प्राप्तिका सर्वाधिक अधिकार क्षुधार्तको ही होता है। अब सभी यूथोंकी व्रजाङ्गनाएँ सम्यक् प्रकारसे समझ गयीं कि श्रीराधाके परम-प्रेमकी शक्तिने श्रीश्यामसुन्दरको सर्वाङ्गीणरूपसे पूर्णतः अपने वशमें कर लिया है। यदि विरह-हेतु श्रीराधाका प्राणान्त हो गया तो फिर हम श्रीकृष्णको पुनः कभी भी प्राप्त नहीं कर सकेंगी। अतः यदि श्रीकृष्णको प्राप्त करना है तो हमारा कर्तव्य है कि हम सर्वतोभावसे श्रीराधाके जीवनकी रक्षा-हेतु प्रयत्नशील हों। इस प्रकार विचार करके समस्त गोपियां अपने भाव-वैषम्यको भुलाकर सम्पूर्णरूपसे श्रीराधाके जीवन-रक्षाके कार्यमें तत्पर होकर जुट गयीं।

प्रसङ्गवश यहां यह बता देना आवश्यक है कि व्रजदेवियोंकी हिंसा, विद्वेष, ईर्ष्या, कोप इत्यादि सभी शुद्ध सात्त्विक विकार हैं, इनमें तिलमात्र भी प्राकृत दोष नहीं है। हम दुग्धसे नाना प्रकारकी कितने ही मिष्टान्न तैयार कर लें, किन्तु उन सबमें दुग्धका मौलिक स्वाद तो वर्तमान रहेगा ही। अब समस्त गोपियां एक महान् विरह-सागरमें निमज्जित हो गयी। सभी गोपियोंका अब एकमात्र कार्य हो गया—येन-केन-प्रकारेण श्रीराधाका चैतन्य-सम्पादन।

कोई गोपी नव-पल्लवों-द्वारा श्रीराधाको व्यजन करने लगी, तो कोई उनके कर्णों में 'कृष्ण-कृष्ण' ध्वनि सुनाने लगी। किसीने श्रीराधाके मुर्झाये मुखपर जलके छींटे देकर उसका मार्जन किया। कोई गोपी श्रीराधाके अस्त-व्यस्त केशराशिको व्यवस्थित करके उन्हें वेणी-बद्ध करने लगी। अन्यान्य गोपियां "हा कृष्ण, प्राणकृष्ण" उच्चारण करती हुयी विरह-व्याकुल मूर्च्छित श्रीराधाकी निष्प्राण श्रीदेहकी परिक्रमा करने लगीं। बहु-काल तक सेवा-परिचर्या करने पर श्रीराधाकी देहमें अल्प चेतना आयी, मानो प्रेम-सरोवरमें नलिनी प्रस्फुटित होने लगी। श्रीराधाने "हा नाथ !" कहकर नयन उन्मीलित किये। सभी अत्यन्त आग्रहपूर्वक उनकी तरफ निहारने लगीं। फिर एक सखीने अत्यन्त सन्तर्पण-पूर्वक (प्रसन्नतापूर्वक) उनसे जिज्ञासा की कि "तुम्हारी यह दशा किस प्रकार हुई ?" श्रीराधाने अत्यन्त धीमे स्वरमें कहा - "मैं कुछ भी नहीं जान पायी, क्या कैसे हो गया। तुम्हें क्या बताऊँ ?"

कुतः कथं कुत्र च तेन नीता चकार किं वाहमिदं न जाने।
अनेन हीना तु विचारयामि स्वीयं तु दौरात्म्यमनर्थहेतुः ॥ (चम्पू–२४।१५३)

श्रीराधा बोली—"प्राणकान्त मुझे कहांसे, किस प्रकार और कहां ले गये, यह मैं कुछ भी नहीं जानती। किन्तु अब कृष्ण-हारा होकर मैं ऐसा विचार करती हूँ कि यह सब मेरा दौरात्म्य ही इस सारे अनर्थकी मूल है। मैंने गर्वपूर्वक उनके द्वारा प्रदत्त आदर एवं प्रमकी उपेक्षाको, मान-हेतु विमुख हो गयी, उनका तिरस्कार किया। अतः मेरा मान-गर्व-आदि दौरात्म्य ही मेरी वर्तमान दुर्दशाका एकमात्र कारण है।" श्रीशुकदेवजीने "दौरात्म्य" शब्दका प्रयोग किया है। श्रीसनातन गोस्वामीने इसका अर्थ किया है—"दूरे आत्मा (श्रीकृष्णः) यस्या सा दूरात्मा तस्या भावो दौरात्म्यम्"। श्रीराधाका कथन श्रवण करके समस्त गोपियां विस्मयसमुद्रमें डूब गयीं। "विस्मयं परमं ययुः"। सब निस्पन्द निर्वाक खड़ी रहीं।

समस्त गोपियां श्रीराधाराणीको घेरकर बैठ गयीं। सभीके नयनोंसे अश्रुओंकी झड़ी-सी लग गयी है, किन्तु किसीके भी मुखसे एक शब्द भी नहीं निकल पा रहा। इस नीरवताको भंग करती हुयी श्रीराधा कहने लगीं—"इस निर्जन वनमें यदि हम सब इस प्रकार निर्वाक् होकर बैठी रहेंगी तब तो प्राणधनको प्राप्त करनेकी कोई आशा ही नहीं रहेगी। चलो, हम सब मिलकर इस वनका कोना-कोना अन्वेषण कर डालें। मेरा अनुमान है कि वे इस वनमें ही छिपकर सबकुछ देख रहे हैं।"

समस्त गोपियोंके अन्तरमें दृढ विश्वास उत्पन्न हो गया कि जब हमें श्रीराधाराणीका सामीप्य प्राप्त हो गया है तब हमें श्रीकृष्णकी प्राप्तिभी अवश्य हो जायगी। अब समस्त गोपियां श्रीराधाको संग लेकर श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंको लक्ष्यमें रखकर अग्रसर होने लगीं। कुछ ही क्षणोंमें वे एक सघन वनके निकट पहुंच गयीं उसवन की वृक्ष लताएँ इतनी घन सन्निविष्ट थी, कि वनमें चन्द्र ज्योत्स्ना की एक किरण भी प्रवेश नहीं कर पा रही थी। इसके समीपमें श्रीकृष्णके पद-चिह्न भी अब दृष्टिगोचर नहीं हो रहे थे। सबने अनुमान लगाया कि वनमाली इस वनमें ही प्रवेश कर गये होंगे, अतः हम सब भी उनका अनुगमन करें। यह निश्चय करके सब गोपियां उस गहन वनमें प्रवेश करने-हेतु तत्पर हुयीं। तब भानुनन्दिनी श्रीराधाने कहा—"सखियों सुनो! मेरा भी विश्वास है कि श्यामसुन्दर इस काननमें ही प्रवेश कर गये हैं; किन्तु देखो तो सही कि इस वनमें कितना घोर अंधकार है। इन गहन अंधकारमें इस वनमें लुक्कायित किसी व्यक्तिको खोज पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, किन्तु हम गोपियां तो करोड़ोंकी संख्यामें हैं। अतः इतने नेत्रोंको धोखा देकर प्राणनाथके लिये इस वनमें छिपे रहना भी असंभव है। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि उन्हें हमसे छिपकर ही रहना अभीष्ट है तब वे किसी अन्य गुप्त स्थान पर चले जायँगे। इस अंधकारमें इधर-उधर चलनेसे उनके कोमल श्रीचरण कंटक-बिद्ध होंगे, द्रुतगतिसे गमन करने-हेतु कहीं वे किसी लतासे उलझकर गिरभी पड़ सकते हैं, अथवा अंधकारमें वे किसी वृक्षसे टकरा कर क्षत विक्षत भी हो सकते हैं। सुतरां अब अधिक अन्वेषण करके हम उन्हें कष्ट नहीं देंगी। यदि उन्हें हमसे छिपकर रहनेमें एवं हमें रुलानेमें ही आनन्द आता है तो हम उनके इस आनन्दमें बाधा नहीं देंगी। वे जब तक स्वेच्छासे प्रकट नहीं होंगे, तब तक हम क्रन्दन करेंगी और अपेक्षा करेंगी।

श्रीराधाकी अद्भुत प्रेम-महिमाकी भावना देखकर समस्त गोपियां उनके इस प्रस्तावसे सहमत हो गयीं। वे अनुगमन करके श्रीकृष्णका अन्वेषण करनेके कार्यसे विरत हो गयीं और श्रीकृष्णके गुणगानमें रत हो गयीं। श्रीकृष्णके नाम-रूप-गुणका कीर्तन करते-करते वे सब अभिभूत हो गयीं, उनको अपने देह-गेह एवं अन्य यावतीय सब-कुछकी विस्मृति हो गयी। श्रीकृष्णके न मिलने पर भी उन्होंने अपने मनमें निज देह सुख अथवा गृह-सुखकी भावनाको कोई स्थान नहीं दिया। वे पूर्णरूपसे श्याम-सुन्दरकी भावनामें ही विभोर हो गयीं। उस समयकी विरहिणी व्रजाङ्गनाओंकी सुन्दर झांकीका श्रीशुकदेवजीने मानस दर्शन करके उसका निम्न वर्णन किया है—

"तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः"—वे सभी कृष्णमना, कृष्णकथामग्ना, कृष्णानुसंधानपरायणा एवं प्रेम-तन्मयतावश कृष्णभावना-पूर्ण थीं। अन्तर-बाहिर, मन, प्राण–इत्यादि-विशिष्ट उनकी पूर्ण सत्ता ही सर्वतो भावसे कृष्णमयी हो गयी थी। प्रत्येक गोपी मानो भक्तिदेवीका एक-एक साकार विग्रह थी। गोपियोंके इस अभिसार द्वारा सावित्री, गायत्री मूर्त हो गयी। गोपीके सर्वत्यागसे गीताका 'सर्वधर्मान् परित्यज्य" मंत्र भी मूर्तिमान् हो गया। इस बार विरहिणी गोपियोंकी दशा-वर्णन द्वारा गीताका एक गुह्यतम मंत्र भी साकार हो गया। श्रीभगवान्ने गीताके अष्टादश अध्यायके अन्तिम–चरणोंमें सर्वोपेक्षा गुह्यतम एवं परम उत्कृष्ट मंत्र जगज्जीवोंके कल्याण-हेतु प्रकट किया है-"शृणुमे परमंवचः"—"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु"—(गी० १८।६५)। यह मंत्र श्रीगोविन्दको इतना अधिक प्रिय है कि नवम अध्यायमें राजविद्या राजगुह्य-योगका वर्णन करते हुये ठीक इन्हीं शब्दों-द्वारा भक्त और भक्तिका परम स्वरूप प्रकाशित किया है (गी० ९।३४) उनके वचनका तात्पर्य है—

मनको सर्वदा मेरे ही चिन्तनमें नियुक्त रखो। मेरी ही अनन्य भक्तिद्वारा भक्तिमान् बनो। मेरी ही पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। सम्पूर्ण मनको निःशेषरूपसे मेरेमें ही लगाना होगा। इस 'मन्मना' पदका साकार दृष्टान्त और मूर्त्ति-मान विग्रह कहां देखनेको मिलेगा?

श्रीमद्‌भगवद्‌गीताका यह मंत्र श्रीमद्‌भागवतमें मूर्तिमान् हो गया है। अन्यान्य स्थानों पर इस मंत्रके दृष्टांत देने–हेतु प्रयास करना होता है। गीताके द्वादश अध्यायमें वर्णित भक्तके लक्षणों का दृष्टान्त देने–हेतु श्रीभागवतके भक्त प्रह्लाद आदिके चरित्रोंसे तुलना करनी पड़ती है। किन्तु श्रीशुकदेवजी इस श्लोकमें तो मानो अँगुलि–निर्देश द्वारा कह रहे हैं—तुमने गीतामें 'मन्मना' शब्द सुना है किन्तु यहां 'तन्मनस्काओं' की दशाका स्वचक्षुओंसे दर्शन करो। गीतामें 'मद्‌भक्त, मद्याजी' सुने हैं; यहां 'तदालापाः तद्विचेष्टां' की साकार विग्रहोंका दर्शन करो। 'मद्याजी' पदका अर्थ है 'मेरे उद्‌देश्यसे कर्मपरायण'। गीतामें कहा है 'मां नमस्कुरु'। 'नमस्कार' एक शीरीरिक क्रियामात्र नहीं है, यह सार्थक होता है सम्पूर्णरूपसे आत्मविसर्जन द्वारा, सर्वतोभावसे श्रीचरणोंमें आत्मनिवेदन द्वारा। कविसम्राट् रवीन्द्रनाथने कहा है—

एकटि नमस्कारे प्रभु, एकटि नमस्कारे। सकल देह लुटिये पड़ुक तोमार चरण' परे॥

गोपियां तदात्मिका होने–हेतु, नमस्कार की चरम अवस्था पर स्थित हैं। विरहिणी गोपियोंके स्वरूप द्वारा गीताका गुह्यतम मंत्र साकार हो गया है।

श्रीकृष्णने गीताका यह मंत्र बोलकर अपने प्रिय सखा अर्जुनका अङ्ग–स्पर्शपूर्वक प्रतिज्ञा की थी—"प्रतिजाने प्रियोऽसि मे"। उस प्रतिज्ञामें श्रीभगवान्‌ने कहा है–"मामेवैष्यसि" अर्थात् तुम निश्चित रूपसे मुझेही प्राप्त करोगे। सुतरां अब गोपाङ्गनाओंको दृढ विश्वास हो गया है कि श्रीकृष्ण उन्हें मिलेंगे। अनुसंधान–कार्य समाप्त हुआ। किन्तु केवल अनुसंधान–क्रियाद्वारा श्रीकृष्ण को प्राप्त किया जा सकता है क्या? श्रुतिने कहा है—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"—वे अपनी अनुग्रहशक्ति–द्वारा जिसके सम्मुख स्वयंको व्यक्त करते हैं, उसीको उनकी प्राप्ति होती है; किसी भी साधन, भजन, तपस्या, उपासनाके फलस्वरूप उनकी प्राप्ति असम्भव है। श्रीराधाराणीने सखियों को कहा—"हम अपने प्राणगोविन्दको खोजकर उन्हें कष्ट देकर नहीं पाना चाहतीं। चलो, हम सब यमुना–पुलिन पर लौट चलें। जिस स्मरणीय कालिन्दीतटके पवित्र वंशीवट पर हमें श्रीकृष्ण का मधुर–मिलन एक बार प्राप्त हो चुका हैं, पुनः वहीं चलें, वहां श्रीकृष्णके स्मरण–कीर्तनमें डूबी रहें और उच्चस्वरसे क्रन्दन करके उन्हें पुकारें। वे कृपापूर्वक यदि स्वेच्छासे उस लीलास्थली पर प्रकट होकर हमें दर्शन दें, तभी हमें उनके दर्शन उपलब्ध होंगे। यदि श्रीकृष्ण फिरभी दर्शन न देंगे, तो हम लोग क्रन्दन करते–करते उस लीलास्थली पर ही प्राणत्याग देंगी। मृत्यु–कालमें भी हम अपने मनमें इस आशाके साथ मरेंगी कि जन्मान्तरमें हमें उनकी श्रीचरण–सेवा की प्राप्ति हो।

श्रीराधाराणीके कथनसे श्रुतिमंत्र प्राणवान् और साकार हुआ। सभी गोपाङ्गनाएँ श्रुतिचरी, ऋषिचरी, देवकन्या, साधनसिद्धा, नित्यसिद्धा, स्वपक्षा, प्रतिपक्षा, सुहृत्पक्षा, तटस्था इत्यादि एकप्राण होकर यमुनापुलिनपर उपस्थित हुयीं। उस समय उन सबके चित्तसे देहगेहकी स्मृति लुप्त हो चुकी थी और वे श्रीकृष्णमें ही तन्मयता प्राप्त कर चुकी थीं। उनकी भावना कृष्णमय थी, उनका कथोपकथन केवल कृष्ण–विषयक था और वे श्रीकृष्णके गुण और लीलाके गायन द्वारा सम्पूर्णरूपसे एकतानता प्राप्त कर चुकी थीं। समस्त गोपाङ्गनाएँ सम्मिलित–कण्ठसे उच्चस्वरमें विलाप करती हुयी क्रन्दन करने लगीं।।४१–४५।।

(२३)

विरहातुर कृष्णानुरागिणी ब्रजाङ्गनागण कृष्ण-प्रेयसी-श्रेष्ठा श्रीराधिकाको अपने संगलेकर गभीर वनप्रदेशमें से निकलकर श्रीयमुनाजी के पुलिन पर आकर उपस्थित हो गयी हैं। विरहिणी गोपियोंका हृदय कृष्णविरह-हेतु तीव्र वेदनासे दलित एवं मथित हो रहा था। वे गभीर नैराश्यभाव से ग्रस्त हो चुकी थीं। समस्त-शोभास्पद यमुना-पुलिन अपनी श्री का विस्तार करते हुये इन विरहिणी गोपियोंके निराश मन में भी कृष्ण-प्राप्ति अर्थात् प्रिय–मिलन की सुखद आशाका बलपूर्वक संचार कर रहा था। अतः समस्त गोपियां मिलकर अपने प्राणवल्लभ को उद्‌देश्य करके स्वतः–उत्सारित एक अत्यत वेदना पूर्ण प्रार्थनागीति गाने लगी। श्रीकृष्ण-प्रेम से उन्मादिनीं बनी हुयी गोपियों के गाढ–प्रणय-हेतु उनके हृदयसे स्वतः–निसृत यह प्रणय-गीत उनके अत्यंत तीव्र एवं अभावनीय कृष्ण–प्रेमका परिचायक है त्रिभुवनमें इस प्रणय–गीतकी तुलना कर सके, ऐसा कोई अन्य गीत नहीं है।

गोपियां गाने लगीं—"ब्रजविधो! दशामस्माकमीक्ष्यताम्"—हे गोकुलचन्द्र! एकबार आकर हमारी दशा देख जाओ। हे दयित! हे प्राणप्रिय! श्रीदेवी निरन्तर तुम्हारी चरण-सेवा में सावधानीपूर्वक लगी रहती हैं। इसीलिये ब्रजमें तुम्हारे आविर्भावके साथ–साथ ही यह ब्रजभूमि सर्वप्रकारकी शोभा-सम्पदकी आकर बन गयी है। ब्रजमें सब कुछ सुन्दर है; तुम्हारे श्रीचरणोंसे वंचित केवल हम भाग्यहीना ही असुन्दर हैं। इस ब्रजमें श्रीलक्ष्मीदेवी का निरन्तर अवस्थान होते हुए भी केवल हम ही श्री–हीना हैं। हमारी यह दुर्दशा ब्रजके लिये भी कलंकस्वरूप है, ब्रजमण्डलके चरम उत्कर्षमें भी बाधक है। इसीलिये हम तुमसे निवेदन कर रही हैं कि एकबार आकर हमें, भलेही दूरसे ही देख तो जाओ। तुम्हारे एकबार देखने मात्रसे ही ब्रजकी

अथवा हमारी श्री निश्चय ही पुनः लौट आयेगी। कारण तुम हमारे दयित हो, तुम्हारा स्वरूप ही दया अर्थात् अनुकम्पा रूपी उपादान से ही निर्मित है।

जिस-तुम्हारे आविर्भाव-हेतु व्रजका इतना उत्कर्ष है, उस-तुम्हारी दासी-रूपसे ही व्रजमें हमारा परिचय है हम भी भलीभांति जानती हैं कि हम तुम्हारी-ही हैं (तावकाः)। तुम भी तो गोपीजनवल्लभ हो। तुमने हमें स्वीकार भी तो किया हुआ है। गोपियोंके अतिरिक्त तुम्हारे निगूढ़ प्रेमका पात्र इस जगत्में और कौन हैं? (निजाङ्गमपि या गोप्या ममेति समुपासते। ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढ प्रेमभाजनम्।) हम प्राण-धारणभी केवल तुम्हारे निमित्त कर रही हैं, तुम ही हमारे जीवन-सर्वस्व हो। अतः तुम्हारे अदर्शन-हेतु इन प्राणोंको रख पाना भी कठिन हो रहा है। "वियोग हइले कभु ना जीयाय"। तुम्हारे निदारुण प्राणघातक विरह-समुद्रमें पतित होकर हम सब इस सुन्दर व्रजके वन-वनमें भिखारिणियोंकी भांति भटकती तुम्हारे अन्वेषण हेतु घूम रही हैं। सम्भव है हम तो चिर-भाग्य हीना हैं, किन्तु तुमसे प्रेम करके, देह-मन-प्राण सर्वतो भावे तुम्हें समर्पण करनेके पश्चात् भी हमें इस प्रकारकी दुर्दशा भोगनी पड़े तो यह बात किसी भी दृष्टिसे तुम्हारे गौरव की परिचायक नहीं है। तुम्हारी तीव्र-विरह-वेदना-हेतु अब तक तो हमें मर जाना ही उचित था, किन्तु अभीतक हम मरी नहीं, इसके भी प्रकृत कारण तुम्हीं हो। हमारे देह-मन प्रबल विरहानलसे दग्धीभूत हो रहे हैं, किन्तु प्राण-पक्षी उसमेंसे बहिर्गत नहीं हो रहा है कारण प्राण तो तुम्हें ही समर्पित हो चुके हैं। इसीलिये हमारे प्राण अभी भी तुम्हारी प्राप्तिकी आशामें इस तप्त देहसे विनिर्गत नहीं हो रहे हैं। कैसा दुर्दैव है!"

गोपीगीति मालिकाके प्रथम श्लोकमें तीव्र मर्म-वेदना एवं कृष्ण-दर्शन-लालसा किसी एक यूथकी मुख्या गोपीके कण्ठ से रूपायित हुयी है। तत्पश्चात् एक अन्य यूथेश्वरी कहने लगीं—"हे सुरतनाथ! एक दिन तुमने अपनी कामनापूर्ण नयन-भङ्गी द्वारा हमसे सुरत-याचना कीं थी। हे वरद! फिर कात्यायनी-व्रतसमापनके अवसर पर वर प्रदान करके तुमने हमारी मनोकामना पूर्ण करने हेतु प्रतिश्रुति भी दी थी। किन्तु हाय! हमारा कैसा दुर्भाग्य है! कि आज तुम अपनी प्रतिज्ञाभंग करके हमें विरहानलमें दग्ध कर रहे हो। केवल इतना ही नहीं, जिन नयनों द्वारा पहिले हमारे मनमें मिलन-लालसा जाग्रत की थी, उन्हीं नयनों-द्वारा आज हमारा वध-साधन कर रहे हो। तुम्हारे नयनोंकी शोभाका वर्णन करनेमें भी हम असमर्थ हैं। शरत्कालीन सरोवरके स्वच्छ स्फटिक जलमें विकसित पद्मके शत-शत पंखुड़ियोंमें पद्म-परागकी शोभासम्पद लुक्कायित रहती है। किन्तु तुम्हारे नयनतस्करोंके कौशलकी भी कैसी अपार महिमा है! उस सुगुप्त स्थानसे भी पद्म-परागकी शोभा-सम्पदका तुम्हारे नयन अपने अद्भुत कौशलसे हरण कर लेते हैं। पद्म सुनिर्मल अर्थात् साधु होता। किन्तु हमें यह स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है कि तुम्हें साधुके धन-हरण करनेमें भी लज्जा नहीं आती।

हम कुल-वधू हैं, हमारा प्रेम-धन हमारे हृदयके गुह्यतम कोनेमें छिपा पड़ा था। उसकी चारों दिशाओंमें कुल, शील, धैर्य, लज्जा, गाम्भीर्य प्रभृतिकी सुरक्षित और दुर्गम दुर्ग-प्राचीरें बनी हुयी थी। किन्तु तुम्हारे नयन-तस्करके हाथसे जब अगाध-सरोवर-जलनिवासी सहस्रदलवेष्टित पद्मकी भी रक्षा नहीं हो सकी, तब हमारे सुगुप्त मनोरत्नकी रक्षा किस प्रकार सम्भव है? हुआ भी यही, हम अपने मनोरत्नकी रक्षा नहीं कर सकी। तुम्हारे नयन-कटाक्षोंने हमारे मनोरत्नका अपहरण करके हमें चिरकालके लिये अपनी निःशुल्क (अवैतनिक) दासी बना लिया। हमारे मनमें अन्य किसी प्रकारकी सुख-सुविधा की कामना नहीं है, हम तो श्रीचरणोंकी दासी हैं अतः निष्कपट भावसे मात्र उन श्रीचरणोंकी सेवाकी ही अभिलाषी हैं। हमारा श्रृङ्गार भी हमारे स्वयंके लिये नहीं है, किन्तु वह केवल तुम्हारे सुख-विधान-हेतु है। "यद्यपि देखिये गोपीर निज देहे प्रीत। सेहे तो कृष्णेर लागि जानिह निश्चित।" (चै० च०)। तुम्हारे सुखमें ही हमारा सुख है। तुम्हारे विरह-तापसे हमारे मन-प्राण दग्धीभूत हुये जा रहे हैं। हे सुरतनाथ! हे वरद! क्या यह हत्या नहीं है? तुमने अपने हाथमें कोई अस्त्र-शस्त्र धारण नहीं कर रखा है, किन्तु तुम्हारे नयनोंकी दृष्टि भी तो कम तीक्ष्णधारवाली नहीं है। पूर्वमें तो नयन-कटाक्षों द्वारा सुरत-याचना करके हमारी यह दशा बनायी और अब अपने अदर्शन-द्वारा हमारी जो दुर्दशा कर रहे हो वह भी तो वध-तुल्य ही है। इसीलिये हम कह रही हैं, कि अविलम्ब दर्शन देकर हमारे वधके अपराध एवं अपवादसे मुक्ति पा लो। तुम्हारे विना हमारेमेंसे एक भी जीवित नहीं बचेगी।

हे पुरुषोत्तम! गीतामें तुम्हारा प्रतिज्ञा-वाक्य है—"न मे भक्तः प्रणश्यति" (९।३१)। व्रजमें तुम्हारे कार्योंसे तुम्हारे वाक्यकी सफलता और सार्थकताके प्रत्यक्ष दर्शन भी होते हैं। तुमने व्रजवासियोंकी और हमारी न जाने कितनी आपद-विपदोंसे साक्षात् मृत्युके मुखमें जानेसे रक्षा की है। जब तुम्हें कालियनागद्वारा परिवेष्टित देखकर हमारे प्राण निकलने ही वाले थे, तब तुमने बलपूर्वक उस दुष्ट सर्पका दमन किया था। कुपित इन्द्र-रोष-पूर्वक प्रबल वर्षण, तूफान और वज्रपात द्वारा जब व्रजका समूल नाश करनेको उद्यत हुआ, तब तुमने गोवर्धन-गिरिधारणपूर्वक हम सबकी रक्षा की थी। अघासुर, वृषभासुर, व्योमासुर प्रभृतिके क्रूर हाथोंसे भी तुम्हींने हमारी रक्षा की थी। सारे व्रजवासी दावानलमें दग्ध हो सकते थे। ऐसे ही और

भी शत-शत अवसरों पर तुमने ही हम सबके प्राणोंकी रक्षाकी है। यदि इस प्रकारसे विरहाग्निमें दग्ध करके ही हमारा वध करना था, तब निश्चित मृत्युके कराल कवलसे पुनः पुनः रक्षा करने का क्या प्रयोजन था ? यदि कहो, कि तुम भक्त नहीं हो अतः तुम्हारा विनाश ही उचित है, तो तुम्हारे इस कथनका त्रिभुवनमें भी कोई समर्थन नहीं करेगा। कौन नहीं जानता कि तुम गोपीजन-वल्लभ हो ? अतएव हे पुरुषभूषण ! हम अब अधिक क्या कहें ? हम तो तुम्हारी ही शरणागता, चरणाश्रिता और स्नेह-प्रणय-पालिता गोपियां हैं, हमारी मृत्यु न हो इस-हेतु एकबार दर्शन देकर हमारे प्राणोंकी रक्षा करो।

विरह की तीव्रता-हेतु व्रजाङ्गनाओंके दैन्य एवं खेदोक्तिके मध्यमें श्रीकृष्णकी भगवत्ता की स्फूर्ति हुयी। यद्यपि गोपियोंका श्रीकृष्ण-प्रेम निरुपाधिक है, ऐश्वर्य देखने परभी उनकी दृष्टि और हृदय उसे ग्रहण नहीं करता। किन्तु कटाहमें उबलते हुये दुग्धमें पड़ा हुए तृण जिस प्रकार एक क्षणके लिये ऊपर दिखायी पड़कर पुनः अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार विरहके तीव्रतापमें कभी-भी ऐश्वर्यकी कभी क्षणिक झलक प्रकाशित हो जाती है। विरहिणी गोपिकायें बोली—"हे सखे ! हम सब तुम्हें केवल यशोदानन्दन बोलकर ही जानती हैं, किन्तु तुम केवल वही नहीं हो। "अखिलदेहिनाम् अन्तरात्मदृक्।" तुम समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी द्रष्टा हो। तुम ब्रह्माकी प्रार्थना पर जगत्पालनके कार्य-हेतु आविर्भूत हुये हो।

गोपियों की इस उक्तिका तात्पर्य यह है—"आज तक हम तुम्हें यशोदाका पुत्र मानती थी, किन्तु अब ऐसा विश्वास करने की इच्छा नहीं होती। कारण मा यशोदा अत्यंत कोमल-हृदय हैं; यदि तुम उनकी सन्तान होते तो तुम्हारेमें भी जननीके स्नेह का अल्पांश तो होता ! किन्तु तुम्हारा निर्मम एवं निष्ठुर हृदय देखकर हमें अब पूर्ण विश्वास हो रहा है कि तुम मा यशोदा के प्रकृत पुत्र नहीं हो, पालित पुत्र हो सकते हो।

लोग कहते है कि तुम अन्तर्यामी हो। कभी-कभी हमें भी लोगों की इस बात पर विश्वास-सा हो जाता था; किन्तु अब हम यह विश्वास नहीं करतीं। यदि तुम अन्तर्यामी होते तो निश्चय ही हमारे अन्तर की वेदनाका अनुभव कर सकते थे। किन्तु हम प्रत्यक्ष देख रही हैं कि तुम हमारे हृदयकी जलनके बादेमें विन्दुमात्रभी नहीं जानते। उस दशामें तुम्हें अन्तर्द्रष्टा कहना किसी भी प्रकारसे समीचीन नहीं लगता। हाँ, एक अर्थमें अन्तर्द्रष्टा हो भी सकते हो। तुम जीवके हृदयमें केवल द्रष्टा अर्थात् साक्षीरूपसे निवास करते हो, उनके सुख-दुःखसे निर्विकार रहते हो। फिर तो तुम्हारे सामने रोना-धोना करनेका कोई फल ही नहीं है। सुना था, कि ब्रह्माकी प्रार्थनावश विश्व-पालन-हेतु तुम यदुकुलमें अवतीर्ण हुये हो। अब हमें इस बात पर विश्वास नहीं होता, कारण यदि तुम विश्व-पालन-हेतु आये हो तब हमारा भी तो पालन करना तुम्हारा कर्तव्य था क्योंकि हम भी तो इस विश्वके बाहरकी तो नहीं हैं। किन्तु हमारा पालन करना तो दूर रहा, तुम तो हमें अनेक प्रकारसे पीड़ित करके मार रहे हो। इसीसे हम यह स्पष्ट अनुभव कर रहीं हैं कि यह बात सत्य नहीं है कि तुम विश्व पालन-हेतु अवतीर्ण हुये हो।

विरहिणी गोपाङ्गनाओंकी यह प्रार्थना-गीति श्रीकृष्णके ऐश्वर्यज्ञानसे युक्त एवं अत्यन्त दीनतापूर्ण है। वे श्रीकृष्णको उद्देश्य करके पुनः कहने लगीं—"हे वृष्णिकुलचन्द्र ! तुम अपना कमनीय श्रीकरकमल मात्र एक बार हमारे मस्तकपर रख दो और हमें निज-दासी मानकर स्वीकार कर लो। तुम्हारे इन कर कमलोंकी अपार महिमा है। यह संसार दुःख और शोकसे पूर्ण है। यदि संसार-भयसे भीत प्राणी तुम्हारी शरण ग्रहण कर लें तो तुम्हारे करकमल सतत उन्हे अभय-दान करते रहते हैं। इस संसारकी त्रिविध ज्वालासे तप्त होकर जो प्राणी तुम्हारी शरण ग्रहण कर लेते हैं, तुम अपने करकमलस्पर्शद्वारा उनके समस्त संताप हरण कर लेते हो। और उन्हें परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। हे प्रिय ! केवल इतना ही नहीं, तुम्हारे ये करकमल उनके सर्व प्रकारके अभीष्ट पूर्ण कर देते हैं। सम्पदकी अधिष्ठात्री लक्ष्मीदेवीके करकमल तुमने अपने श्रीहस्तसे ग्रहण कर लिये हैं, अतः ऐसी कोई भो वस्तु नहीं है जो तुम्हारे द्वारा अदेय हो। हमें भी केवल इसी बातसे सान्त्वना मिल रही है। हम विरह-तापसे दग्ध हो रही हैं, अतः भय हो रहा है कि कहीं मृत्युप्राप्त करके तुम्हारी सेवासे चिरकालके लिये वंचित न हो जाँय। इसीलिये हम प्रार्थना कर रही है कि अपने महिमा-मण्डित श्रीहस्तका स्पर्श हमारे मस्तकसे कर दो जिससे हमारा विरहजन्य संताप मिट जाय। तुम्हारी सर्वाभीष्ट-सार प्रेम-सेवा प्राप्त करके हमारा गोपी-जीवन धन्य हो जाय।"

"माधुर्य भगवत्ता सार"। व्रजाङ्गनाओंकी श्रीकृष्णके प्रति ऐश्वर्य-स्फूर्तिके मध्यमें भी माधुर्यका प्राचुर्य प्रकाशित हो रहा है। पञ्चम और षष्ठ श्लोकमें "सखे" सम्बोधन लक्ष्य करने योग्य है। हे प्रियतम ! तुम व्रजजनार्तिहन् हो—सतत व्रज-वासियोंकी आर्ति अर्थात् वेदनाका हरण करते रहते हो। व्रजका दुःख दूर करनेके कार्यमें तुम कभी भी पश्चात् पद नहीं हुये, तब आज यह अन्यथा आचरण क्यों दिखायी पड़ रहा है ? तुम हमारे दुःखको दूर क्यों नहीं कर रहे हो ? यह सत्य है, कि तुम्हें प्राप्त करके हमारे मनमें अल्पमात्रामें गर्वका उदय हो गया था, किन्तु उस गर्वका हेतु धन, जन, वित्त, ऐश्वर्य, सौन्दर्य आदि नहीं था। उतने-से गर्वका नाश करने हेतु हमें इस अगाध विरह-समुद्रमें निमज्जित करनेकी आवश्यकता तुम्हें क्यों हुई ? तुम्हारे वदन-कमल पर मधुरिम स्मित है, निज-जनका गर्वका नाश करने हेतु तो वह स्मित ही यथेष्ट है। हे सखे ! हमें अपने

उस मधुर-हास्य युक्त श्रीमुखके दर्शन कराओ जिससे हमारी सारी वेदनाका अवसान हो। हे वीर! हम तो स्त्रीजाति हैं, सर्वस्व-त्याग करके तुम्हारे चरणोंकी शरणागता हैं। हम दासियोंके वध करनेकी इच्छा तुम्हारे वीरत्वकी तिलमात्र भी परिचायक नहीं होगी। वरञ्च यदि तुम हमारी रक्षा करोगे तो इससे तुम्हारे वीरत्वका ही परिचय मिलेगा। अत एव हे प्रिय! हम चिर-दासियोंके रक्षाविधान-हेतु अपने श्रीमुखके दर्शन कराओ॥ ५-६॥

(२४)

विरहिणी गोपियां प्रथमतः केवल दर्शनाभिलाषी थीं, कारण उनका विचार था कि दर्शनसेही सर्व प्रकारके सन्ताप मिट जायँगे। किन्तु अब उन्हें ऐसा अनुभव हो रहा है कि उनका हृदय प्रचण्डरूपसे हू-हू करताहुआ जल रहा है, अतः केवल दर्शनसे इस दावदग्ध हृदयकी तीव्र ज्वाला शान्त नहीं होगी इस समय हृदयको कोटि-चन्द्रोंकी सुशीतलताकी आवश्यकता है, अतः यह तीव्र जलन श्रीकृष्णके सुशीतल स्पर्श से ही शान्त हो सकती है। श्रीकृष्णके कोमल रक्तिम चरणों के अतिरिक्त इतनी सुशीतल वस्तु अन्य कुत्रापि दृष्टिगोचर नहीं हो रही।

कृष्णकर पदतल, कोटी चन्द्र सुशीतल, तार स्पर्श येन स्पर्शमणि। (चै. च.)

अतएव गोपियां कहने लगीं—"हे प्रियतमः! हमारे सन्तप्त हृदयके ऊपर अपना कोटिचन्द्र सुशीतल चरण अर्पण करो। तुम्हारे श्रीचरणोंके स्पर्शसे तुम्हारे चरणोंमें प्रणत भक्तजनों के सर्वविध पाप समूल नष्ट हो जाते हैं और उन्हें तुम्हारी प्राप्ति भी हो जाती है। गीतामें तुम्हारी आश्वासवाणी है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ १८।६५

हमने तुम्हें पाकर भी पुनः खो दिया, निश्चयही यह हमारे किसी गुरुतर अपराध अथवा पापका फल ही है। अतः अब हम यूथ मिलकर चिरकालके लिये तुम्हारे चरणों में प्रणत हो रही हैं। प्रणतजनोंके सर्वपापनाशक अपने श्रीचरणोंका स्पर्श देकर हमें कृतार्थ करो।

सम्भव है तुम्हें ऐसा भय लग रहा हो कि हमारे कठिन वक्षके स्पर्शसे तुम्हारे सुकोमल चरणोंमें व्यथा होगी। फिर भी हम तुम्हारे लिये क्लेश-दायक ऐसी प्रार्थना क्यों कर रही हैं, यह बता देती हैं। तुम गायें चराते हुये वन वनमें गायोंके पीछे-पाछे विचरण किया करते हो। वनमें सर्वत्र कंकर-कांटे इत्यादि विखरे पड़े हैं, जिससे तुम्हारे सुकोमल चरण अवश्य विद्ध होते ही होंगे और तुम्हें व्यथा भी होती होगी। फिर भी तुम गौ-चारण कार्य से कभीभी विरत नहीं होते। इसीलिये हमें भी भरोसा हो रहा है कि तुम अपने चरण हमारे वक्षपर अवश्य स्थापित करोगे। एतद्व्यतीत तुम्हारे चरणकमल पद्मालया श्रीलक्ष्मीदेवी के भी आश्रयस्थल हैं, अतः हम इन्हें अपने वक्षस्थल पर सर्वश्रेष्ठ अलंकार-रूपसे धारण करेंगी! यह सत्य है कि हमारा हृदय कठोर एवं विरह-तप्त है, अतः उस कर चरण अर्पण करनसे तुम्हें वेदना होगी। किन्तु तुमने तो इन्हीं कोमल रक्तिम चरणों से विषैले कालियनागके मणिमय एवं कठोर मस्तक पर अद्भुत नृत्य किया था। उस नृत्यकी मधुरता देखकर हमें विश्वास हो गया कि तुम्हें उस नृत्य-हेतु किसी प्रकारकी व्यथा नहीं हुयी। सम्भव है, तुम्हारे सुकोमल चरणों के स्पर्श से सर्पके कठोर मस्तक का काठिन्य तिरोहित होगया और कालिय नाग का विषवीर्य भी लुप्त होगया था। अत एव तुम्हारे श्रीपादपद्मस्पर्श से हमारे वक्षका तीव्र ताप भी प्रशमित हो जायगा, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। हमारे विरह-सन्ताप की शान्ति-हेतु इस हृदय पर तुम्हारे श्रीचरण-स्थापनके अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाय या औषधि हमारी बुद्धि-सीमा में नहीं है अत एव हे प्राणनाथ! एकबार श्रीचरणों का स्पर्शदान देकर इन दग्ध प्राणोंको शीतल करो।

किसी भी व्याधिकी प्रारम्भिक अवस्थामें, जब उसका प्रकोप सामान्य-सा होता है, तब बाहिरी प्रलेपसे व्याधिका उपशम हो भी सकता है। किन्तु दीर्घकालीन पुरानी यानि जीर्ण व्याधिका प्रकोप जब उग्र हो जाता है, तब अकेले बाह्य-प्रलेपादिसे कोई उपकार नहीं होता, उसके संग पेय औषधिका प्रयोग आवश्यक है। गोपीजनों को कृष्णविरह की व्याधि हो गयी है, विरह कालमें एक क्षण भी युगके समान प्रतीत होता है। इसलिये व्रजगोपियों की यह व्याधि बहुकालकी भी है, दुरारोग्य भी है। अमृतपानसे दुरारोग्य व्याधि भी मिट जाती है, किन्तु गोपियों को इस से उपकार होने की आशा नहीं है कारण उनकी इस व्याधिके उत्पन्न होनेका कारण भी तो अमृत ही है। यह व्याधि श्रीकृष्णके अधरामृतपान-हेतु ही उत्पन्न हुई हैं और श्रीकृष्ण का अधरामृत समुद्र-मथनोत्थित अमृतकी अपेक्षा कोटिगुणा अधिक मधुर है,। श्रीकृष्णका वीणाविनिन्दित सुमधुर वाणी और वंशीनादन ही गोपियोंके मनमें सुतीव्र कामना उत्पन्न की है। उस मदन-दहनसे उनकी देह-मन दग्ध हो रहा है। इस ताप को शांत करने की शक्ति अन्य किसी अमृतमें नहीं है। बहुत सोच-विचारके पश्चात् गोपियां इस निश्चय पर पहुंची हैं कि अधरामृतसे जात व्याधि पुनः अधरामृतपानसे ही निरामय हो सकता है। श्रीकृष्णके सर्वाभीष्टपूरक करकमलोंको उनके

मस्तक पर अर्पण अथवा उनके सर्वदुःखनाशक श्रीमुखकमलका दर्शन—ये दोनों उपाय इसक्षेत्रमें केवल बाह्य प्रलेप जितना ही उपकार करेंगे। इसीलिये विरहिणी गोपियाँ कह रही हैं—"हे कमलाक्ष! अपने स्निग्ध एवं मधुमय कमलनयन उन्मीलित करके एकबार अपनी इन विरह-सन्तप्त गोपियों की दिशामें दृष्टि निक्षेप करके जरा देखो तो सही। तब स्वयं तुम्हें भी विश्वास हो जायगा कि इस व्याधिकी एकमात्र एवं अव्यर्थ औषधि केवल तुम्हारे अधरामृतका पान कराना ही है। अतः एकबार आकर अपने अधरामृत-दान द्वारा हमें आप्यायित करो, अन्यथा निश्चितरूप से जान लो कि सद्यः ही हमारा प्राणांत हो जायगा। कारण इतिपूर्वे तुमने जितनी बाते कहीं थी वे स्वरमाधुर्य, वर्णविन्यास एवं प्रेममृदुना की दृष्टिसे अत्यंत मनोरम है। शब्दकी अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जनावृत्तिद्वारा प्रतिपादित वस्तुके रस, अलङ्कार, अर्थ और भाव-गाम्भीर्य की दृष्टिसे भी वे अत्यंत मधुर एवं परमानन्द प्रद हैं। दृष्टांत स्वरूप तुमने श्रीराधासे कहा था—"कठोरा भव मृद्वी वा प्राणारत्वमसि राधिके"—(विदग्धमाधव)। अर्थात्" हे राधे, भले ही तुम मान-हेतु कठोरा बनो अथवा मिलन-रसास्वादन-हेतु कोमल बनो—मेरा जीवन तुम ही हो।" उन-सब प्रेमपूर्ण मधुर वचनोंसे तुमने हमारे आनन्द-सिन्धुको उद्वेलित कर दिया था और हम उसी समय चिरकालके लिये तुम्हारे हाथों विना मूल्य बिक गयीं। हम इन सब बातों को किसीभी प्रकारसे भूल नहीं पा रही हैं। दुर्विषह्य विरहदशाके इन कष्टप्रद क्षणोंमें उन बातों का स्मरण करके हम मोहग्रस्त हो रही हैं। हे वीर! यथार्थमें ही तुम दानवीर हो। तुमने पापीयसी पूतनाको वैकुण्ठ-प्रदान किया। शत-शत असुरोंको भी परम गति प्रदान की। अतः तुम-सदृश दानवीरके लिये हमें दुर्लभ अधरामृतका दान देना कतई असम्भव नहीं है। अतएव हे प्राणनाथ! अपनी इन अनन्य दासियोंको एक बिन्दु अधरामृतदानसे वंचित मत करो।"

कृष्ण-विरह अत्यंत दुरारोग्य व्याधि है, एकबार इसकी चपेटमें आजाने के पश्चात् फिर प्राणों की कोई आशा नहीं रहती। "वियोग हइले कभुना जीयाय।" अभीतक कृष्ण-विरह-सन्तप्ता गोपियों का प्राणांत क्यों नहीं हुआ, यही बता रही हैं—"हे प्रिय! हमारे सारे अन्तरमें तुम्हारा विरह-जनित सुतीव्र सन्ताप व्याप्त है। हम यही विचार कर रही हैं कि इतने पर भी हम अभीतक भस्म होकर मरी क्यों नहीं। विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर उपनीत हुयी कि यह सब तुम्हारी कथामृतके प्रभाव-हेतु हुआ है। हमने सुना है कि स्वर्ग की सुधा अमरत्व प्रदान करती है और इसीलिये देवगण अमर हैं। किन्तु फिर भी तुम्हारे कथामृतके संग उसकी कोई तुलना नहीं। स्वर्गके अमरत्वका भी एक अन्त है, पुण्य-क्षय होनेके पश्चात् पुनः मर्त्यलोकमें आना पड़ता है। किन्तु तुम्हारी कथा, तुम्हारा नाम, लीला इत्यादि तुम्हारे स्वरूपसे भिन्न नहीं हैं। जिस प्रकार तुम अमृतमय हो, उसी प्रकार तुम्हारी कथा भी अमृतमय है। उस कथामृतकी धारामें जो स्नान कर लेते हैं, वे नित्यकालके लिये अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त एक यह भी भेद है कि स्वर्गसुधा तुम्हारे कथामृतके समान अमृतस्वादयुक्त नहीं है। ऐसा कहीं भी सुननेमें नहीं आया कि एकबार स्वर्गसुधाका पान करनेके पश्चात् उसे पान करने की वासना पुनः पुनः जागृत होती हो, किन्तु तुम्हारे कथामृत की यह विशेषता है कि उसका जितना पान किया जाय पान करने की तृष्णा उतनी ही अधिक वृद्धिप्राप्त होती रहती है। "यत यत पिये तृष्णा बाड़े अनुक्षण।" इससे कथामृत की स्वादुता और मधुरता का ही परिचय मिलता है।

इस संसारमें ताप और जलन सर्वत्र व्याप्त है। जीवनमें सभीको इनका अल्पाधिक भोग करना ही पड़ता है। पूर्व-कर्मानुसार फल-भोगका निर्णय होता है। जीवनके समस्त यावदीय कर्म सद्-असद्-मिश्रित ही होते हैं, अतः अविमिश्रित अर्थात् शुद्ध एवं केवल सुख या दुःख कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। फिर भी, संसारमें दुःख, ज्वाला, यंत्रणा आदि ही अधिक मात्रामें दिखलायी पड़ते हैं। जगत्में सभी प्राणी त्रितापतप्त हैं, जगत्-शस्य जगज्जीव उस तापसे दग्ध होता रहता है। प्रचण्ड ग्रीष्मकालमें अपने क्षेत्रके शस्यकी रक्षा करनेमें असमर्थ कृषककी भांति सृष्टिकर्ता ब्रह्माभी जीव-शस्य की इस तापसे रक्षा करनेमें असमर्थ हैं। वे भी जानते हैं कि इससे रक्षाका एकमात्र स्थान, शान्ति का एकमात्र निलय मेघवर्ण ठाकुर श्रीकृष्ण एवं उनकी अमृतमय लीलाकथा ही है। "कृष्ण नव जलधर, जगत्शस्य उपर, वरिषये लीलामृत धार।" उससे ही समस्त ज्वालाकी चिर-निवृत्ति सम्भव है। केवल इतना ही नहीं, यह कथामृत विरहतप्तजनोंके लिये सञ्जीवनी-तुल्य और परमानन्ददायक है। तुम्हारी कथा कविकुलके लिये आदर की वस्तु है, यहां तक कि उनका जीवन-धन ही है। वे निरन्तर विशेषरूपसे इसका आस्वादन एवं कीर्तन करते रहते हैं। फलस्वरूप उनके साहित्यके साथ-साथ वे स्वयं भी अमर हो जाते हैं।

तुम्हारे कथामृतकी महिमाका कहां तक वर्णन करें? यह कल्मषापह है अर्थात् समस्त काम या काम-जनित कर्मका यह विनाश कर देती है। यह कलिके समस्त पापों काभी समूल विनाश कर देती है (कलिकल्मषघ्नम्)। यह समस्त पापों का नाश करके परम पवित्रता प्रदान करती है। "वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि" (भा. १०।१।१६)। यह केवल कर्णों एवं मन की ही आनन्द प्रदान करने वाली नहीं है (श्रोत्रमनोऽभिरामात्), किन्तु इस कथामृतका श्रवण परम कल्याण प्रद है। "श्रवणमङ्गलम्"—श्रवणमात्रसे ही कल्याण करने वाली है। तुम स्वयं अप्राकृत कामदेव हो, उसी प्रकार तुम्हारी कथामें भी

अद्भुत आकर्षणी शक्ति है । तुम्हारी कथा तुच्छ-विषयभोगासक्त प्राणियोंके चित्तको आकर्षित करके कृष्णोन्मुख कर देतीं है और इस प्रकार जीवका चरम कल्याण-साधन करती है । स्वर्गसुधा को तो बात ही क्या है, अन्य किसी शास्त्रकी भी एतादृश महिमा नहीं है कि जिसके श्रवण-मात्र से मङ्गल हो जाता हो । शास्त्रों के उपदेश श्रवणकरके तदनुयायी कर्म-करने से ही फलकी प्राप्ति होती है, अन्यथा कोई फल नहीं होता । इन सब कारणोंसे ही तुम्हारा कथामृत श्रीमत्—अर्थात् सौन्दर्य, माधुर्य और सर्वविध श्रेय का अधिकारी है । जगत् में कुछ वस्तुएँ श्रेय-प्रद तो हैं, किन्तु प्रेय नहीं होती, कल्याणप्रद तो हैं किन्तु उनसे मन प्राण शीतल नहीं होते । इसी प्रकार कई वस्तुएँ प्रेय हैं किन्तु श्रेय–प्रद नहीं हैं, सुन्दर, मनोहर हैं, किन्तु कल्यान-विधायक नहीं हैं । तुम्हारा कथामृत अनन्त मङ्गलका भी मूल है, अथच श्रीमत् अर्थात् सर्वसौन्दर्य की भी खनि है । इसीलिये यह भक्त-मात्र की परम आदरणीय एवं प्राणप्रिय वस्तु है । वे स्वर्गसुधा अथवा मोक्षकामना का तो अनायास त्याग कर देते हैं, किन्तु परममाधुर्यमय तुम्हारे कथामृतका एक क्षणके लिये भी त्याग नहीं कर सकते । यथार्थ भक्त वही है, जिसकी श्रीभगवान्में निश्चयात्मका बुद्धि जाग्रत हो गयी है । श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट कहा है—"जिनकी वासुदेव-कथामें निष्ठापूर्ण रति है, उन्हींकी बुद्धि निश्चयात्मिका है (सम्यग्व्यवसिता बुद्धिः) । इसीलिये तुम्हारा कथामृत सर्वोपरि वस्तु है । भक्तजन सर्वदा इसका गायन करते रहते हैं; वे इस कथा के सतत कीर्तन और उसके आनन्द–आस्वादनका लोभ संवरण नहीं कर सकते । इस कथामृतके द्वारा वे जिस अनिर्वचनीय आनन्दका और उसके माधुर्यका उपभोग करते हैं, उसे समस्त प्राणियोंमें वितरण करने हेतु वे सर्वदा प्रयत्नशील रहते हैं । जो इस सर्वपापनाशक, परमानन्ददायक एवं अशेष–कल्याणं विधायक कथामृतका सतत जगद्व्यापी दान करते रहते हैं, उनके समान सर्वश्रेष्ठ दानी इस त्रिभुवनमें अन्य कोई नहीं है, ऐसा कहने में तिलमात्रभी अत्युक्ति नहीं है ।

गोस्वामिपादोंने इस श्लोकमें गोपियोंकी श्लेषोक्ति और व्याजस्तुतिरूपसे कृष्ण कथाके माहात्म्य वर्णन का भी आस्वादन किया है । गोपियां कह रही हैं—"हे प्रिय ! तुम्हारे अदर्शन-हेतु हमारे प्राण कण्ठागत हैं, हमें ऐसा अनुभव हो रहा है कि यदि तुम दर्शन देनेमें एकक्षणका भी विलम्ब करोगे तो अब हमारे लिये धैर्यधारण करना असम्भव हैं । हमारे प्राणधारणका सबसे बड़ी प्रतिबन्धक तुम्हारी कथा ही है । व्रजमें सर्वत्र, यहाँ तक कि पक्षिगण भी तुम्हारी लीलाका गान कर रहे है । इस कथामृतसे अर्थात् कथारूप मृत यानि मृत्युसे निस्तार पाना दुष्कर लग रहा है । इसका कारण यह है कि तुम्हारी कथा "तप्तजीवनम्"—है अर्थात् प्रतिक्षण जीवनको उत्तप्त कर रही है । जीवन शब्दका एक अर्थ जल भी होता है । इसलिये श्लेषकी भाषामें—तुम्हारी कथारूप मृत्यु तप्ततैलादि द्रव पदार्थो के तुल्य है ।" यह कथामृत "कविभिरीडिपम्"—अर्थात् "कविभिः स्तावकैरेव कल्मषापहं यथा स्यात् तथा ईडितम्"—अर्थात् कविगण यानि केवल तुम्हारे प्रशंसक और भक्तगण ही इसे पापनाशक कहकर प्रचार करते रहते हैं । संसाराभिज्ञ निरपेक्ष व्यक्ति ऐसा कुछ नहीं कहते । लोकमुखसे सुना है कि यह 'श्रवणमङ्गलम्" है—अर्थात् श्रवणसे कल्याण की प्राप्ति कराती है । किन्तु यह केवल कहनेमात्र की बात है, कार्यक्षेत्रमें इस कथन की कभी पुष्टि नहीं होती; वरंच हम अपनी दशादेखें तो इससे विपरीत अनुभव ही होता है । इस कथामृत की 'श्रीमत्' बोलकर जो ख्याति है, वह भी उचित प्रतीत नहीं होती, कारण इसमें श्री अर्थात् सौन्दर्यादि एवं तज्जनित निज–जनों का अनादर आदि अहंकार सर्वतोभावे व्याप्त दिखायी दे रहा है । अतएव इस कथनमें अब किसी प्रकार का संशय नहीं है, कि "साक्षात् मृत्यु–तुल्य एवं तप्ततैल–द्रव की भांति तुम्हारे कथामृतका जो सतत कीर्तनादि करते हैं, वे 'भूरिदा' अर्थात् अत्यंत जीव–घाती हैं । कोई कुछ भी कहे, प्रकृत तथ्य केवल वे ही जानते हैं जो तुम्हारे एकान्त निजजन हैं, केवल तुम्हींमें अनन्य–रतिसम्पन्न हैं । आपात दृष्टिमें यह मधुर लगता है किन्तु वस्तुतः यह दुःखद है । "विषामृते एकत्र मिलन ।"— ॥ ७–९ ॥

(२५)

नवम श्लोकके दो प्रकार अर्थ दिखाये गये हैं । प्रथम प्रकारके अर्थ द्वारा श्रीकृष्ण-कथामृत का माहात्म्य वर्णित हुआ है । उसी अर्थको आगे बढाती हुई विरहिणी व्रजाङ्गनाएँ कह रही हैं—"हे परमप्रिय ! यदि तुम कहो कि जब तुम्हारा कथामृत ही इतना मधुमय है तब फिर हमलोग तुम्हारे कथामृतमें ही क्यों नहीं निमज्जित रहती ? दर्शन दो, स्पर्श प्रदान करो—इत्यादि व्याकुलता प्रदर्शन करने वाली इतनी सब बातोंकी क्या आवश्यकता है ? तुम अत्यन्त दुर्लभ हो जानकर भी तुम्हारे प्रति इतना अनुराग प्रदर्शित क्यों कर रही हैं ? कथामृत-श्रवण से संतुष्ट क्यों नहीं रहती ? ये सभी युक्तियां तुम दे सकते हो । किन्तु इन सबका कारण भी सुन लो । हम जो केवल तुम्हारे कथामृत-श्रवणसे सन्तुष्ट नहीं हो पा रही हैं, इसका कारण भी तुम्हारा पूर्व-रागमय चरित्र ही है ।" इन श्लोकोंमें श्रीकृष्णके पूर्वरागमय चरित्रके ऊपर दोषारोपण किया गया है । प्रियसंगलाभसे पूर्व परस्परके गुण-कथाश्रवण या दर्शनादि-हेतु कान्त और कान्ताके मध्यमें जिस अनुरागमय मनोभाव की सृष्टि होती है, उसे पूर्व-राग कहा जाता है । किन्तु श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका यह दोषारोपण असूया-जनित नहीं है । यह तो कृष्णानुरागिणी गोपियोंके सुगभीर-कृष्णप्रेम सञ्जात सञ्चारी भाव से उत्पन्न हुआ है । वे कहने लगीं—"तुम्हारा कथामृत सर्वविधतापनिवारक अवश्य है,

किन्तु यह सब पर एक-सा प्रभाव नहीं करता। जिन्होंने तुम्हें कभी न देखा हो, तुम्हारे कण्ठ-निःसृत मधुमय वाणी कभी न सुनी हो, तुम्हारी विचित्र विलास भङ्गी-दर्शनसे जिनके मनसे तुम्हारी मिलनाशा जागृत नहीं हुयी हो, केवल वे ही तुम्हारे कथामृतके सहारे जीवनयापन कर सकते हैं। किन्तु हमारे लिये ऐसा कर पाना इसलिये सम्भव नहीं है, क्योंकि हमने जो प्राप्त किया वह अतुलनीय है। तुमने हमें नाना प्रकारकी आशाओंसे प्रलुब्ध करके हमारे चित्तमें जिस व्याकुलताका सञ्चार किया है, उसके कारण हमें तुम्हारा एक-एक क्षणका अदर्शन भी असह्य है। तुम्हारी चलन-भङ्गी, कथन-भङ्गी, अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके हाव-भाव–सभी हमारे नेत्रोंमें मधुमय होकर समा गये हैं। हमने सलज्ज नयनोंसे अत्यन्त दूरसे भी तुम्हारे स्वाभाविक मधुर हास्यका दर्शन किया है, जिससे हमें अनुभव हुआ है कि हमारे प्रति तुम्हारे हृदयमें कितना प्रेम भरा हुआ है। तुम्हारे अनुरागपूर्ण कटाक्षोंसे हमारा मन अवश हो जाता और हम सर्वप्रकारकी लज्जा, धैर्य, धर्म, कुल-शीलका भय त्यागकर स्वेच्छासे चिरकालके लिये तुम्हारे चरणोंकी दासी बननेके लिये विवश हो जाती। अपने सखाओंके साथ तुम्हारे गोष्ठ-विहार-लीलाके नित्य दर्शन करके हमारे नेत्र सार्थक हो गये हैं। तुम्हारे ध्यानमङ्गलकर विचित्र लीला-विहारके चिन्तन मात्रसे हृदयमें तुम्हें प्राप्त करनेकी लालसा बलवती हो जाती है। तुम अपने वेणुके स्वरसे जो हृदयस्पर्शी गुप्त इंगित पूर्ण परिहास्य-वाणी दूरसे ही व्यक्त करते, उसे श्रवण करके हम मुग्ध हो गयी हैं। इन सब प्रत्यक्ष अनुभूतिकी स्मृति हमारे चित्त-पटल पर सर्वदा जाग्रत रहने-हेतु हम अत्यन्त व्याकुल हो जाती हैं और हमारे मन-प्राणोंमें तुम्हारे साक्षात् दर्शनकी प्रबल लालसा जाग्रत हो जाती है। केवल कथामृत श्रवण द्वारा यह पिपासा शान्त नहीं होती। हे कपटी! एकमात्र तुम ही हमारे प्रिय हो और इसीलिये हम निरंतर मनोवेदनासे कष्ट पा रही हैं। इधर तुम हमारे साथ वंचना करने पर तुले हुये लगते हो। हम पूर्वमें यह कभी नहीं समझ पायीं कि तुम्हारे उस मधुर प्रेमपूर्ण आलाप एवं प्रेम व्यवहारमें कपटता छिपी हुयी थी। यदि हमें पूर्वमें इसका आभास भी हो जाता तो हम तुम्हारे मृदुहास्य, मिलन-संकेत और नर्मालापकी तरफ भ्रूक्षेप भी नहीं करतीं। यदि ऐसा किया होता तब शायद आज तुम्हारे कथामृत मात्रका पान करके परमसुख-पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकतीं। किन्तु हाय! अब उस बीती बातका क्या उपाय हो? आज तो हम बुद्धि-हीन, दिशाहीन, धैर्यहीन होकर पूर्णतया पागल ही हो गयी हैं। यदि तुम हमें अब अविलम्ब दर्शन नहीं दोगे तो इस संतप्त देहसे प्राणवायु निःसृत होनेमें क्षणभर भी नहीं लगेगा"।

गोपियोंका चित्त श्रीकृष्णके प्रति निरतिशय प्रेमार्द्र है। प्रेमके साधारण नियमानुसार ही उनका मन अपने प्रियतमकी अमङ्गल आशंकासे सर्वदा उद्विग्न रहता है। प्रियके मङ्गलविधान-हेतु उनका चित्त निरन्तर भावनायुक्त और अशान्त बना रहता है। मिलनकाल हो या विरहकाल–उनके अन्तरमें सर्वदा क्षोभका उद्रेक होता रहता है। कपटाचारीके फंदेमें पड़ने-हेतु ही उनकी यह दुर्गति हो रही है। एकादश एवं द्वादश श्लोकोंमें विशेषतः यही बात कही गयी है, तन्मध्ये एकादश श्लोकमें विरह-कालीन चित्तक्षोभका वर्णन हुआ है।

"हे नाथ! पूर्वाह्नमें तुम सखाओंसे परिवेष्टित होकर धेनु-वत्सोंको चरानेके लिये व्रजसे गमन करते हो और दिनभर वनमें गोष्ठचारण करते हो। तुम्हारे अधिकारक्षेत्रमें पशुओंके अनेक झुण्ड रहते हैं, अतः उन्हें व्यवस्थित रखने-हेतु तुम्हें गमन-पथ परित्याग करके वनमें भी इतस्ततः विचरण करना होता है। इस कार्यमें तुम्हारे चरणोंमें न जाने कितने शिल-तृणांकुर विद्ध होते होंगे। गोष्ठचारणके आनन्दमें सम्भव है तुम तो इधर भ्रूक्षेप भी नहीं करते, किन्तु हम किस दशामें दिनयापन करती हैं, तुमने कभी इसपर भी विचार किया है क्या? तुम्हारे अ-दर्शन-हेतु व्रजमें तो अंधकार ही छा जाता है। हम ऐसे कारागारमें रहती हैं, जहां तुम्हारी बात करना भी निषिद्ध है। तब हमारे मनमें केवल ही तुम्हारे कुसुमकलीसे भी सुकोमल चरण-पद्मोंकी स्मृति उदित होती है। व्रजकी कठोर मिट्टी, कंकर एवं कांटोसे तुम्हारे चरणोंमें कितनी वेदना होती होगी, यह सोच-सोचकर हमारा चित्त धैर्यधारण करनेमें किसीभी प्रकारसे समर्थ नहीं होता। हमारी हार्दिक इच्छा होती है कि हम सारे व्रजवनमें हमारे हृदय बिछा दें, जिससे हृदयपर व्रजनाथका नित्य विलास होता रहे। किन्तु इन भाग्यहीनाओंको ऐसा सौभाग्य कब प्राप्त होगा? तुम कह सकते हो कि यदि मेरे चरणोंमें क्लेश हो रहा है, इसी भावना-हेतु तुम्हें कष्ट हो रहा है, तो तुम इस भावनाको ही मनसे निकाल दो। किन्तु कहना ही सहज है, हम अनेक प्रयत्न करके भी इस भावनासे मुक्त नहीं हो पा रही हैं; कारण एक ही है—हम तो तुम्हारे प्रमके फंदेमें आकण्ठ फंस चुकी हैं। कहावत है—"प्रीतिका सम्बंध जितना प्रबल होगा, हृदयमें शैलभी उतने ही अधिक गहरे बिंधेगे।" तब तुम यह युक्ति भी दे सकते हो कि यदि प्रीति इतनी-ही दोषावह है, तो इस प्रीतिका ही परित्याग कर दो। किन्तु हम क्या करें, हमारा मन 'कलिलता'को प्राप्त हो रहा है। विवेक बुद्धिकी वृत्ति है और मन है सङ्कल्पविकल्पात्मक, इसीलिये हमारा मन विवेकका उपदेश ग्रहण नहीं कर पाता। मन हमारा ही है, किसी अन्यका नहीं है; यह बात सत्य है, किन्तु बेचारे मनका भी तो कोई दोष नहीं है कारण तुम ठहरे कान्तमनोहर। इस मनका तुमने ही हरण जो कर लिया है। अतएव तुम हमारे लिये इस मृत्युतुल्य क्लेशप्रद गोष्ठभ्रमणका त्याग करके अविलम्ब प्रकट होवो।

हे वीर! तुम्हारे अनन्य साधारण वीरत्वका परिचय तो हमें नित्य ही प्राप्त हो रहा है। कुलवधुओंका धर्मनाश करनेमें अथवा उन्हें अपने कामबाणोंसे घायल करनेमें इस विश्वमें तुम्हारी समताका अन्य वीर नहीं है। पूर्वाह्नमें जब तुम गौ-चारण हेतु वनमें चले जाते हो तब हम दिनभर तुम्हारी विरह-ज्वालामें जलती रहती हैं, गृहकार्य, सतीत्व धर्म भूलकर सतत तुम्हारे चिन्तनमें मग्न रहती हैं। गोधूलि वेलामें जब तुम्हारा अपने सखा एवं गायों सहित पुनः व्रजमें आनेका समय होता है, तब हम तुम्हारी रूपमाधुरीके पानकी लालसामें व्याकुल होकर निरन्तर तुम्हारे प्रत्यागमन-पथकी दिशामें निर्निमेष दृष्टिसे नीहारती रहती हैं। दिनान्तमें तुम्हारे इस क्षणिक दर्शनसे ही हम आनन्दसागरमें डूब जाती हैं। उस भुवनमोहन रूपकी माधुरीका क्या वर्णन करें? दिनभर धेनुओंके पीछे इधर-उधर गमन करने हेतु तुम्हारे चूड़ामण्डित कुञ्चित केशदाम स्खलित होकर कपालके ऊपर आ जाते हैं और मृदुपवनसे सञ्चरित होते रहते हैं। ऐसा लगता है मानो एक प्रस्फुटित नीलपद्मके ऊपर मधुपान-हेतु भ्रमरकुल आकुल होकर उड़ रहे हैं। गोक्षुरोत्थितः व्रजरज तुम्हारे नीलकुन्तलयुक्त वदनपर अपना सूक्ष्म लेप कर देती है, जिससे वदन-मण्डल दिव्य-श्री-मण्डित हो जाता है। तुम्हारा असमोर्ध्वरूप स्वभावतः ही परम सुन्दर है, इसीलिये ऐसा लगता है। देखकर लगता है मानो पद्म-परागसे तुम्हारा श्रीमुख आच्छादित हो रहा है। ऐसे शोभामय मुख-पद्मके दर्शनसे हृदयमें तीव्र स्मर-व्यथाका उदय होगा—इसमें आश्चर्य क्या है?

सम्पूर्ण दिवसकाल तुम्हारे अदर्शन-हेतु विरह-ज्वाला भोग करते हुये व्यतीत होता है। फिर संध्याकाल अर्थात् कामोदयका मुहुर्त्त उपस्थित होता है। तुम्हारे क्षणिक दर्शनसे ही हृदयमें तीव्र मिलन-लालसाका उदय होता है। उस समय तुम हमें कन्दर्प-शरोंसे घायल करके विवश करने हेतु इच्छापूर्वक नाना छलोंसे पुनः पुनः हमारे नेत्रोंके समक्ष अपना परम सुन्दर मुखकमल प्रकट करते हो। ऐसा करके तुम हमारे हृदयमें केवल स्मर-वेदना ही अर्पण करते हो, किन्तु संग-दान द्वारा उस वेदनाका उपशम करके हमें कृतार्थ नहीं करते। इसीलिये तो हम कहती हैं कि हम सरलचित्तसे तुम्हें प्रेम करती हैं इससे क्या लाभ हुआ, तुम तो हमारे साथ नितांत कपटपूर्ण व्यवहार ही करते हो। तुम्हारी अङ्ग-भङ्गिमाके स्मरणमात्रसे हम काम-विवश हो जाती हैं। इसलिये तुम्हारे साक्षात् दर्शनसे हमारी क्या दशा होगी, उसके विषयमें क्या कहें? तुम्हारा अदर्शन और दर्शन—दोनों ही समान हैं। या तो विरहज्वाला होगी अथवा कन्दर्प-ज्वाला होगी। हे वीर! लगता है तुम्हारा सारा वीरत्व इसी विषय तक सीमित है। व्रजमें तुम्हारा गोप-वेष दर्शन करके ही जब हम अपने आपको खो बैठती हैं, तब इस निर्जनवनमें रात्रिकालमें तुम्हारा परम-मोहन नागर-वेष देखकर एवं प्रेमालिङ्गन प्रणय-दृष्टि प्रभृतिका उपभोग करनेके पश्चात तुम्हें खोनेपर हमारी कैसी दुर्दशा होगी, इसका वर्णन करने योग्य भाषा हमारे पास नहीं है॥ १०-१२॥

(२६)

गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति प्रणय स्वाभाविक था और कुछक्षण पूर्वभी उन्हें यमुना पुलिनपर श्रीकृष्ण का अङ्गसङ्ग प्राप्त हो चुका था। अतः श्रीकृष्णके प्रति प्रगाढ़-अनुरागवश और अङ्गसंगसे हठात् वंचित होजाने-हेतु वे अनुक्षण अनङ्गशरसे विद्ध होकर व्यथित हो रही थीं। इन दोश्लोकोंमें कामतप्त गोपियां अपने धैर्य-लज्जा-आदि भूषणोंका परित्याग करके श्रीकृष्ण से अपनी कपटता त्यागकर उन्हें अपने अङ्ग-संगजनित आनन्दका दान प्रदान करने हेतु प्रार्थना कर रही हैं। "हे रमण! हे मनोदुःख हारि (आधिहन्)! तुम तो सतत सर्वप्रकारके दुःखोंका ही विनाश करने वाले हो। व्रजमें जब भी कोई कष्ट—भलेही वह दावानल-हेतु हो, असुरोंके आक्रमण-हेतु हो अथवा कुपित इन्द्रके वज्रवर्षापात हेतु हो, उपस्थित हुआ तुमने तत्क्षणात् उसे विदूरित करके अपने प्रिय व्रजजनोंका आनन्द-विधान किया है। आज हम दावानलसे भी अति भयंकर विरहानलसे दग्ध होकर मर रही हैं। हे नाथ! अब विलम्ब मत करो और प्रकट होकर अपने सुशीतल श्रीचरणपद्म हमारे इन ताप दग्ध वक्षों पर अर्पण करो, जिससे यह असह्य ज्वाला शांत हो सके। हे रमण! तुम आनन्दस्वरूप हो, तुम्हारे स्वरूप का स्वाभाविक कार्य ही है आनन्द प्रदान करना। हे अनङ्गवर्धक! अपनी विचित्र लीलाविलासों के द्वारा हमारा सुख-सम्पादन करो।

तुम्हारे श्रीचरण सर्वार्थसाधक हैं, प्रणत जनोंकी सर्वविध अभिलाषा पूर्ण करने वाले हैं, अतः ये अपने प्रियजनोंके हृदयसे अन्यपूजा, अन्यध्यान, अन्य अभिलाषा आदिका मूलोच्छेद करके समस्त कामनाओंके सार परम धन प्रेम का ही दान करते हैं। "सेइत परमफल परम पुरुषार्थ। यार आगे तृणतुल्य चारि पुरुषार्थ॥" इसके अतिरिक्त ये श्रीचरण अपने आश्रित जनोंको परम सुख प्रदान करनेवाले हैं। ये पद्मयोनि ब्रह्माके लिये नित्य अर्चना की वस्तु हैं एवं ब्रह्माकी प्रार्थना-हेतु ही आपका इस धरा पर अवतरण हुआ है। गोवत्सों और गोपबालकोंके अपहरणरूपी अपराध की मार्जना-हेतु ब्रह्माने तुम्हारी सुन्दर स्तुति की थी। हम भी तुम्हारे श्रीचरणों की अपराधिनी हैं। हम सौभाग्यमदसे मत्त और गर्वसे अन्ध हो जानेके कारण ही तुम्हें एकबार प्राप्त करके भी पुनः खो बैठीं। अब हम तुम्हारे श्रीचरणों की शरणागत होकर तुम्हारी स्तुति कर रही हैं। हमारे इस गुरुतर अपराधको क्षमा करके हमारी अभिलाषा पूर्ण करो। ब्रह्मार्चित तुम्हारे इन पादपद्मों की शोभा अवर्णनीय है। धरणीदेवी तुम्हारे इन ध्वजवज्राङ्कुशादिभूषित रक्तिम चरणोंको अत्यंत आदरसहित अपने वक्षपर धारण करती हैं; कारण

उनके विचारमें इतनी शोभा किसी अन्य अलंकारके धारणसे भी नहीं हो सकती। सर्व प्रकार की आपद विपदमें तुम्हारे पाद-पद्म ही परमध्यान की वस्तु हैं: ये कल्याण-पथ की समस्त बाधाओं को हटादेते हैं और परम श्रेयकी प्राप्ति करा देते हैं। तुम्हारे इन युगल चरणों का ध्यान करनेसे, पूजा करनेसे, सेवा करने से या वक्षपर धारण करनेसे—सर्व कार्योंसे सुख प्राप्त होता है। अत एव हमारी विरह-वेदना दूर करके रति-सुख प्रदान करने हेतु अपना महामाधुर्यमण्डित श्रीचरण हमारे स्तनोपरि एकबार स्थापन करदो।"

व्रजाङ्गनाएँ कहने लगीं—"हे वीर! तुम वस्तुतः ही दान-वीर हो कारण तुम दानमें कुण्ठा, कार्पण्य या अक्षमताका प्रदर्शन नहीं करते। तुमने तो पूतना को भी वैकुण्ठगति प्रदान कर दी। तुम हतारिगतिदायक हो। हमें अपने अधरामृत का स्पर्शदान दो जिससे हमारा शोक, ताप और विरहज्वर दूर हो जाय। यह सम्पद् तो तुम्हारी नितान्त निजस्व है और दान करनेसे भी कोई यह घटती नहीं। तुम्हारा अधरामृत सुतरवर्धक है कारण उससे प्रेमपूर्ण सम्भोगेच्छाकी विशेष रूपसे वृद्धि होती है। तुम्हारा अधरामृत शोकनाशक भी है, इससे तुम्हारे अप्राप्ति-जन्य दुःखानुभवका समूल विनाश होता है। यह मनुष्योंकी इतर रागका विस्मारक भी है। तुम्हारे अधरामृतका आस्वादन प्राप्त करनेके बाद विषय सुख-लालसा कौन मूर्ख करेगा? अर्थात् कोई भी नहीं करता। कारण इससे समस्त विषयोंके प्रति अनुराग, सार्वभौम राज्यसुख, स्वर्गसुख, यहां तक कि ब्रह्मानन्द-वासना की भी विस्मृति हो जाती है। जब तुम्हारा अधरामृत पुरुषोंकी भी अन्य-वासना भुला सकता है तब फिर स्वभाव चंचल नारियों की अन्यविषय वासना अर्थात् धर्म-लज्जा-शीलकुल-मानादिके प्रति अनुराग को विस्मृत करा देगा, इसमें क्याआश्चर्य है?

अधरामृत अर्थात् तुम्हारा अधर ही अमृत है यह पुरुषोंकी अन्यआसक्ति का नाश कर देता है इसका प्रमाण है 'स्वरित वेणुना' शब्दमें। वेणुका पुरुषरूप ही प्रसिद्ध है। स्वरितवेणु अर्थात् नादयुक्त वेणु जब एकबार तुम्हारे अधरामृत का स्पर्श पाजाता है तब सब कुछ भूलकर केवल तुम्हारे ओष्ठोंका ही चुम्बन करता रहता है। पुरुषोंके पक्षमें तुम्हारा अधरामृत अर्थात् चर्वित-ताम्बूलादिका दान विशेष कृपाका प्रकाशक है। चर्वित ताम्बूल तुम्हारे अधर-रससे परिपूण होता है। अधरामृत-पदसे अधर और अधर-रस का अभेदभाव सूचित होता है। सुतरां 'सुरतवर्धन, शोकनाशन और इतररागविस्मारक'—अधरामृतके इन तीन विशेषणोंसे यही सूचित होता हैं कि अधर ही अधर-प्राप्तिकी वासना वर्धित करता है, उस वासनाके अतिरिक्त अन्य दुःखों का नाश करता है एवं विषयान्तरमें अभिनिवेश को भुला देता हैं। इससे यह प्रतिपादित होता है कि अधर ही परम-पुरुषार्थ है।

स्वरितवेणु द्वारा अधरामृतका मादकत्वभी प्रमाणित होता है। वेणुद्वारा पुनः पुनः अधररूप अमृतका अचुम्बन और अधररूप अमृत उसवेणुद्वारा पुनः पुनः गान कर रहा हैं। सुतरां एतद्-द्वारा काष्ठमय नीरस वेणुका पूर्वस्वभावत्याग अर्थात् उसका वैजात्य अभिव्यक्त हो रहा है। उस वेणुका स्वर समग्र जगत् को उन्मत्त कर देता है। अपने अधरामृतके गुण श्रवण करो—

तनु मन करे क्षोभ, बाड़ाय सुरत लोभ, हर्षशोकादि भाव विनाशय।
पासराय अन्य रस, जगत् को आत्मवश, लज्जा, धर्म, धैर्य करे क्षय॥

तुम्हारे श्रीचरणों की अनन्या दासी हमलोग केवल तुम्हारे उस माधुर्य की प्यासी हैं। हमें इस माधुर्यका सामान्य दान देकर तृप्त करो, धन्य करो। हे दाता श्रेष्ठ! अब अपने अधरामृतके अविलम्ब दानमें कार्पण्य मत दिखाओ।"

गोपियां करुण-स्वरमें पुकारने लगीं—"हे प्रिय! तुम्हारा क्षणकाल का अदर्शन भी कितना दुःसह दुःखदायी है और तुम्हारा दर्शन कितना आनन्दप्रद है—यह भलीभांति जानकर ही हम सर्वप्रकारका संग त्यागकरके तुम्हारे समीप आयी हैं, अथ च तुम हमारा परिहार करने पर ही तुले हुए प्रतीत हो रहे हो। जब तुम दिनभर ब्रजके वन-प्रदेशमें क्रीड़ा करते हुये भ्रमण करते रहते हो, तब तुम्हारे अदर्शनका आधा क्षण भी हमें युगके समान प्रतीत होता है, दुःखका वह काल मानो किसी भी प्रकार से समाप्त ही नहीं होता। जब संध्या समय तुम वनसे ब्रजमें लौटते हो तब केवल हमारे नयन ही नहीं, समस्त ब्रजजनों के नयन तुम्हारे रूप-दर्शनकी लालसामें व्याकुल होकर तुम्हारे आगमन-पथको निर्निमेष नीहारते रहते हैं।

तुम्हारे परमसुन्दर मुखमण्डलपर कुटिल कुन्तलराजि शोभा पा रही होती है, अतः श्रीमुखका पूर्णरूपसे सम्यक् दर्शन नहीं हो पाता। हमारे दुर्भाग्यकी भी कोई सीमा नहीं कारण हमारे लिये तुम्हारे अदर्शन और दर्शन उभय ही कष्टप्रद हैं। जितना-सा दर्शन होता भी है तो वह निर्निमेष नयनों से नहीं हो पाता कारण हमारे नितांत अरसिक और अविवेचक सृष्टिकर्ताने चक्षुओं में दर्शनमें बाधादेनेवाली पलकों की सृष्टि की है। यदि पलक नहीं होते तो हम अपलक नयनोंसे तुम्हारी रूपराशिका उपभोग कर पाती। इससे निः सन्देह विधाता की जड़बुद्धि एवं उत्तम-अनुत्तम विचार शून्यता की ही परिचय मिलता है। जो

तुम्हारे सौन्दर्य माधुर्यके घनीभूत विग्रह मुखचन्द्र का दर्शन करना चाहते हैं, विधाताने उन्हें कोटि–नयन न देकर केवल दो ही नयन दिये आर उनमें भी फिर निमेषरूप आच्छादनकी सृष्टि कर दी। विधाताके इससे अधिक अविचार का निदर्शन और क्या होगा ?

ये देखिवे कृष्णानन, तार करे द्विनयन, विधि है या हेन अविचार।
मोर बोल यदि धर, कोटि आँखि तार कर, तबे जानि योग्य सृष्टि तार ॥

तुम्हारे दर्शन-कालमें एक निमेष का व्यवधान भीं असह्य प्रतीत होता है। उस एक निमेषमें युग-युगकी विरह-वेदना विकराल रूपसे उपस्थित हो जाती है। और समग्र मन–प्राण को मथित कर देती है। अतएव हे नाथ ! तुम्हारा अ-दर्शनदुःख बिलम्ब–हेतु असह्य हो रहा है, कृपया अविलम्ब दर्शन देकर कृतार्थ करो। ॥ १३–१५ ॥

(२७)

श्रीकृष्णकी वंशीतानसे आकृष्ट होकर गोपियां जब वनकी दिशामें दौड़ पड़ी थीं, तब कुछ गोपियां जो अपने गृहोंके अति अभ्यन्तर स्थित प्रकोष्ठोंमें थी, उनके गमनमें उनके स्वजनोंने प्रबल बाधामें उपस्थित कर दी थीं। वे गोपियां अपनी गुणमय देह त्याग करके शुद्ध गुणातीत सिद्धदेहसे श्रीगोविन्दके पाद-पद्मोंमें पहुंच गयी थी। ये गोपियां अत्यन्त अभिमानपूर्ण स्वरमें कहने लगीं—"हे अच्युत ! तुम तो कभी भी अपने निज स्वरूपसे च्युत नहीं हुआ करते और तुम अत्यन्त करुणासिन्धु भी हो। अतः अच्युतमें भी करुणाकी विच्युतिका आविर्भाव उचित नहीं है। फिर तुम आज अपने करुणाघनस्वरूप च्युत क्यों हो रहे हो ? हमें अपने-अपने घरोंसे बाहर निकालकर इस रात्रिकालमें वनमें बुलाकर फिर परित्याग कर देना तुम्हारे लिये शोभाजनक कार्य नहीं है। इस प्रकारका निष्ठुर आचरण तो केवल शठ अर्थात् दुष्ट एवं कपटी मनुष्य ही किया करते हैं।

हमारे आगमनका कारण भी तुमसे अज्ञात नहीं है। हम यहां स्वेच्छासे नहीं आयी हैं, किन्तु तुम्हारे मनोहर वेणु-गीतसे आकृष्ट होकर यहां आयी हैं। पति, पुत्र, सुहृद्, स्वजन–सभीने हमारे मार्गमें प्रबल बाधायें उत्पन्नकी किन्तु हम उनके समस्त निषेधवाक्यों पर कर्णपात किये विना ही सबका उल्लंघन करके यहाँ आयी हैं। आगमनका मूल हेतु तुम्हारी मोहन मुरली है। व्याधके वंशीगान पर मुग्ध होकर जिस प्रकार हरिणी विपदमें पतित होती है, उसी प्रकार हम भी तुम्हारी वंशीकी उच्चतान पर मंत्रमुग्ध-सी मोहित होकर दौड़ती हुयी तुम्हारे समीप आ गयी हैं। तुम गतिविद् हो अतः तुमने जानबूझकर ही मुरली पर उच्च आलापन किया है। तुम अच्छी तरह जानते थे कि तुम्हारी वंशीतान पर आकृष्ट होकर हम तुम्हारे समीप खिचीं चली आयेंगी। गानकी गति अर्थात् स्वरालापका तुम्हें विशेष ज्ञान है, इसीलिये तुम्हारी वंशीध्वनि श्रवण करके देवराज इन्द्र, ब्रह्मा एवं महेश भी मुग्ध हो जाते हैं।

तुम कह सकते हो—"तुम लोग भी तो सुचतुर हो एवं मेरे इस प्रकारके स्वभावसे भलीभांति परिचित हो, तब फिर सतर्क क्यों नहीं हो गयी ?" इसका सीधासा हमारा उत्तर हैं—"गतिविदोऽपि वयम्" अर्थात् तुम्हारा स्वभाव और गति जानती हुयी भी हम आयी हैं कारण तुम्हारा गान मोहनमंत्रसे परिपूर्ण है। चलो, हम स्वीकार भी कर लेती हैं कि तुमने जो किया वह अच्छा ही किया, किन्तु जरा यह तो बताओ कि ऐसा कौन पुरुष होगा जो रात्रिकालमें अनुरागमयी रमणियोंको स्वयं बुलाकर भी फिर उनका वनमें परित्याग कर देगा। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि तुम कपटी एवं वंचक हो। अरे, तुम तो कपटी पुरुषोंमें भी शिरोमणि हो, अन्यथा ऐसा कौन होगा जो कपटता पूर्वक इच्छित वस्तु प्राप्त करके भी फिर उसे अवज्ञापूर्वक परित्याग कर दे ? हम इस बातको भी अवश्य स्वीकार करती हैं कि अन्यान्य कपटीयोंसे भी तुम्हारे कपटाचरणमें विशेष चमत्कारित्व है। हे अच्युत ! हे स्वगणादव्यभिचारिन् (अपने निजगुणोंसे तिलमात्र भी विच्युत नहीं होने वाले) ! तुम्हारे कपटता प्रभृति निजगुणोंसे श्री विच्युति भी कदापि दृष्टिगोचर नहीं होती; अतः तुम्हारा अच्युत नाम वृथा नहीं है। इस नामको भी तुमने सविशेषरूपसे सार्थक किया है। हे श्यामसुन्दर, तुम केवल कितव ही नहीं शठ-चूड़ामणि हो !

विततगीतिकाजालसन्दिताः स्वकजनानतिक्रम्य चार्दिताः।
करमिता महारण्यभृद्दिशिच्छलमयः स्त्रियः कस्त्यजेन्निशि ॥ (गोपालचम्पू २१।१५)

हम तुम्हारे मधुर वेणुगीत रूपी जालमें फंस गयी हैं। माता-पिता, आत्मीय-स्वजनोंका अतिक्रम करके तुम्हारे समीप आयी एवं तिरस्कृत होकर व्यथित हो रही हैं। तुम्हारे समान ऐसा कपटी कौन होगा जो रात्रिकालमें रमणियोंको बुलाकर उनका त्याग करे ?

कात्यायनीव्रतपरायणा गोपकुमारिकायें कह रही हैं—"हे प्रिय ! सुननेमें आया था कि कामदेवके पास पांच शर हैं, किन्तु हम नहीं जानती कि वे कैसे हैं। किन्तु श्रृङ्गाररसराजमूर्तिधर तुम्हारे मोहन अङ्गोंकी जो पांच निरुपम अभिव्यक्ति हैं,

वे हमारे कठोर हृदयको भी विदीर्ण कर रही हैं। वे अभिव्यक्तियां हमारे चित्तमें तुम्हारे लिये अत्यन्त स्पृहा जाग्रत करके हमें मोहग्रस्त कर रही हैं। यह कठिन हृदय रोग तुम्हारे संग-लाभ विना उपशम होनेवाला भी नहीं है।

नायकके चित्तमें कामका उदय होने पर वह अनुरागवती नायिकाओंके प्रेमभावको उद्दीपित करता है। हे प्रियतम! तुम्हारे कामोदय-दर्शनसे हमारा मन अत्यन्त स्पृहावशतः पुनः पुनः मोहदशाको प्राप्त हो रहा है। किस प्रकारका कामोदय?— "रहसि संविदम्"—अर्थात् जिसमें निर्जनस्थानमें संकेतपूर्ण नर्मोक्ति हो तुमने हमें उद्देश्य करके वंशीतानमें विविध प्रकारकी संकेतपूर्ण नर्मोक्तियांका समावेश किया था। प्रेम हेतु तुम्हारा श्रीमुख सहज ही मनोहर-हास्य युक्त है और तुम्हारी दृष्टि सतृष्ण है। कात्यायनी व्रतके उद्यापनदिवस पर तुमने कालिन्दीके निर्जनतट पर मधुर-मिलन की आशा जाग्रत करनेवाला प्रतिज्ञा-वाक्य कहा था निर्जन स्थानमें तुम्हारे परिहासपूर्ण प्रणय-आलाप, तुम्हारे मुखपद्मका प्रेमप्रकाशक मृदु-मधुर हास्य, तुम्हारे नयनयुगलोंकी चपल चितवन और एवं सर्वोपरि श्रीलक्ष्मी देवीका नित्य निवासस्थल तुम्हारा सुविशाल एव सर्वशोभास्पद आयत वक्ष—इन सबका दर्शन करके हमारे हृदयमें तुम्हारे सङ्गसुखकी प्रबल स्पृहा उत्पन्न हो रही है और तद् हेतु हम क्षण-क्षणमें मोहाविष्ट हो रही हैं॥ १६–१७॥

(२८)

अत्यन्त वेदना एवं आर्तिपूर्ण प्रार्थनागीतिके उपसंहारमें श्रीराधाजी कह रहीं हैं—"हे प्राणप्रियतम! हम तुम्हारे दर्शनोंकी इच्छासे वन-वनमें भटक रही हैं और तुम हमें दर्शन नहीं देना चाहते इसीलिये वनसे वनान्तरमें प्रवेश कर रहे हो" श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमयी श्रीराधा विचार कर रही हैं, कि हम इतनी देर तक प्रियतमकी आन्तरिक भावनाको समझ नहीं पायीं। अतः श्रीराधा कहने लगीं—"हे प्रिय! हमने इतनी देर तक तुम्हारा अनुसंधान करने हेतु तुम्हारा पश्चात्-गमन करके तुम्हें निरर्थक इतना क्लेश पहुंचाया यदि तुम दर्शन नहीं देना चाहते तो भी यह उत्तम बात है; हम अब तुम्हारे दर्शन हेतु प्रयत्न नहीं करेंगी किन्तु हमारी एक बात सुन लो। हमें दर्शन नहीं देनेके अभिप्रायसे तुम इस गहन रात्रिकालमें जो वनसे वनान्तरमें इतस्ततः द्रुतगतिसे भ्रमण कर रहे हो, ऐसा मत करो।"

सम्भव है श्रीकृष्ण सम्प्रति यमुनापुलिनके उपरिभागस्थ तीक्ष्ण-शिलापूर्ण भागमें पर्यटन कर रहे हैं, ऐसा अनुमान करके श्रीराधारानी कह रही हैं "तुम्हारे पद्मसे भी सुकोमल श्रीचरणोंमें तीक्ष्ण सूक्ष्म शिलाखण्ड विद्ध होने-हेतु निश्चय ही तुम्हें अत्यन्त वेदना हो रही होगी। इसके विचारमात्रसे हमारा हृदय कम्पायमान हो रहा है चरणपद्मोंके लिये 'सुजात' विशेषणका प्रयोग करके उनकी अधिकतर कोमलताका स्मरण करा रहे हैं। तुम्हारे कुसुमकलीसे भी कोमलतर श्रीचरणोंका हम सहसा वक्षपर धारण करनेमें भी हिचकती हैं। भीतिवश हम उन्हें अपने कठोर वक्ष पर अत्यन्त सावधानीसे धीरे-धीरे धारण करती हैं जिससे तुम्हारे सुकोमल श्रीचरणोंको व्यथा न हो। हमारे वक्षस्थलपर चरणदानसे तुम्हें आनन्द प्राप्त होता है, यह जानकर ही हम उन्हें अत्यन्त धीरेसे सन्तर्पण सहित अपने वक्षपर धारण करती हैं।" वस्तुतः यह आशंका अमूलक एवं निराधार है, कारण श्रीवृन्दादेवीके प्रयत्न स्वरूप एवं श्रीवृन्दावनके अप्राकृत दिव्यमाधुर्यहेतु यहांकी भूमिपर कष्टप्रद कूर्पादि (कंकड़) रहनेकी कोई सम्भावना ही नहीं थी। तथापि प्रेमपूर्ण राधा-हृदय सर्वदा ही प्रियके अनिष्ट-आशकासे शंकित रहता हैं (अनिष्टाशङ्कीनि बन्धुहृदयानि भवन्ति)।

इस रात्रिकालमें तुम अपने एतादृश सुकोमलचरणोंसे वन-वनमें भ्रमण कर रहे हो, यह सोचकर ही हमारी बुद्धि भ्रमित हो रही है। तुम्हारे अदर्शन जनित दुःखकी अपेक्षाभी हमें तुम्हारे श्रीचरणों में वेदना-की आशंकाजनित दुःख सहस्र-गुणा अधिक है। इतने अधिक दुःखके होते हुएभी हमारे प्राण निकल नहीं रहे हैं, इसका कारण बता देती हैं। एक अन्य भावनाकी तरंगसे हमें कुछ सान्त्वना प्राप्त होती है। हम सोचती हैं, सम्भव है तुम्हारे उन सुकोमल चरणोंमें हमारी आशंकाके अनुरूप व्यथा नहीं होती, कारण या तो तुम्हारे चरण पूर्ववत् उतने कोमल ही नहीं रहे क्योंकि हमारे कठोर वक्षों के स्पर्शसे वे भी कठोर होगये हैं। अथवा यह भी सम्भव है कि तुम्हारे श्रीचरणों के स्पर्शमात्र के गुणस्वरूप शिलतृणाङ्कुरादिने भी अपना स्वभावगत काठिन्यादि दोषका सम्यक्रूपसे त्याग कर दिया है। इसी लिये तुम विना क्लेशका अनुभव किये इतना चल पा रहे हो। किन्तु यह भावना भी स्थायी नहीं होती और अन्य भावना-तरंग आकर हमारा हृदय फिर शंकाकुल कर देती है। अतएव अब हम केवल यही प्रार्थना करती हैं कि इस गहन वनमें और विचरण मत करो। हम तुम्हें खोजकर अधिक कष्ट नहीं देंगी। तुम्हें कष्ट होगा, इस आशंकासे हम अब क्रन्दन भी नहीं करेंगी। अब हम अनन्तकालतक तुम्हारे पथकी दिशामें दृष्टि रखती हुयी तुम्हारी अपेक्षा में केवल दण्डायमान रहेंगी।

तुम तो हमारे जीवनके भी जीवन हो। कूर्पादिसे तुम्हारे चरणों में व्यथा के विचार मात्रसे हमारे प्राणों में सहस्र-गुणा पीड़ा होती है, इसीलिये हम मोहदशापन्न होकर धैर्य खो बैठी हैं। अब हम किसीभी प्रकारसे अपना प्राण-धारण करनेमें

समर्थ नहीं हो पा रहीं। सुतरां अब तो यदि तुम्हारे श्रीचरणोंको अपने प्रिय अङ्ग स्तनमण्डलपर परम यत्नपूर्वक एवं ममताके सहित इसीक्षण धारण कर सकें, तभी हमारा हृदयरोग नष्ट हो सकता है। अतएव हे प्रिय ! तुम अविलम्ब हमारे समीप प्रकट हो जावो। आनन्द-वृन्दावनचम्पूग्रन्थमें भी इसीके अनुरूप आस्वादन दृष्ट होता है—

तव यच्चरणाम्बुज विभो कठिनेषु स्तनमण्डलेषु यत्।
सभयं बिभृमो वनेऽमुना विचरन्नो दुनुषे तृणाङ्कुरैः॥

हे विभो ! तुम्हारे जिन चरणाम्बुजोंको हम अपने कठोर स्तनमण्डल पर अत्यंत भययुक्त चित्तसे धारण करती हैं, तुम उन्हीं चरणोंसे वन-वनमें विचरण कर रहे हो। इससे तुम्हारे चरणोंमें तृणाङ्कुरों से न जाने कितनी पीड़ा हो रही होगी। इस भावनासे ही हम तो मरी जा रही हैं। गोपी प्रेमकी सर्वोत्कर्षता प्रतिपन्न हुई ! गोपियां अपने वक्ष पर भयपूर्वक कृष्णसुखार्थ चरण धारण करती हैं, आत्मसुखार्थ नहीं। और उन्हें अपनी विरहवेदनाकी अपेक्षा श्रीचरणों की वेदना अधिकतर क्लेश-दायक है। जहां आत्मसुख-वाञ्छा शून्य है, वहीं कृष्ण सुख वाञ्छा पूर्ण है। भाव एवं भाषा दोनों तद्भाव से समृद्ध हैं। "निरुपाधि प्रेम याँहा ताहा एइ रीति। प्रीति विषयानन्दे आश्रयेर प्रीति।" श्रीकृष्ण प्रीतिरसके विषय हैं और गोपवधूगण उसके आश्रय हैं। कृष्णसुखसे ही गोपी को सुख मिलता है। श्रीमन्महाप्रभुके मुखसे श्रीराधाकी उक्ति—

"ना गणि आपन दुख, सबेवाञ्छि ताँर सुख, ताँर सुखे आमार तात्पर्य।
मोरे यदि दिले दुःख, ताँर हय महासुख, सेइ दुःख मोर सुखवर्य॥"

श्रीराधागोविन्द कृपापूर्वक आविर्भूत नहीं होते तो जगज्जीवोंके लिये प्रेम वस्तुका स्वरूप अज्ञात ही रह जाता। व्रजका विशुद्ध प्रेम आत्मसुखकी गंधसे भी रहित है, चिर उज्ज्वल और चिर भास्वर है। श्रीराधाप्रेम जयमुक्त हो।

प्रेममय अभिलाषा वश विदीर्ण-हृदया व्रजाङ्गनाएँ परम दैन्यसहित अपना निवेदन प्रस्तुत कर रही हैं—"हे अङ्ग ! हे प्रियतम ! तुम्हारा मधुर हास्य और प्रणय-कटाक्ष ही तुम्हारे कामोदयके प्रकाशक हैं। तुम्हारे प्रति स्वाभाविक प्रेम एवं अत्यधिक अनुराग वश हम सर्वदा यही विचार करती रहती हैं कि तुम्हारा वह काम ताप किस प्रकार शांत हो। इसी विचारमें सर्वदा मग्न रहने हेतु हम तुम्हारे ही भावसे अनुप्राणित हो जानेके कारण हमारे हृदयमें तत्तत् वासना जाग्रत हो गयी जिसके कारण हम आज भयानक हृद्रोगसे कष्ट पा रही हैं। किन्तु ऐसा होने परभी तुम हमारा दुःख दूर करनेका प्रयास नहीं करते हुए स्थिर कैसे बैठे हो ? हमें यह निश्चित रूपसे ज्ञात है कि तुम्हारा आविर्भाव विश्वके निरतिशय मङ्गल-हेतु हुआ है और तुमने व्रज वासियोंके भी समस्त दुःखों का समूल नष्ट करने का व्रत ग्रहण किया है। हम भी तो तुम्हारे व्रजजन ही हैं। हमारे दुःखों को शांत करने योग्य औषधिकी जानकारी भी केवल तुम्हींको है। वह औषधि केवल तुम्हारे ही पास है और तुम ही इच्छा करने पर उसका दान कर भी सकते हो।

तुम कह सकते हो—"जब तुम लोग व्रजजन हो तो तुम्हारे दुःखोंकी शांति अवश्यमेव होगी, इसके लिये इतना आवेदन-निवेदन करने की क्या आवश्यकता है; अवश्य तुम्हारी कुछ विशेष मांग होगी ?" इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—"हम 'त्वत्स्पृहात्मा' हैं, अर्थात् तुम्हारे लिये जो स्पृहा यानि तुम्हें पाने-हेतु जो लालसा है, हमारी आत्मा उसीमें निबद्ध होकर रह गयी है। तात्पर्य, हमारा दुःख केवल तुम्हें प्राप्त न कर पानेका ही हैं, अन्य कोई दुःख नही है। यदि कहो कि अन्य व्रजवासी भी तो केवल मुझे ही चाहते हैं, तुम्हारी क्या विशेषता है ? इस पर गोपियां कह रही हैं—"स्वजनोंके हृद्रोग समूह का जो निसूदन है, वही हमें दान करो, कारण हम तुम्हारे विशिष्ट स्वजन हैं। निसूदन-अर्थात् "जो निःशेषरूपसे नाश कर देता है"। 'नि' पदसे विज्ञापित किया है कि इसे रोगका नाश होना तो दूरकी बात है, यह तो नित्य नव-नवभावसे वर्धित होता रहता है। 'रोग समूह'—अर्थात् रोग का बहुवचनमें प्रयोग रोग का अप्रतिरोधत्व सूचित करता है। सुतरां, यत्किंचित् एवं सामान्य औषधिके प्रयोगसे इस रोग का उपशम कैसे होगा ? अत एव गोपियोंके मुखसे यत्किंचित् दान की बात कहलवाकरभी कौशलपूर्वक भूरिप्रमाण दान हेतु ही प्रार्थना की गयी है॥ १८-१९॥

एकत्रिंश अध्याय की 'फेलालव' व्याख्या समाप्त हुई॥ ३१॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

(२९)

पूर्ववर्ती अध्यायमें गोपीगीतके माध्यमसे व्रजाङ्गनाओं की विरहवेदना चरमसीमा पर पहुंच चुकी है। दुःख-समुद्र उद्वेलित हो उठा है। विरहझञ्झा-क्षुब्ध चित्त-वेलाभूमिपर गोपियोंकी एकमात्र लालसा-तरंग ही पुनः पुनः आवर्तित हो रही है। प्राण-कृष्णके दर्शन किस प्रकार मिलेंगे? लालसा जब चरम पर पहुंचती है तब उसकी करुणाका उदय होता है। कृष्ण-प्राप्तिका एकमात्र उपाय भी करुणाका उदय ही है।

हृदयमें तीव्र लालसा लिये गोपियोंने श्रीकृष्णचन्द्रका विस्तृत अनुसंधान किया। उन्होंने श्रीकृष्ण का वन-वनान्तरमें अन्वेषण किया किन्तु उनके दर्शन नहीं मिले। तत्पश्चात् वे लीलास्थलीपर पुनरागमन करके कृष्णगुणगान करने लगीं। प्रेमके उद्रेकवश गान उच्चसे उच्चतर तानपर पहुंच गया। कितना प्रलाप किया, किन्तु सब निष्कल, कृष्ण दर्शन नहीं मिला। अब क्या उपाय किया जाय? सब गोपियां मिलकर करुण, मधुर एवं उच्चस्वरसे कातर क्रन्दन करने लगीं। नयनोंसे गलदश्रुधारा बह चली, हृदयमें कृष्णप्रेम के उत्ताल प्रवाहने उन्हें पागल बना दिया। उनके समग्र मन-प्राण श्रीगोविन्दके उन्मुख होगये, लीला-स्मरणसे वे तन्मयताको प्राप्त हो गयीं। उनके प्रलापमें भी अर्थात् श्रीकृष्ण विषयक प्रकृष्टरूप आलापके मध्यमें भी कृष्णलीला की कथा ही छायी हुयी है। स्मरण एवं आलापके द्वारा कृष्णविरह-वेदना और दर्शन लालसा अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी। ऐसा लगने गला कि अब करुणा का उदय होने ही वाला है। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।" चरम-साधनाभूमि पर ही करुणा का उदय होता है—यह साधन-रहस्य लीलाके मध्यमें अन्तर्लीन हो गया।

करुणा का उदय होते ही समस्त बाधायें तिरोहित होगयीं। दुर्विषह विरह-हेतु गतप्राणाप्राय गोपीमण्डलीमें व्रजजीवन उदित हुये। वे श्रीमुख पर मधुर-हास्य और अपने परिधान पीताम्बर को हस्तमें धारण किये हुये प्रकट हुये। सर्वसौन्दर्य-माधुर्य के आकर साक्षात् मदनमोहन श्रीकृष्ण वनमालासे विभूषित होकर प्रकट हुये। उनके प्रसन्नवदनपद्म्, करुणाघन स्निग्ध स्निग्ध सौम्य स्वरूपके दर्शन मात्रसे ही सर्वप्रकार तापज्वाला की निवृत्ति हो जाती है। उनके पवित्र एवं मंद-मधुर हास्यसे स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि उनके चित्तमें लेशमात्र भी अप्रसन्नता नहीं है। उनके इस हास्य से एक और बात भी प्रतीत हो रही थी कि रसिकेन्द्र चूड़ामणि अपनी प्रियतमाओंके संग परिहास कर रहे थे। गोपियोंने श्रीकृष्णके परिहासको न समझ पाने-हेतु प्रचुरमात्रामें क्रन्दन और विलाप किया, जो उनकी चरम पराजय का निदर्शन है। श्रीमुखका मंद-हास्य पराजितके प्रति विजेताके गर्व की सूचना दे रहा है।

श्रीकृष्ण द्रुतगतिसे चले आ रहे हैं अतः उनका पीताम्बर धूलिमें घसीटता हुआ आ रहा है एवं इसीलिये वे उसे हाथमें धारण किये हुये हैं। सम्भव है कि श्रीकृष्ण अब अपनी प्रियाओंके अश्रुधाराको सहन नहीं कर पा रहे हैं, इसलिये अपने पीताम्बरके अंचलसे व्रजदेवियोंके विरह-वेदनाश्रुव्याप्त वदनको पोंछना चाहते हैं।

श्रीकृष्णने पीतवसनसे अपने मुखको अल्प-सा आवृत कर रखा है। गोपियोंने श्रीकृष्णके परिहासको न समझपाने-हेतु छोटी बालिकाओंकी भांति रोना-कल्पना किया है, जिससे उन्हें हंसी आ रही है। किन्तु इतने रुदनके सम्मुख हंसी सुन्दर ता नहीं लगती, इसीलिये वे अपनी हंसीको छिपानेकी चेष्टा कर रहे हैं, अथवा अपनी लज्जानिवारण-हेतु प्रयास कर रहे हैं। वे मन-ही-मन स्वीकार कर रहे हैं कि सामान्य अल्प अभिमानके लिये अपनी अनन्य-प्रममयी गोपियोंको इतना कष्ट देना उचित नहीं हुआ बल्कि उनका यह आचरण अत्यंत निष्ठुर रहा। इसीलिये वे अपने पीताम्बरसे अपनी लज्जा गोपन कर रहे हैं।

अथवा 'पीताम्बरधरः' पदका यह अभिप्राय भी हो सकता है कि वे गौरवर्णा व्रजसुन्दरियोंको अपना अरुण-वसन दिखा रहे हैं, जिसका गूढ तात्पर्य है कि मेरा वस्त्र तुम्हारे अङ्गोंके अरुण वर्णसे रञ्जित है। मेरे सब अङ्ग इससे वेष्टित हैं अर्थात् तुम्हारे वर्णसे ही मेरी शोभा है। अनुरागका वर्ण भी अरुण हाता है अतः मेरा अन्तर-बाह्य सब तुम्हारे प्रति अनुरागसे ही रंजित है। तुम अन्यथा विचार मत रखना।

अथवा, श्रीगोविन्द पीताम्बरके अग्रभागको अपने गलेसे लग्नीकृत करके युक्तहस्तसे क्षमाप्रार्थी होकर गोपियोंके सम्मुख उपस्थित हुये हैं। विचार कर रहे हैं—मैंने अकारण ही इन्हें अनेक कष्ट दिया, खूब रुलाया; मैंने यह नितान्त गर्हित कार्य किया है। इसलिये मैं सत्य-मनसे इनसे क्षमा-याचना करूं—"देहि पदपल्लवमुदारम्।" हे यूथेश्वरि! प्रसन्न हों, अपराध क्षमा करो।

"करे धृत पीताम्बर, कण्ठे अम्लान वनमाला।" तुमने अभी थोड़ी देर पहिले जो वनमाला पहनायी थी, यह देखो—वह अभी भी मेरे गलेमें ही शोभायमान है; जरा भी मुरझाई नहीं है। गोपियों द्वारा स्वहस्ते रचित माला श्रीकृष्णके गलेमें शोभायमान होकर यही वार्ता घोषित कर रही थी।

साक्षात् मन्मथमन्मथ आविर्भूत हुये। मन्मथ रतिपति कामदेव अथवा मदनको कहते हैं। उसका कार्य ही है—रूप, रस, गंध आदि जागतिक विषयोंके प्रति कामना उत्पन्न करके सभीके चित्तको मथित करना। किन्तु मन्मथ-मन्मथ उपाधि मिली है अप्राकृत कामदेव अर्थात् मदनमोहन को। मदनमोहन दिव्य भगवद्विषयोंके प्रति भगवान्‌के परिकर अर्थात् भक्तजनों की कामना उत्पन्न करके उनको मुग्ध कर देते हैं। मदन ईश्वर-विमुखको अपने स्वरूपकी विस्मृति कराकर अपने कर्तव्य-अकर्तव्य, न्याय-अन्यायका निर्णय करनेवाले विवेकका अपहरण कर लेता है। मदनमोहन ईश्वर-उन्मुखको अपने तत्त्व एवं स्वरूपकी विस्मृति तो करा देते हैं, किन्तु उसे मनुष्यके यथार्थ कर्तव्य ईश्वरानुरक्ति प्रदान कर देते हैं। मदन मनुष्यको भोग-वासना हेतु उन्मत्त करता है और मदनमोहन उसे ईश्वरोपासना-हेतु पागल कर देते हैं। मदनको दर्प हो गया कि उसने महायोगी शिवके मनमें भी चाञ्चल्यका संचार कर दिया था और शृङ्गार रसराज श्रीकृष्णका श्रेष्ठत्व इस बातमें है कि उन्होंने स्वयं मदनको ही मोहित कर दिया। केवल इतना ही नहीं है, अपने अप्राकृत दिव्य माधुर्यसे स्वयं श्रीकृष्णका चित्त भी मुग्ध हो जाता है। "आपनार माधुर्य हरे आपनार मन।" सर्वचित्ताकर्षी साक्षात् मन्मथ मदन ही उनका स्वरूप है। केवल मदन ही क्या, त्रिलोकीमें ऐसा कोई नहीं है जो उनके माधुर्यसे मुग्ध न हो जाय। किन्तु कामदेव अनङ्ग हैं, उसका सारा कार्य-कलाप अदृश्यरूपसे ही होता है। उसका आविर्भाव भी मनके एक कोनेमें होता है और मदनमोहनका आविर्भाव साक्षात् प्रकटरूपसे होता है। उन्होंने अपना यह स्वरूप अत्यंत करुणावश होकर ही प्रकटित किया है। यह स्वरूप समस्त जगज्जीवोंका काम-निवारक एवं दुःखविनाशक है। मानो मदनके दौरात्म्यसे रक्षा-हेतु ही 'साक्षात् मन्मथ मन्मथ' का आविर्भाव हुआ है। मदनमोहनके चरणोंमें शरणागत मनुष्योंको कामकी ताड़ना नहीं सता सकती। श्रीश्रीप्रभुजगद्बन्धुसुन्दरने रासलीला का वर्णन करते हुये लिखा है—

"केलिकिला पलायन, कुसुमेषु भूपतन"।

अर्थात् मदन रासस्थलीसे पलायन कर गया। उसके कुसुम-शर यानि पञ्चबाण भूमिपर निष्क्रिय होकर पड़े रहे। गोपी-गोविन्दकी इस अप्राकृत दिव्य लीला-द्वारा कामजय ही विज्ञापित हुआ है। श्रीधरस्वामीने लिखा है—"तस्मात् रासक्रीडा-विडम्बनं कामविजयख्यापनाय इत्येव तत्त्वम्।" गोपियां महाभावमयी हैं, सर्वप्रकार प्राकृतभाव अथवा कामगंधसे रहित हैं। उनके संग गोविन्दका मिलन एवं समस्त लीलायें दिव्य एवं अप्राकृत माधुर्यमण्डित हैं और इसके फलस्वरूप कामनिवारक है। श्रीमन्महाप्रभुने इसीलिये कहा है—

"चढ़ि गोपी-मनोरथ, मन्मथेर मन मथे, नाम धरे मदनमोहन।"

गोपी-मण्डलीके मध्यमें श्रीगोविन्दका यह अपूर्व आविर्भाव परम ध्यानकी वस्तु है। इसका दिव्य नेत्रोंसे दर्शन करते हुये श्रीजीवगोस्वामीने लिखा है—

"आविस्तासु बभूव नर्म तदिति व्यञ्जन् वियुज्यापि स
स्मेरः सङ्कुचदन्तरं स्वमधियन् पीताम्बरप्रावृतः।
कर्तुं सद्विनयं स्रगंशयुगलं हस्तद्वयेनामृशन्
स्रग्वी मन्मथमन्मथस्थितिरतिश्रीणां गतिः श्रीपतिः॥ (चम्पूः पूर्व. २५।३५)

अर्थात् रासचूड़ामणि मदनमोहन जययुक्त हों। गोपी-गोविन्दकी लीला सर्वोपरि विराजमान रहे॥ १–२॥

(३०)

श्रुति–भगवती कहती हैं—भगवान् चक्षुके लिये चक्षु हैं, कर्णके लिये कर्ण हैं, मनके लिये मन है और प्राणोंके लिये प्राण है। गोपाङ्गनाएँ विरह-हेतु मृत-प्राय हो गयी थीं। श्रीकृष्णके आविर्भावसे उन्हें नवजीवन प्राप्त हुआ। प्राणप्रियतमकी प्राप्तिके होते ही वेदना-विवश गोपियों के हृदयमें प्रीतिकी बाढ़-सी आ गयी। वे सब युगपत् भूमिशय्या त्यागकर उठ खड़ी हुयीं और श्रीकृष्णका अभिनन्दन करने हेतु उनकी दिशायें दौड़ पड़ीं। सब गोपियोंका अभिनन्दन-प्रकार एक-सरीखा नहीं है; जिसका जैसा भाव था, उसने उसी भावानुयायी प्रियका अभिनन्दन किया।

स्वपक्षा–विपक्षा भेदसे दो प्रकारकी गोपियोंकी चर्चा पहले की गयी थी, किन्तु उस समय उनके वैशिष्ट्य की चर्चा नहीं की थी। श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंके प्रधानतः दो प्रकारके भाव हैं। "कृष्ण मेरे ही है और मैं कृष्णकी हूँ; मेरे कृष्ण मेरे ही सर्वस्व हैं, अन्य किसीके नहीं।"—यह मदीयतामय प्रेम है, इसका अपर नाम मधुस्नेह भी है। "मैं कृष्णकी दासी हूँ। उनकी अनेक दासियां हैं, जिनमेंसे मैं भी भाग्यवश एक हो सकी हूँ। इस प्रकार कृष्ण-सेवाका अधिकार पाकर मैं धन्य हो गयी हूँ।" इस प्रेमका नाम तदीयतामय प्रेम है, इसका अपर नाम घृतस्नेह है। "मदीयत्वातिशयभाक् प्रिये स्नेहो भवेन्मधु"। जिन गोपियों का प्रेम मधुमय मदीयतामय है, वे वाम्यभाव परायणा हैं, प्रखर स्वभावा है। इनके मधुस्नेहमें आदरकी भावना नहीं है। श्रीकृष्ण इनके प्रेमके वशीभूत हैं; इनसे अल्प आदर प्राप्ति–हेतु भी वे इनका बहुत प्रकार से आदर करते हैं। इस प्रेमकी-मूर्तिमती विग्रह श्रीराधाराणी हैं। उनकी सखियोंका भाव भी प्रायः तदनुरूप ही है। ललिता, विशाखा, भद्रा प्रभृति सखियां सभी वक्रस्वभावविशिष्टा है।

"आत्यन्तिकयदरमयः स्नेहो घृतमितीर्यते"। घृतस्नेह आदरभावसे परिपूर्ण है। दक्षिणा नायिकायें इस प्रकारका प्रम करती हैं। ये आनुकूल्यपरायणा, धीरस्वभावा और कान्तपराधीना होती हैं। इस प्रेमकी साकार विग्रह चन्द्रावली है। वे अत्यंत समादर बुद्धि सहितश्रीकृष्णकी सेवा करती हैं और कृष्णसे सामान्य आदर पाकर भी आनन्दविभोर हो जाती हैं। उनकी सखियां भी समभावापन्ना हैं। शैव्या, पद्‌मा, लक्ष्मी प्रभृति चन्द्रावलीकी सखियां सभी अत्यंत सरल स्वभाव वाली हैं।

श्रीकृष्ण मदीयतामय मधुस्नेहके अधीन रहते हैं, जबकि तदीयतामय घृतस्नेहवती गोपियां श्रीकृष्ण प्रेमाधीन रहती हैं इसी हेतुसे मदीयतामय मधुस्नेह प्रेम-गरिमामें अधिक महिमामय है। इसी हेतु श्रीराधा एवं उनके यूथकी सखियां श्रीचन्द्रावली एवं उसके यूथकी सखियोंकी अपेक्षा वरीयसी हैं। श्रीराधाकी सखियोंको स्वपक्षा कहा जाता है और श्रीचन्द्रावलीकी सखियोंको विपक्षा या प्रतिपक्षा कहा जाता है। जो गोपियां श्रीराधाके प्रति अधिक आकृष्टा हैं, उन्हें सुहृत्पक्षा कहा जाता है और जिन गोपियोंका उभयविध प्रेमाभिमान है, वे मध्यवर्तिनी या तटस्था कही जाती हैं। समस्त गोपियां स्व-स्वभावानुसार श्रीकृष्णका स्वागत कर रही हैं।

प्रियतमको आते देखकर सभी गोपियां उनका विशेष रूपसे अवलोकन कर रही हैं। वे रोदन-जनित विवशता-हेतु अल्पमात्र दर्शनसे निश्चिन्त नहीं हो पा रही हैं और अत्यन्त आर्तिवशतः कृष्णको देखने पर भी उन्हें अपने चक्षुओं पर विश्वास नहीं हो रहा है। इसलिये इन अबलाओंने कृष्णका सम्यक् रूपसे निरीक्षण किया। विरह-वेदना हेतु वे अत्यन्त दुर्बल हो गयी थीं और उनमें उठनेकी शक्तिभी प्रायः नहीं वत् थी, फिर भी वे अपने प्राणकान्तका स्वागत करने हेतु युगपत् उठ खड़ी हुयीं। विरह दैन्यवशतः विरहकालमें सभी गोपियोंने समभावका प्रदर्शन किया था, किन्तु अब स्वीय अवलम्बन कृष्णको प्राप्त करके सभी गोपियां निज-निज भावका अनुसरण करने लगीं।

किसी गोपीने अत्यन्त आनन्द पूर्वक अपनी अञ्जलिमें श्यामसुन्दरका हस्त धारण कर लिया। इससे जो मनोरम दृश्य नयन गोचर हुआ, श्रीजीवगोस्वामीने उसे इस प्रकार व्यक्त किया है—"नवपल्लवपत्राभ्यर्थ्यथा कमलतल्पजम्"—अर्थात् नवपल्लवरूप पात्रके अभ्यन्तरमें एक सुन्दर पद्मकी भाँति शोभामय। यह नायिका मृदु, सख्यप्रायदास्या, कान्तपराधीना और दक्षिणा है, अत एव सम्भव है ये चन्द्रावली ही हैं। एक अन्य गोपीने श्रीकृष्णका चन्दन चर्चित विशाल वाम बाहु अपने स्कंध पर स्थापित कर लिया। यह नायिका भी प्रखरा, व्यक्तसख्या, किञ्चित् पराधीनकान्ता और दक्षिणा हैं, अत एव ये श्रीराधाकी सुहृत् श्रीश्यामली हो सकती हैं। अन्य एक कृशाङ्गी गोपीने अपने अँजलि-पुटमें श्रीकृष्णका चर्वित ताम्बूलको ग्रहण कर लिया। यह नायिका मृदु, दास्य-प्रायसख्या, कान्तपराधीना और दक्षिणा हैं, अत एव ये श्रीचन्द्रावलीकी सखी श्रीशैव्या हैं। एक अन्य गोपीने संतप्त होकर अर्थात् विरहमय रत्याख्य भावके वशीभूत होकर अपने स्तनद्वयोंके ऊपर कान्तके चरणकमलोंको स्थापन कर लिया। इससे ऐसी मधुर शोभा हुयी मानो कोई सेविका अपने वाञ्छित फलकी प्राप्ति हेतु रक्तपद्म द्वारा शिवकी पूजा कर रही हो। यह नायिका प्रखरा, दास्यप्रायसख्या, कान्ताधीना और दक्षिणा हैं, अतः ये श्रीचन्द्रावलीकी सखी पद्मा हो सकती हैं।

अल्प दूरीपर ही एक गोपी प्रणय-कोपानलसे विह्वल होकर अपनी शुभ्रदन्तपंक्ति द्वारा अपने ही बिम्बधरोंको दशंन करती हुई अपूर्व भ्रूभङ्गी प्रकाश कर रही थी और श्रीकृष्णके प्रति कुटिल कटाक्ष शर निक्षेप कर रही थी। उसकी दृष्टिमें तीव्र अभिमान और मान-हेतु इष्टजनोंके प्रति अनादरकी भावना स्पष्ट झलक रही थी। वे श्रीकृष्णके समीप नहीं गयीं। उनकी भावना थी कि कृष्ण हमारे हैं, अतः वे ही हमारे पास आयेंगे। उधर श्रीकृष्णके समीप प्रतिपक्षाओं का दल दृष्टिगोचर हो रहा था, अतः वे श्रीकृष्णके प्रति अत्यन्त भर्त्सनापूर्ण रोषकटाक्ष निक्षेप कर रही थीं। यह नायिका प्रखरा, सुसख्या, अत्यन्त स्वाधीनकान्ता और वामा थी। अत एव ये श्रीकृष्णकान्ता शिरोमणि श्रीराधाराणी ही होंगी। उनके समीप ही एक अन्य सखी

भी दृष्टिगोचर हो रही है। वे श्रीकृष्णके श्रीमुखकी दिशामें निर्निमेष दृष्टिसे ताक रही हैं और सम्यक्रूपसे श्रीकृष्णका माधुर्य पान कर रही हैं, किन्तु इतने पर भी मानो तृप्त नहीं हो रही। यह नायिका भी श्रीराधाकी भांति वामा हैं, समीपमें नहीं जाकर दूरसे ही श्री कृष्णकी वदन-सुधाका पान कर रही हैं। ये प्रखरा, सुसख्या और स्वाधीनकान्ता हैं; अत एव ये श्रीराधाकी सखी ललिता हैं। अनेक क्षण तक देखते रहने पर भी उनकी कृष्ण-दर्शन लालसा तृप्त नहीं हुई बल्कि वर्धित ही होती रही। उन्हें दर्शनमें परम अतृप्ति बोध भी लोभनीय और मधुर लगने लगा। "जनम अवधि हाम, रूप निहारितु, नयन ना तिरपित भेल"। श्रीललिता असीम आनन्द-हेतु आत्महारा हो गयीं। श्रीललिताके पार्श्वमें ही एक अन्य सखी दण्डायमान थी। उन्होंने श्रीकृष्ण को नयन-पथसे हृदयमें प्रवेश कराकर नयन मुद्रित कर लिये। वे अब इस असमोर्ध्व सौन्दर्य-माधुर्यके आधार श्रीगोविन्द-रूप को अपने हृदयसे बहिर्गत नहीं होने देना चाहतीं। वे अपने हृदयके ठाकुरको अपने हृदयमें विराजमान देखकर ध्यानावस्थित योगीकी भांति आनन्द रसमें परिप्लुत हो रही थीं। कुछ क्षणोंमें ही वे इस रूपसुधासिन्धुमें पूर्णतः निमज्जित हो गयीं। यह नायिका मृदु, सुसख्या, स्वाधीनकान्ता और वामा हैं, अत एव ये श्रीराधाकी सखी विशाखा ही होंगी। इस प्रकार शत-शत प्रधान सखियोंका उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त विष्णुपुराणमें एक ऐसी अन्य गोपीका उल्लेख है जो प्रखरा, सरला और तटस्थपक्षीया है। इनका नाम भद्रा है। सखी भद्रा श्रीगोविन्दको आगमन करते हुये देखकर अत्यन्त आह्लादित होकर केवल 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' उच्चारण करने लगीं। उन्होंने अन्य किसी शब्दका उच्चारण तक नहीं किया।

"काचिदायान्तम् दृष्ट्वा गोविन्दमतिहर्षिता।
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति प्राह नान्यदुदैरयत् ॥ (विष्णु पुराण ३८।२५)

श्री श्रीगोस्वामिपादेन इन अष्ट सखियों की प्रणाम-वंदना की है—

"नौमि चन्द्रावलीं भद्रां पद्मां शैव्याञ्च श्यामलाम्।
विशाखां ललितां राधामित्यष्टौ प्रेष्ठतां गताः ॥

ये आठों सखियां श्रीकृष्णकी समधिक प्रीति प्राप्त करने-हेतु अत्यंत महाभाग्यवती हैं। इनमेंसे तदीयतामसी गोपियां—चन्द्रावली, शैव्या प्रभृतिने अपने प्रियतम श्रीकृष्णके करकमलोंको परम आदरपूर्वक अपने करोंमें धारण कर लिया। उधर मदीयतामयी श्रीराधाराणी एवं उनकी सखियोंने प्रणय—ईर्ष्यावश कुटिल भ्रूभङ्गीनिक्षेप इत्यादि नानाविध वाम्यभावाभिव्यञ्जक आचरणों द्वारा अपना अधिकार प्रकाशित किया। श्रीशुकदेवजीने इन पांच श्लोकोंमें श्रीकृष्णकी प्रेममयी सप्त-सखियोंका प्रेम—वैशिष्ट्य प्रकाशित किया है॥ ३-८॥

(३१)

श्रीकृष्ण पुनः गोपियोंके मध्यमें आ गये हैं। व्रजजीवन श्रीकृष्णको प्राप्त करके मानो गोपियोंकी मृतदेहमें पुनः प्राणोंका संचार हो गया और वे सब प्रियतमके संग निज-निज भावानुसार मिलित हुयीं। वे अपरूप रूपके धनी इन नरश्रेष्ठको अपलक नयनोंसे निहार रही हैं और उनके नयन इस उत्सवके आनन्दमें प्रफुल्लित एवं मदमत्त हो रहे हैं। रूप-दर्शन-हेतु इस जगत्के सभी नयन तृषित और उत्सुक रहते हैं, किन्तु जागतिक रूप-दर्शनसे इन तृषित नयनोंकी पिपासा सम्यक्रूपसे शांत नहीं होती, कारण पार्थिवरूप क्षयशील भी है एवं उसकी एक सीमा भी है। दरिद्र अतृप्त नयनोंकी प्यास असीम और अनन्त है, अतः पार्थिवरूपदर्शनसे ये कङ्गाल नयन परितृप्त नहीं होते। इनको पूर्ण तृप्ति तो कृष्णरूपकी असीम अनन्त रूपमाधुरीके दर्शनसे ही प्राप्त होती है। फिर यह रूप-तृष्णा चिरकालके लिये तृप्त हो जाती है। किसी भूखे दरिद्रके लिये उत्सव-ग्रहकी जितनी आवश्यकता है, उतनी ही आवश्यकता नयनोंको कृष्णरूपमाधुरीकी है। इसीलिये श्रीकृष्णको प्राप्त करते ही गोपियोंका कृष्ण-अदर्शनजनित समस्त दुःख समाप्त हो गया और वे शोक-विहीन हो गयीं। गोपियोंकी शोक-विहीनताका का स्वरूप श्रीशुकदेवजी एक दृष्टान्त द्वारा समझा रहे हैं—"प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः"। जिस प्रकार मुमुक्षु व्यक्ति प्राज्ञ अर्थात् ईश्वरको प्राप्त करके सांसारिक समस्त तापोंसे मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार गोपियां अनेक अनुसंधानके पश्चात् अपने प्राणगोविन्दको प्राप्त करके सारी विरह-वेदना भूल गयीं।

'प्राज्ञ'का अर्थ भगवद्भक्त भी होता है। संसारमें साधारण नाना प्रकारकी दुःख-ज्वालासे तप्त रहते हैं, शत—चेष्टा अथवा उपाय करके भी वे शान्ति प्राप्त नहीं कर पाते। यदि किसी भाग्यवश उन्हें महत्कृपालाभ हो जाता है, तभी वे संसार—दुःखसे मुक्ति पाते हैं। वे भगवत्कृपालाभ करके धन्य हो जाते हैं। योगमार्गमें 'प्राज्ञ' शब्द सुषुप्ति-चैतन्यके अर्थमें प्रयुक्त होता है। जीवकी त्रिविध अवस्था होती है—जाग्रत यानि वैश्वानर, स्वप्न अर्थात् तैजस एवं सुषुप्ति अर्थात् प्राज्ञचैतन्य। सुषुप्ति—कालमें व्यक्ति सर्वप्रकारकी दुःख-ज्वालाको भूल जाता है। साधक समाधि-अवस्थामें ही इस चैतन्यभूमिपर स्थित रहता है,

उस समय लेशमात्र भी शोक-दुःख नहीं रहता। कृष्ण-दर्शनसे विरहिणी गोपियोंकी भी तद्रूप दशा ही हुयी। किन्तु प्राज्ञवाला यह दृष्टांत तापत्यागके आरम्भके विषयमें ही प्रयुक्त होता है, सम्पूर्ण त्यागके विषयमें नहीं। कारण सुषुप्ति अवस्थामें जीव सांसारिक तापका सम्पूर्णरूपसे परिहार नहीं कर पाता क्योंकि उस अवस्थामें भा अविद्या निगूढ़रूपसे अवस्थान करती ही है। इसी प्रकार गोपियोंने विरहताप परित्याग करना आरम्भ किया, विरहताप सम्पूर्णरूपसे विदूरित नहीं हुआ। कारण गोपियोंके अन्तरमें यह आशंका अभी भी विद्यमान थी कि श्रीकृष्ण कहीं उनका पुनः त्याग करके न चले जायें।

गोपियोंका शोक अपगत हुआ है क्योंकि उनको अपने मध्यमें प्राणगोविन्दकी प्राप्ति हो गयी है। इस परस्पर मिलनसे जिस अतिशय सौन्दर्य-माधुर्यकी सृष्टि हुयी है उसका दृष्टांत देने-हेतु श्रीशुकदेवजीने पुरुष और उसकी प्रकृतिके मिलन-माधुर्यकी दिशामें इंगित किया है। पुरुष अथवा उनकी शक्ति पृथक्‌रूपसे सौन्दर्य एवं शोभाके अधिकारी या अधिकारिणी हो सकते हैं, किन्तु उभयके मिलनसे उसे विशेष उत्कर्षकी प्राप्ति होती है। श्रीगोविन्द परमपुरुष हैं और गोपियां उनकी ह्लादिनी या आनन्ददायिनी शक्ति हैं। "राधा पूर्णशक्ति, कृष्ण पूर्णशक्तिमान्।" यद्यपि उभय ही पृथक्‌रूपसे असमोर्ध्व-रूप, गुण एवं सौन्दर्य-माधुर्यकी खनि हैं, तथापि उभयके मिलनसे ही उभयके शोभा-सौन्दर्यकी पराकाष्ठा यानि सर्वातिशायित्व सम्पादित होता है। श्रीचैतन्यचरितामृतकी अनवद्य भाषामें यह इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

"यद्यपि कृष्णसौन्दर्य माधुर्येरधूर्य। व्रजदेवी सङ्गे तार बाड़ये माधुर्य॥"

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् अर्थात् सर्वार्थसम्पूर्ण एवं अच्युत अर्थात् सर्वथा च्युतिरहित होते हुये भी उनके द्वारा अपनी अन्तरङ्गाशक्ति कृष्णप्रेमैकतात्पर्यमयी महाभावस्वरूपिणी व्रजगोपियोंके साहचर्यहेतु आज समधिक और सविशेष शोभाका उदय हुआ है। षोड़शकलारूपिणी षोड़शसहस्र व्रजगोपियों द्वारा परिवेष्टित होकर परमपुरुष श्रीकृष्ण अनिर्वचनीय माधुर्य प्रकट करते हुये श्रीरासमण्डलीमें विराजमान हुये॥ ९-२०॥

(३२)

भगवान् श्रीकृष्ण व्रजगोपियोंको संगमें लेकर रास-रसोद्दीपक परम रमणीय कालिन्दी-यमुनाके पुलिन पर उपस्थित हुये। मूल श्लोकमें 'समादाय' पदका प्रयोग हुआ है, जिसका इंगित है—प्रत्येक गोपललनाका हस्त धारण करके परम समादर से लेकर आये हैं। अकेले श्रीकृष्णके लिये यह सम्भव कैसे हुआ? इसीलिये कहा है—"विभु श्रीकृष्ण" अर्थात् सर्वव्यापक एवं सर्वसमर्थ श्रीकृष्ण। सुखसेव्य पुलिनभूमिका स्थान अत्यन्त मनोरम है। शरत्कालीन पूर्णचन्द्र अपनी उज्ज्वल किरण-समूहोंकी ज्योत्स्नासे सर्वदिक् उद्भासित कर रहा है। रात्रिका अंधकार नष्टप्राय है (ध्वस्तदोषातमः) अथ च सारा परिवेश अत्यन्त स्निग्ध सुशीतल और शोभामय है। पूरा कानन प्रस्फुटित कुन्द मन्दार कुसुमोंसे परिपूर्ण है। मृदु पवन संचारसे उनके सौरभमें मत्तता आ गयी है! इस सौरभसे आकृष्ट आकुल भ्रमरकुल गुन् गुन् ध्वनि करते हुये उड़ रहे हैं।

रस भूमि पर रसराज श्रीगोविन्द उपस्थित हैं, सङ्गमें समस्त रङ्गिणी सखियाँ, रस-नायिकायें व्रजगोपियां हैं। इस स्थानकी सेवामें वधू कृष्णा नियुक्त हैं। "कर्षतीति कृष्णा"—आकर्षित करती हैं, इसीलिये कृष्णा नाम पड़ा है। अपनी विचित्र शोभा आदि द्वारा स्वयं श्रीकृष्णका चित्त आकर्षित करती हैं, इसीलिये यमुनाका एक नाम कृष्णा भी है। जिसप्रकार गुरुवधू अपने मृत्तिकानिर्मित आँगन को पुनः पुनः लेपन करके इसे सौन्दर्यमण्डित करती है, उसी प्रकार यमुनाने भी अपने तरंगरूपी हस्तों द्वारा सुकोमल वालुकाको समभावसे विन्यस्त करके इस स्थानके मनोरमत्वका सम्पादन किया है। कालिन्दी यमुनाके मध्यभागमें से प्रकटित यह पुलिन भूमि श्रीकृष्णकी लीला रासस्थली है। उनकी सेवाके उद्देश्यसे, उनकी लीला-हेतु ही यह दिव्यधाम प्रकटित होता है। लीला-समापन पर यह पुनः अप्रकट हो जाता है।

क्रीडाविशेषार्थ उत्सुक विभु श्रीकृष्णके दर्शनसे व्रजाङ्गनाओंका मनस्ताप सर्वतोभावसे दूर हो गया। गोपियोंको कृष्ण-विरह-हेतु जो दुःसह हृदयरोग हुआ था, अब कृष्णमिलनसे वह पूर्णतः प्रशमित हो गया। प्रिय-मिलनसे उनका हृदय परमानन्द से परिपूर्ण हो गया। "उनका हृदय सर्वतोभावसे दुःखमुक्त हो गया"—इस बातको समझानेके लिये श्रीशुकदेवजीने उपमा दी—"श्रुतयो यथा"। शास्त्रके दो भाग हैं—पूर्वमीमांसा अर्थात् कर्मकाण्ड और उत्तर-मीमांसा अर्थात् ज्ञानकाण्ड। पूर्वमीमांसाकी श्रुतियोंमें जिन यज्ञादि काम्यकर्मोंका विधान है उनके अनुसार काम्यफल प्राप्ति होनेपर कामनाकी तृप्ति न होकर एतद्विपरीत कामना वर्धित ही होती है। इससे श्रुति भी अतृप्त रहती है। इस प्रकार शान्तिका पथ अनुसंधान करते-करते अंतमें उत्तर-मीमांसाके ज्ञान-काण्डमें इसका उपाय प्राप्त हुआ। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" प्रभृति परम वाक्योंमें श्रुतिने ब्रह्म-तत्त्वका संदेश प्राप्त करके काम्यकर्मानुबन्धका त्याग कर दिया और परम निवृत्ति या पराशान्ति का अनुभव किया। उसीप्रकार व्रजाङ्गनाएं

आज केवल दुःखमुक्त ही नहीं हुयीं, उन्हें परम आनन्दकी प्राप्ति भी हुयी। उन्हें अपने मनोरथ अर्थात् वाञ्छितका अन्त यानि पराकाष्ठा प्राप्त हो गयी। इससे यह भी सिद्ध हो रहा है कि अभीतक उनके मनमें पुनः श्रीकृष्णको खोनेकी जो आशंका शूलकी भांति कष्ट दे रही थी, वह भी अब विदूरित हो गयी या समूल विलीन हो गयी।

अनेकक्षण प्रतीक्षा करनेके पश्चात् प्राणकान्त मिले हैं, अब उन्हें विराजमान कहां करें ? यहां तो किसी सुखप्रद आसनकी व्यवस्था होना कठिन ही नहीं असम्भव-सी है। किन्तु गोपियोंने विना एकक्षणका कालविलम्ब किये अपने प्रियतमके लिये आसनकी रचना कर दी। उन्होंने अपने वक्षस्थ कुंकुमरागरञ्जित उत्तरीयवसनोंको भूमि पर बिछाकर प्रियतमके लिये आसनकी व्यवस्था कर दी। विरहकालमें गंभीर-वेदनावश उनके नयनोंसे गण्डस्थल होकर प्रवाहित होते हुयी जिस अश्रुधारासे उनका वक्षस्थल पूर्णतः आर्द्र हो गया था, उसी अश्रुधारासे ये वसन कुंकुमरञ्जित हुये हैं। केवल साधारण कुंकुमसे ही नहीं, ये वसन तो मानो व्रजगोपियोंके हृदयके कृष्णानुरागसे ही रञ्जित हुये हैं। शायद इतना रमणीय आसन तो श्रीगोविन्दको अद्यावधि कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ। वे अत्यन्त आनन्दपूर्वक उस आसन पर विराजमान होकर 'गोपीनयन रंजन' होकर शोभायमान हुये।

निज-निज उत्तरीय वसनको आसन हेतु दान करने पर भी गोपियोंमें जो लज्जा-शैथिल्य दृष्टिगोचर हुआ, वह दोषयुक्त नहीं है। इस बातकी तरफ श्रीशुकदेवजी ने 'आत्मबन्धु' पद द्वारा इंगित किया है। श्रीकृष्ण सभीके आत्मा हैं, किन्तु गोपियां जो देह-मन-प्राण सर्वतोभावसे श्रीकृष्णके आत्म अर्थात् एकान्त निज-जन हैं। वे गोपियोंके परम बन्धु भी हैं। बन्धुका विशेष लक्षण होता है 'अत्याग सहन'। व्रजगोपियोंके पक्षमें श्रीकृष्णका त्याग अथवा विरह सह्य करना नितांत असम्भव है। सभी गोपियोंने अपने अपने उत्तरीय वसनका आसन लगा दिया है। श्रीगोविन्दने आसन ग्रहण किये, किन्तु अकेले इतने सारे आसनोंका ग्रहण किस प्रकार कर सकते हैं ? यह असम्भव इसलिये सम्भव हुआ है। क्योंकि वे 'विभु' हैं। उनकी अचिन्त्य शक्ति द्वारा सब कुछ सम्भव है। श्रीजीवगोस्वामिपादने अपने ध्यान नेत्रोंसे यह भी देखा कि जब श्रुतिचरीगोपियोंने अपने प्राणकृष्णके आसन-हेतु अपना उत्तरीय वसन उत्सर्ग कर दिया, तो लीलाशक्ति योगमायादेवीने उन्हें पुनः वसन अर्पण करके कृतार्थ किया।

प्रेमरससमुद्रमें ज्वार उत्पन्न करनेवाले तो स्वयं श्रीकृष्ण-चन्द्र ही हैं। प्रेममयी व्रजदेवियोंसे परिवेष्टित होकर एवं उनकी प्रेमपूजासे अर्चित होकर श्रीकृष्ण आज विशेषरूपसे दिव्यशोभामण्डित हो गये हैं। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि एतादृश अपूर्व शोभा अन्यत्र कुत्रापि दृष्टिगोचर नहीं हुयी। वे योगेश्वरोंके ध्यान-कल्पित हृदयासनों पर सदा विराजमान रहते है, किन्तु वहां भी इतनी शोभा नहीं होती। योगीजन ध्यान कल्पित पुष्पोंसे अर्चना करते हैं और भक्तजन उद्यान जात कुसुमोंसे पूजा करते हैं। किन्तु आज प्रेमविह्वला गोपियोंने श्यामसुन्दरकी अर्चना एक अभिनव पुष्प—अपने आनन्दाश्रुपूर्ण नयनोत्पलसे की। उस पूजामें जो चन्दन प्रयुक्त हुआ वह भी अभिनव है—वह है उनके मनोरम नर्मवचन, हास्यविलास और अपाङ्गभङ्गिमा। आजकी पूजाका आसन एवं उपकरण सभी अभिनव हैं। निखिल सौन्दर्य-माधुर्यकी सीमा कृष्णरूपकी माधुरी आज असीम है। गोपवेश वेणुकर नवकिशोर नटवर श्रीश्यामनागरका देदीप्यमान रूपमाधुर्य वस्तुतः अनिर्वचनीय है। सृष्टिमें कहीं इसकी तुलना नहीं मिलती। रूपमाधुरी-वर्णनामें श्रीशुकने कहा है—"त्रैलोक्यलक्ष्म्यैकपदम्"। श्रीसनातन गोस्वामी लिखते हैं— "त्रैलोक्य प्राकृताधोमध्योर्ध्वलोके परव्योमाख्य महावैकुण्ठपर्यन्त या लक्ष्मीस्तत्तदनन्त स्वाविर्भावपर्यन्तवस्तूनां नानाशोभादि, सम्पद्भिः तस्याः एकं अनन्यं पदं आश्रयभूतं वपुः" अर्थात्—"त्रैलोक्य अर्थात् प्राकृत-अप्राकृत अधः, मध्य, ऊर्ध्वलोकमें परम-व्योमनामक महावैकुण्ठ पर्यन्त जो लक्ष्मी या अपने तत् तत् अनन्त आविर्भाव पर्यन्त वस्तुकी जो विविध शोभा सम्पद है, उनका एकमात्र आश्रय स्वरूप तनु धारण करके" चिरसुन्दर श्यामसुन्दर अपनी निजजन गोपियों द्वारा प्रदत्त आसन पर विराजमान होकर शोभायमान हुये॥ ११–१४॥

गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण गोपी-मण्डलीके मध्यमें कुचकुंकुमरंजित उत्तरीयद्वारा रचित आसनपर आनन्दपूर्वक विराजमान हो गये हैं। अनेक देरी तक प्रतीक्षा एवं अनुसंधान करनेके पश्चात् गोपियोंको प्राणगोविन्द मिले हैं, इसलिये सेवापरायण गोपियों उनकी मन-तन-प्राणोंसे सेवा करने लगीं। हास्य, संलाप, भ्रूविलास प्रभृति द्वारा गोपियोंने प्राण कान्त की भलीभांति सम्बर्धना की। मदनमोहन का दर्शन एवं स्पर्श प्राप्त करके उनके हृदयमें नित्य नवायमान काम उद्दीपित होगया। श्रीकृष्णके प्रत्येक अङ्गभङ्गीसे अनङ्ग की उन्मादना प्रकट हो रही थी। गोपियोंने श्रीकृष्णके हस्त एवं चरण निज-निज क्रोड़में लेकर उनके संमर्दन-संवाहन द्वारा उनका संतोषविधान किया। तत्पश्चात् वे प्रणय-स्वभाववश ईषत् कुपित-सी होकर अपने विलासपूर्ण भ्रूभङ्गी द्वारा प्रियतम श्रीकृष्ण की तरफ हास्यमय एवं लीलामय कटाक्ष निक्षेप करती हुयी उनसे एक रहस्यपूर्ण प्रश्नका समुचित उत्तर मांगने लगीं।

श्रीकृष्णको प्राप्त करके व्रजदेवियोंने उनकी जिस उत्तमरीतिसे सम्बर्धना की और श्रीकृष्णने भी जिस प्रकार विविध विलासभङ्गीद्वारा उनमें कामका उद्दीपन किया, उसे देखते हुए कोप उदय होनेका क्या कारण बना ? उत्तर है—"अनङ्ग दीपन"—अर्थात् जिन्होंने पूर्वमें गोपियों का परित्याग करके उन्हें गभीर दुःख पहुंचाया, वही अब एतादृश प्रेम चेष्टाये प्रदर्शित कर रहे हैं। इसलिये उनके प्रणय-स्वभाव की पर्यालोचना करके व्रजाङ्गनाएँ ईषत् कुपित हो गयीं। किन्तु यदि श्रीकृष्णकी प्रेम-उद्दीपन-चेष्टा को दोषावह माना जाय, तब प्रारम्भमें गोपियोंने अपने कुचकुंकुमांकित उत्तरीयोंका जो आसन रचित किया, उससे भी तो अनङ्ग-उद्दीपन की प्रथम चेष्टा गोपियों द्वारा ही हुयी, यही प्रमाणित होता है। सुतरां इस समय गोपियों द्वारा अपना कोप व्यक्तकरना क्या समीचीन हैं, निश्चयही यह उचित कार्य नहीं है, किन्तु गोपियोंने भी श्रीकृष्णके करचरणों की संमर्दन सेवा एवं प्रशंसावाक्यों द्वारा अपने कोप को गुप्त ही रखा है। तो फिर 'कोप हुआ' यह बात किस व्यवहार से प्रकट हुयी ? इसी लिये मानो श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं—"विलास पूर्ण भ्रूसंचालन द्वारा इस बात का पता चला"। सखियोंने निश्चय किया कि वे अपने कौशलसे एक ऐसा प्रहेलिकापूर्ण प्रश्न उपस्थित करेंगी जिसका उत्तर देने पर श्यामनागर को अपने मुंहसे ही स्वीकार करना पड़ेगा कि उनका अपराध अत्यंत भयानक था। श्रीकृष्ण को निजमुखसे ही अपना अपराध स्वीकार करना होगा, इस प्रकारकी मति कौटिल्यव्यञ्जक भ्रूविलास-हेतु ही गोपियों को कुटिल दुरभिसंधि व्यक्त हो गयी थी। इस कुटिलता को गोपन करने हेतु ही उन्होंने अपने मुख पर मधुर हास्य एवं नयनोंमें अनुरागभरे कटाक्षका नाटक रचा था। उनके अङ्गोंसे प्रेमोद्दीपक चेष्टायें इस प्रकार झलक रही थीं, मानो वे अपनी बद्ध नयनाञ्जलिमें भरकर अपने मुखमण्डलके मधुर हास्य-पुष्पका गोविन्द-पाद-पद्मोंमें अर्घ्य निवेदन कर रही हों। अपने अन्तरके किसी अनुभावको आवृत रखनेमें जिस भाव का उपयोग होता है, उसे 'अवहित्था' नामक संचारी भाव कहते हैं। अवहित्थामें 'हेतु, गोप्य और गोपन' इन तीन भावों का समावेश होता है। यहां व्रजदेवियों अपने अन्तरके प्रणय-कोप को (गोप्य) गोपन रखना चाहती हैं। 'गोपन' उस प्रक्रिया का नाम है जिसकी सहायता से गोपन किया जायगा। यहां कर-चरणों का संमर्दन एवं मुख द्वारा प्रशंसा-वाक्य—'गोपन' हैं। 'हेतु' उसे कहेंगे जिसके साहाय्यसे प्रकृत भाव गोपन किया जाता है। यहां भ्रभङ्गी द्वारा अभिव्यक्त मतिकौटिल्य ही अवहित्था का 'हेतु' है। व्रजाङ्गनाओंके इस मधुर अवहित्था संचारीभावको श्रीजीवगोस्वामीने आस्वादन किया है—

काचित् करं चरणमस्य परा तथोरुमन्यावलग्नमपरा मृदुमर्दयन्ती।
अन्तर्निगूढकुपिता बहिरच्छभावा भ्रूलोचनप्रसृमरस्मितमभ्युवाच॥ (गोपालचम्पू पूः २५।५७)

अर्थात् कोई गोपी श्रीकृष्णके हस्त, कोई उनके चरण, कोई उनके ऊरु एवं कोई उनके मध्यभागको मृदु-मृदु मर्दन करने लगीं। किन्तु मन-ही मनमें सभी कुपित थीं और बाहर निर्मल भावका प्रदर्शन कर रही थीं। उस समय वे मानो अपने भ्रूक्षेपों एवं नयनों द्वारा मृदु-मधुर कोमल हास्यका विस्तार करती हुयीं कहने लगीं। यहां भी गोपियां श्रीभगवान्के कर-चरणोंका युगपत् स्पर्श कर रही हैं, अतः इस स्थलपर भी योगमाया देवीका वैभव प्रदर्शित हुआ है।

गोपियाँ कहने लगीं—"हे प्रिय हमारी समस्या सुनो। जगज्जीवोंका तीन श्रेणीमें विभाग किया जा सकता है जैसे कि—(१) कोई कोई अपना भजन करने वाले की ही भजना करते हैं, (२) कोई कोई अन्य द्वारा भजनापेक्षा नहीं रखते हुये भी यानि भजना नहीं करनेपर भी उसकी सेवा करते हैं। और (३) कोई-कोई भजना करने पर भी नहीं भजते एवं भजना नहीं करने वालेको भी नहीं भजते। इनमें से कौन-सा किस प्रकारका है, उसका कैसा स्वभाव है, उसमें क्या दोष हैं या गुण हैं और उनको कैसा फल प्राप्त होता है—इसका पूर्णविचार विवेचन करके हमें बताओ जिससे हमें भी इस विषयका ज्ञान हो जाय।

बिना किसी पूर्व भूमिकाके हठात् इस प्रकारका प्रश्न जिज्ञासा करनेमें अवश्य ही उनका कोई गूढ़ उद्देश्य रहा होगा प्रेम अथवा स्नेहके क्षेत्रमें जितने विविध प्रकारके आदान-प्रदान हो सकते हैं, वे सभी उपरोक्त तीन श्रेणियोंमेंसे किसी न किसी श्रेणीके अन्तर्भुक्त तो होंगे ही। व्रजाङ्गनाओंने श्रीकृष्णको अपना सम्पूर्ण हृदय अर्पण करके ही प्रेम किया था और सब-कुछ त्याग करके उनके समीप आयी थीं, किन्तु इसका प्रतिफल उन्हें निदारुण विरह-संतापके रूपमें मिला। प्रेम-व्यवहारके विनिमय में तीव्र विरह वेदना देना कितना निन्दनीय अकृतज्ञता है, इसका कोई परिमाप नहीं किया जा सकता। अतः यह श्रीकृष्णके निज-मुखसे ही व्यक्त करानी होगी। इसालिये यह प्रश्न उनके सम्मुख उपस्थित किया गया। सम्भवतः श्रीकृष्ण 'जो भजना करने पर भी उन्हें नहीं भजते एवं भजना नहीं करनेवालेको भी नहीं भजते'—इस तृतीय श्रेणीके अन्तर्भुक्त होंगे। इसलिये ऐसे व्यक्तिके ऊपर क्या प्रतिविधान होना चाहिये, यह उनके निजमुखसे ही कहलवाया जाय। गोपियोंके मनमें यह अभिसन्धि है कि इसका उत्तर हम भी सुनें एवं सारे जगतके नर-नारी भी जानें। इसीलिये उन्होंने इतना चातुरी पूर्ण प्रश्न उपस्थित किया॥ १५-१६॥

(३४)

भगवान् श्रीकृष्णने व्रजदेवियोंका प्रश्न सुना और उन चतुर-शिरोमणिको इस प्रश्नका तात्पर्य हृदयङ्गम करनेमें एक क्षणका भी विलम्ब नहीं लगा। गोपियां उनकी प्रीतिमें दोषदृष्टि न करें, इस उद्देश्यसे उन्होंने कथनका आरम्भ ही अपने सहज सख्यका उल्लेख करते हुए सम्बोधनसे किया—"हे सखियों! अपने प्रश्नका मेरेसे सुविचारित उत्तर सुनो। जो प्रेमके विनिमय में प्रेम करते हैं, उनका आचरण निरा स्वार्थ मूलक है। प्रेम पानेकी आशामें प्रेम, अथवा उपकारकी प्रत्याशामें परोपकार करना तो केवल विनियम है, वाणिज्य है। इसके मूलमें आत्मसेवा व्यतीत अन्य कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य देवताओंकी भजना करते हैं तो देवता भी सन्तुष्ट होकर निज निज भजन कर्ताको स्वर्गादि काम्यफल प्रदान करते हैं, किन्तु इस प्रकारके भजनमें वस्तुतः किसी प्रकारका धर्म नहीं है। यदि इसमें धर्म नामकी कोई वस्तु हो भी तो वह निन्दनीय है, उत्तम धर्म या भागवत धर्म नहीं है। फलाभिसन्धिरहित अर्थात् कैतव-शून्य धर्म ही प्रकृत धर्म है उसी प्रकार फलाभिसन्धिरहित प्रीति ही प्रकृत प्रीतिपद वाच्य है। मनुष्य अनेक यत्नपूर्वक गोपालन करता है, किन्तु उसके इस कार्यके मूलमें दुग्धप्राप्तिकी आशा छिपी रहती ही है। उस आशाके मिटनेके साथ ही गो-सेवाका कार्य भी बंद हो जाता है। सुतरां उपरोक्त भजनामें यदि किसी प्रकारका धर्म या सौहार्द्य दृष्टिगोचर होता है तो प्रकृतरूपसे वह कपटता और स्वार्थानुसंधानमात्र है। इस भजनाका स्वरूप मैंने जैसा ऊपर बताया है उससे भिन्न हो ही नहीं सकता। यह पूर्णतया सत्य है कि इस प्रकारकी भजना केवल स्वार्थमय है। यही प्रथम प्रकारके प्रेमका परिचय है।

जो प्रेमकी अपेक्षा न रखकर प्रेम करते हैं, वे द्विविध हैं—करुण प्रकृति साधु व्यक्ति और स्नेहयुक्त पिता-माता। इनका प्रेम अनिन्दित एवं निर्दोष है। निःस्वार्थ प्रेम जगत्में अत्यन्त विरल है, किन्तु एकदम ही नहीं मिलता ऐसी बात भी नहीं है। सन्तान अपने माता-पितासे प्रेम या श्रद्धा न करने पर भी माता-पिता अपनी सन्तानसे स्नेह करते हैं। प्रीतिमें यदि कोई हेतु रहता है, तब वही प्रीतिकी उपाधि है, वही प्रीतिको दोषयुक्त करती है। औपाधिक प्रीतिका दोष यही होता है कि जब उपाधिका अस्तित्व नहीं रहता तो प्रीति भी शिथिल पड़ जाती है। माता-पिताके स्नेह-क्षेत्रमें साधारणतः उपाधि नहीं रहती इसीलिये उनका स्नेह प्रायः उज्ज्वल होता है। किन्तु इस क्षेत्रमें भी एक उपाधि रहती है जिसको 'सम्बन्ध-ज्ञान कहते हैं। 'मेरी सन्तान है' यह बोध ही उस प्रीतिकी भित्ति है। अपनी सन्तानके ही अनुरूप रूपगुण सम्पन्न अन्य बालक पर उसी प्रकारकी प्रीति उन माता-पिताओंमें दृष्टिगोचर नहीं होती। सम्बन्ध उपाधिहीन प्रीति करुण-स्वभावशील साधु-सज्जनोंमें ही पायी जाती है। वे प्रीतिके पात्र द्वारा प्रेम या सेवाकी अपेक्षा नहीं रखते, सभीको अहैतुक प्रेम प्रदान करते हैं। उनका हृदय दयासे पूर्ण रहता है। दया हि नाम स्वार्थनिरपेक्षा परदुःखासहिष्णुता"—स्वार्थरहित परदुःखकातरता ही उनका स्वभाव है। इसलिये उनकी यह प्रीति अनिन्दित, उज्ज्वल और आदर्शस्वरूप है। द्वितीय श्लोकमें गोपियोंको 'सुमध्यमा' कहकर सम्बोधित किया है। इस सम्बोधनका तात्पर्य है-कि तुम लोग भी सर्वसुलक्षणसम्पन्ना हो, सुतरां तुममें जो इस प्रकारके गुण हैं, इस बातमें कोई संशय नहीं है इसमें श्रीकृष्ण द्वारा व्रजाङ्गनाओंको यह आन्तरिक निवेदन भी निहित है कि वे उन्हें इसी प्रकारसे प्रीति करती रहें, इसमें अन्यथा नहीं होना चाहिये।

द्वितीय प्रकारके प्रेमकी विवेचना समाप्त हुई। अब तृतीय प्रकारके प्रेमका विवेचन कर रहे हैं। जो भजनेवालेको भी नहीं भजते और न भजनेवालेको भजनेका तो प्रश्न ही नहीं है, इसप्रकारके व्यक्ति चार प्रकारके होते हैं—(१) आत्माराम अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति। ये विषयदर्शी नहीं होते, किसी प्रकारके बाह्य व्यापारमें इनका तिलमात्र भी अभिनिवेश नहीं होता। (२) आप्तकाम—इनकी विषय-दृष्टि होते हुये भी, ये पूर्णकामताहेतु भोगवासनाविहीन हैं। अतः इन्हें किसी प्रकारकी बाह्यापेक्षा नहीं रहती। (३) अकृतज्ञ—ये दूसरोंसे उपकार प्राप्त करना तो चाहते हैं किन्तु प्रत्युपकार नामसे ही अनभिज्ञ हैं। ये मूढ हैं, इसलिये अज्ञान हेतु उपकारीका प्रत्युपकार नहीं करते। और (४) गुरुद्रोही—ये उपकारीका उपकार तो करते ही नहीं, परन्तु उसके प्रति द्रोहाचरण करके उसका क्षति पहुचाते हैं। जो उपकार करता है, वह गुरुतुल्य होता है। उपकारक रूपी गुरुके प्रति द्रोह-आचरण करते हैं, इसीलिये ये गुरुद्रोही हैं। इनके दोष अथवा अपराधका कोई सीमा नहीं है और वह अक्षम्य है। इनमें धर्म, अर्थ, सौहार्द्य अथवा दया प्रभृति कोई भी वस्तु नहीं है।

गोपियों द्वारा जिज्ञासित प्रश्नका उत्तर समाप्त हुआ। उत्तर सुनकर वे अत्यंत प्रसन्न हुयीं। सम्भव है अभीतक तो उन्होंने श्रीकृष्णका मन-ही-मन अकृतज्ञ ही मान रखा था। श्रीकृष्ण 'अकृतज्ञ' से भी निम्नकक्षाके हो सकते हैं, यह उनकी धारणासे अतीत था। अब श्रीकृष्णके उत्तरसे उन्हें 'गुरुद्रोही' का परिचय प्राप्त हुआ, जो निष्ठुर-स्वभाव तो होते ही हैं, इसके अतिरिक्त उपकारीका प्रत्युपकार न करके उसका अपकार ही करते हैं। उनको जो प्रेम करता है उसे बदलेमें प्रेम करना तो दूर, उल्टे उसे संताप देते हैं। इतने समय तक श्रीकृष्णने भी तो यही किया। हमने उनसे इतना प्रेम किया और उन्होंने हमें विरह-

दावानलमें दग्ध किया। सुतरां श्रीकृष्ण गुरुद्रोही हैं। गोपियां परस्पर नेत्रों ही नेत्रोंसे बात करके इस सिद्धान्त पर उपनीत हुयी हैं, श्रीकृष्णको यह समझनेमें एकक्षण भी नहीं लगा। हो सकता है, अब गोपियां श्रीकृष्णसे ही यह भी जानना चाहेंगी कि इस प्रकारके गुरुद्रोहीको क्या शास्ति देनी चाहिये। गोपियोंके हृदयकी बात जानकर श्रीकृष्ण उन्हें प्रश्न करनेका अवसर दिये विना ही स्वयं बोलने लगे—"नाहं तु सख्यो···" इत्यादि। "प्यारी सखियों! मैं ऐसा नहीं हूँ, मैं ऐसा नहीं हूँ। तुम मुझे जिस 'गुरुद्रोही' श्रेणीमुक्त करना चाहती हो, मैं उस श्रेणीका नहीं हूँ। और तो और, मैंने तुम्हें जितने प्रकारके मनुष्य गिनाये, मैं उनमेंसे किसी भी प्रकारका नहीं हूँ।"

वस्तुतः श्रीकृष्ण समस्त जीवोंके प्रति परमकारुणिक हैं और उनके परम सुहृद हैं। वे निरपेक्षभावसे सर्वजीवोंके सर्वकालीन अहैतुक बन्धु हैं। उनमें किसी प्रकारकी स्वार्थपरता नहीं है। वे आत्माराम अवश्य हैं, किन्तु आत्माराम-शिरोमणि होकर भी भक्त-प्रेम-पराधीन हैं। उनके द्वारा अकृतज्ञ अथवा गुरुद्रोहीका आचरण होना सम्भव ही नहीं है। वे जब शत्रुका विनाश करते हैं, तब भी उस कार्यमें भी उनकी करुणा ही प्रकाशित होती है। उनका स्वभाव ही है 'हतारिगतिदायक' और वे अनन्त कल्याणगुणोंके निधान हैं। उनकी प्रीति मातापिताकी प्रीतितुल्य नहीं है, यद्यपि शास्त्रकार उनको उद्देश्य करके कहते हैं—"त्वमेव माता च पिता त्वमेव" इत्यादि; कारण मातापिताकी प्रीतिमें जो 'सम्बंध' रूप उपाधि है, श्रीभगवान्‌की प्रीतिमें वह नहीं है।

करुणार्द्र-हृदय साधु-पुरुषोंकी प्रीतिके संग भी उनकी प्रीतिकी तुलना नहीं की जा सकती। साधुव्यक्ति जो सबसे प्रेम करते हैं, उसका कारण है उनका स्वभावगत सत्त्वगुण। सत्त्वगुणका यही विशेषत्व है कि उससे सम्पन्न व्यक्तिका हृदय अन्यका दुःख देखते ही द्रवित हो जाता है। किन्तु श्रीभगवान् सत्त्वगुणी नहीं है, वे गुणातीत हैं। अतएव जिस कारणसे साधुका हृदय द्रवित होता है, श्रीभगवान्‌का हृदय उस कारणसे द्रवित नहीं होता। व्यावहारिक और पारमार्थिक भेदसे दुःख भी दो प्रकारके होते हैं। साधु व्यक्तिका हृदय किसी भी प्रकारका दुःख देखते ही द्रवित हो जाता है। किसीके घरमें आहार योग्य सामग्री नहीं है, वह क्षुधाकी पीड़ासे कराह रहा है; साधु ऐसा देखते ही द्रवित हो जाते हैं और किस प्रकारसे उसकी क्षुधाकी तृप्ति हो, इसके लिये प्रयासरत हो जाते हैं। यदि कोई कुपथगामी होकर दुर्लभ मनुष्य जीवनको नष्ट कर रहा हो, तो उसकी दशा देखकर भी साधुको कष्ट होता है और वे उस मतिभ्रष्टकी गति परिवर्तन करने हेतु यत्न करते हैं। श्रीभगवान् गुणातीत हैं, अतः उन्हें ये सब कारण स्पर्श नहीं करते। संसारमें अनेक लोगोंके गृहमें अन्न नहीं है, अनेक लोग कुमार्ग पर चलकर अपना जीवन नष्ट कर रहे हैं; किन्तु इन सबके समाधान हेतु श्रीभगवान्‌की कृपाशक्ति कार्यशील नहीं होती मानो इस प्राकृत गुणमय जगत्‌के हंसने-रोने अथवा सुख-दुःखसे उनका कोई सम्बंध ही न हो। श्रीजीवगोस्वामिपाद भक्ति सन्दर्भमें लिखते हैं—

"कृपारूपश्चेतो विकारः हि स्वचेतसि स्पर्शे सत्येव जायते। तस्य तु सदा—परमानन्दरसैकत्वेन अपहतकल्मषत्वेन च श्रुतौ जीवविलक्षणत्वसाधनात् तेजोशालिनः तिमिरायोगवत् तच्चेतसि अपि तमोमयदुःखस्पर्शनासम्भवेन तत्र तस्या जन्मा-सम्भवः"—अर्थात् निजचित्तपर अन्यके दुःखका स्पर्श होने पर ही कृपारूप चित्तविकार उत्पन्न होता है। किन्तु श्रुतिमें श्रीभगवान् को नित्य परमानन्दैकरस और अपहतपापस्वरूप कहा है इसलिये उनका जीवसे पृथक् प्रकारका निर्देश किया गया है। जिस प्रकार प्रकाश एवं अन्धकारका योग नहीं होता, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌के चित्तमें तमोमय दुःखका जन्म सम्भव नहीं है। अतः दुःखका जन्म न हो पानेके कारण उनके चित्तमें कृपाका भी उदय नहीं होता। सुतरां तात्पर्य यह है कि जीवके सुख दुःखसे वे द्रवित नहीं होते। तब शास्त्रोंने जो उनका दीनवत्सल, आत्मबन्धु, परमकरुण, सर्वभूत-सुहृद् इत्यादि कहकर कीर्तन किया है, क्या वह मिथ्या है? उन्हें द्रवित कर सके, ऐसी मात्र एक ही वस्तु इस जगत्‌में है और उसका नाम है 'भक्ति'। वे भक्तिद्वारा नियत ही बंधन प्राप्त हैं, भक्तिके पूर्णतया अधीन हैं और भक्ति द्वारा ही द्रवित होते हैं। सुतरां, श्रीभगवान्‌की प्रीति साधु-महात्माओंकी प्रीतिके अनुरूप नहीं है। श्रीभगवान्‌का प्रेम फिर किस श्रेणीका है, यह आगे प्रकट होगा ॥१७–१९॥

(३५)

जागतिक प्रेमका चरम-विश्लेषणपूर्ण पूर्ण विवेचन समाप्त हुआ। स्वार्थपर, पितृवत् निःस्वार्थ, आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ और गुरुद्रोही—इन छह श्रेणियोंमेंसे किसी-न-किसी एकमें इस जगत्‌के समस्त मानवोंका प्रेम अन्तर्भुक्त होगा ही। किन्तु श्रीभगवान्‌का प्रम इनमें से किसीभी श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आता। तब यह किस प्रकार का है? हम-वहां अब गोपियोंके प्रति श्रीकृष्णकी उक्तिके माध्यम से सुनेंगे।

"अहं तु भजतोऽपि जन्तून् न भजामि" —"मैं भजनकारी व्यक्तिकीभी भजना नहीं करता अर्थात् जो मुझे प्रेम करता है उसे भी मैं प्रेम नहीं करता"—तुमलोग ऐसा-ही अनुमान कर रही हो न? तुम-ही क्या, जगत्‌केअन्य अनेक जन भी

यही विचार रखते हैं और यह विचार पूर्णतया भ्रममूलक है, यह बात भी नहीं है। "मैं भजनकारीकी भी भजन नहीं करता"—यह बात तो सबके ध्यानमें आ जाती हैं, किन्तु मैं ऐसा क्यों करता हूँ, यह बात कोईभी गहराई से नहीं सोचता। अब मैं ही बता दूँ कि मैं ऐसा क्यों करता हूँ।

"अमीषामनुवृत्तिवृत्तये"। 'अनुवृत्ति' शब्दका अर्थ है—निरन्तर-ध्यानमें वृत्तिको लगाये रखना। "भजनाकारी प्रेम तीव्रतावश सतत अविच्छेद्यरूपसे मेरी ही भावनामें प्रवृत्त रहे"—इस उद्देश्यसे मैं क्षेत्रविशेषमें भजनकारीको नहीं भजता। मेरी यह ऐकान्तिक इच्छा रहती है कि भजनाकारी सर्वस्व भूलकर केवल मेरे ही ध्यानमें तन्मय होकर रहे। किन्तु इस प्रकारके भजनाकारी इस जगत्में अत्यंत दुर्लभ हैं। अतः मैं ऐसा प्रयत्न करता हूँ जिससे मानवमें मेरी प्राप्ति-हेतु उत्कण्ठा निरन्तर वृद्धि-प्राप्त होती रहे और इसीलिये में सहजमें किसीकी पकड़में नहीं आता। मैं कभी पकड़में आ भी जाता हूँ तो क्षणभर प्रत्यक्ष होकर पुनः छिप जाता हूँ। आहार्य सामग्री उपलब्ध होने पर भी उसका उपभोग किया जा सकता हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। इसके लिये आवश्यकता है उदर में क्षुधावृत्तिका होना। इसी प्रकार मुझे प्राप्त करने से ही साधक मेरे माधुर्यका भोग नहीं कर सकता। उसके लिये प्रेम, प्रीति एवं प्राप्ति-लालसाका तीव्र होना अत्यावश्यक है। इस लालसाकी वृद्धि—हेंतुही मैं भक्तके सामीप्यसे दूर हो जाता हूँ।

जो जन्मावधि दरिद्र हैं, उनमें धनकी लालसा भी प्रायः अल्पही होती है। किन्तु यदि वह दैवक्रमसे प्रभूत धनका अधिकारी होजाय और फिर किसी कारणवश उसका धन नष्ट हो जाय, तब उसमें पुनः धनप्राप्तिकी लालसाभी तीव्रतर हो जाती है। (यथाधनो लब्धधने विनष्टे)। उसी प्रकार साधारणतः मेरे भजनकर्ता में भी मेरी प्राप्ति—लालसा सामान्य ही रहती है, अतः मैं उसके प्रति अपनी कृपाका स्पर्शमात्र प्रदर्शनकरके अदृश्य हो जाता हूँ, उसे कष्ट भी देता हूँ, किन्तु यह सब मैं उसके कल्याणके लिये ही करता हूँ। जिससे उसकी मेरे प्रति प्रीति और आकर्षण वृद्धिप्राप्त हो, मेरेलिये उसकी भजन-प्रवृत्ति प्रबलतर हो इसके अतिरिक्त मेरे इस कार्य में कोई अन्य हेतु नहीं होता किन्तु अनेक व्यक्ति यह रहस्य न समझ पाने हेतु मुझे अकृतज्ञ अथवा गुरुद्रोही मान बैठते हैं।

इतने दीर्घकाल पश्चात् श्रीभगवान् के प्रेमका स्वरूप समझमें आया। यह अत्यंत मधुर बात है। इस जगत्में जो भगवान् की कुछ भक्ति करते हैं, अथच जीवनमें नाना प्रकारके प्रभूत कष्ट भोगते हुये देखा जाता है—इस उत्तरसे उन्हें अत्यंत सान्त्वना एवं शांति प्राप्त होगी। यह सत्य है, कि हम भी अनेक भक्तोंके जीवनमें उनके कष्टोंके कारण का निर्णय नहीं कर पाते थे, आज श्रीभगवान्के निज मुखसे उसका समाधान सुनने को मिला। यहां भी करुणामय की करुणाका ही परिचय मिला कि वे भक्तवत्सल हैं इसलिये भक्त पर करुणा करने हेतु ही उसे कष्ट देते हैं। यह भी स्पष्ट हो गया कि उनका यह कार्य निर्दयता अथवा निष्ठुरता का परिचायक नहीं है। अत एव यदि हम अपने मस्तिष्कमें श्रीभगवान् की इस उक्तिकी स्मृति जाग्रत रख सकेंगे, तब हमारे जीवनमें जब भी कष्टकी छाया दिखायी पड़ेगी तो हमें अन्ततः दुःखकी ज्वाला नहीं सतायेगी। जिस प्रकार स्वर्णको शुद्ध करने हेतु उसे अग्निमें तपाया जाता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् भी अनादि बहिर्मुख जीवको दुःख-दावानलमें तपा करके निर्मल कर लेते है। उनका यह उद्देश्य सर्वतोभावसे महत् है; भक्तिहीन मरु-हृदयमें मन्दाकिनी की शीतल धारा प्रवाहित करने-हेतु उनका एक अपूर्व कौशलमात्र है।

श्रीभगवान् के इस कथन को श्रवण करके विश्वके सभी भक्त प्रीत होंगे। किन्तु श्रीभगवान् जिन व्रजाङ्गनाओं को उद्देश्य करके ये अमूल्य वचन हमें सुनाये, वे इन वचनों को श्रवणकरके विन्दुमात्र भी प्रसन्न हुयी हों, ऐसा प्रतीत नहीं हुआ। उनके प्रफुल्ल वदन मलिन पड़ गये। ऐसा क्यों हुआ ? कारण यह है कि श्रीभगवान्ने उनके प्रेमके स्वरूप और महिमा को ही अस्वीकार कर दिया। प्रेम-व्यापारमें इससे अधिक कष्टदायक पराजय और क्या हो सकती है ? भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंसे यह तात्पर्य निकलता है कि गोपियोंके प्रेममें अवश्य कोई कमी है जिसके लिये उनकी प्रीतिमें वृद्धि-हेतु श्रीभगवान्ने उन्हें विरह-वेदना दी। प्रेमी और प्रेमिकामें से कोई यदि अपर पक्षकी गाढता का अनुभव करने में अक्षम हो, तो इसकी अपेक्षा अधिक लज्जा या हृदयहीनता का परिचय और क्या हो सकता है ? इसीलिये व्रजदेवियों का हृदय अत्यंत व्यथित होगया उनका प्रेम विभु है, उनके समस्त अन्तर को व्याप्त करके अकेले श्रीकृष्ण ही विराजमान हैं। कृष्ण-प्रेममें पागल होकर उन्होंने अपने देह-गेह आदि सबका परित्याग करदिया है, यहांतक कि उनको भूल-सी गयी हैं। जिस प्रेममें वृद्धिका कोई अवकाश ही न हो, उसे वृद्धि करने की बात कहकर तो प्रकारान्तरमें उनके प्रेमकी महिमा का ही तिरस्कार और अस्वीकार किया गया है। यह सोचकर ही वे म्रियमाण हो गयीं कि श्रीकृष्ण उनके प्रेमकी गभीरता समझ ही नहीं पाये। असह्य दुःख-हेतु उनके मस्तक नत होगये, उनके मुंहसे एक भी शब्द नहीं निकला। वे अपने सारे अन्तर को टटोलकर भी बोलने योग्य भाषा का एक शब्द भी नहीं खोज पायीं। उनकी यह अवस्था देखकर श्रीकृष्णने अनुभव किया कि उन्होंने अपने दोष की सफाई देते

समय अज्ञातसारमें गोपियोंके मर्मस्थल पर आघात पहुंचा दिया है; अतः वे अपनी भूलका संशोधन करने–हेतु कथान्तर का अवतरण करने लगे ॥ २० ॥

त्रिलोकीमें गोपीप्रेमकी तुलना नहीं है, गोपी प्रेम विभु है, उसकी वृद्धिके लिये स्थान ही नहीं है। उनके प्रेममें स्वयंकी सुख–सुविधा प्रभृति किसी प्रकारका कोई आत्मानुसन्धान नहीं है। उनका ज्ञान एवं ध्यान निरन्तर श्रीकृष्णसेवामें ही पर्यवसित है।

आत्मसुख दुःख गोपीर नाहिक विचार। कृष्णसुख हेतु चेष्टा मनोव्यवहार ॥
कृष्ण लागि आर सब करि परित्याग। कृष्णसुख हेतु करे शुद्ध अनुराग ॥

जिनका सम्पूर्ण हृदय कृष्णानुरागसे व्याप्त है, उनके प्रेमकी वृद्धिहेतु उन्हें विरह-वेदना देकर व्यथित करना नितांत अयौक्तिक है। इस बात को हृदयंगम करके श्री कृष्ण कह रहे हैं—"हे प्रियाओं ! मैंने जो बात कही है, वह तुम्हें उद्देश्य करके नहीं कही है। तुम्हारे प्रेममें वृद्धिका कोई अवकाश नहीं है, इतना समझने योग विचारबुद्धि, अनुभव-शक्ति मेरे में है। मैंने तो यह बात साधारणभावसे निखिल विश्वके अन्यान्य समस्त भक्तोंको लक्ष्य करके कही थी। तुमलोग तो मेरे प्रति प्रबलतम अनुरागवश अपना लोक–धर्म, आत्मीय–स्वजन—इत्यादि सभीका परित्याग करके दौड़ी चली आयी हो। तुमने उचित–अनुचित, धर्म–अधर्म, स्नेह-ममता किसी की दिशामें न तो भ्रक्षेप किया, न परवाह की। अतः तुम्हारे प्रेमकी तुलना किससे की जा सकती है ? किन्तु प्रेमवश्यता मेरा स्वरूपगत धर्म है, अतः इस प्रकारके प्रेमकी उपेक्षा करके अन्यत्र चला जाना मेरे लिये किसी भी प्रकारसे सम्भव नहीं था। वस्तुतः मैं तो तुमलोगोंके निकट ही था, तुम्हें त्याग करके कहीं भी नहीं गया। तुम जो मुझे नहीं देख पायी, इसका, कारण यह था कि मैं यहीं छिप गया था। तुम्हारे समीपमें रहकर ही गोपनमें तुम्हारी भजना कर रहा था। मेरे अदर्शन-हेतु व्याकुल होकर तुमलोग जिस प्रकार निरवच्छिन्न भावसे मेरा स्मरण कर रही थी, मैं उसका रसास्वादन कर रखा था। जिस प्रकार भक्त मेरा भजन करते हैं, उसी प्रकार मैं भी उनकी भजना करता हूं। जब मेरा भक्त व्याकुल होकर मेरे लिये क्रन्दन करता है तब उसका वह अश्रुपूर्ण और वेदनापूर्ण वदन देखकर मुझे आनन्द प्राप्त होता है। जिस प्रकार छोटा बालक छिप जाता है और उसकी मा व्याकुल होकर उसे खोजती है तब मा को व्याकुल देखकर बच्चे को आनन्द मिलता है, उसी प्रकार का मेरा आनन्द भी समझो। मेरे अ-दर्शन-हेतु जब तुम व्याकुल होकर क्रन्दन कर रही थीं, तब मैं उसका उपभोग कर रहा था। "भक्त को विरह-दुःख देकर सुख मिलता है, आनन्द उपभोग करता हूँ"—श्रीकृष्णके ये वचन सुन्दर नहीं लगते, किन्तु श्रीभगवान् कह रहे हैं—"क्या करूं ? यह तो मेरा अपरिहार्य स्वभाव है। गोपियों सदृश शुद्ध, निर्मल कृष्णानुराग किसी में नहीं है, अतः उन्हें रुलाकर जैसा सुख प्राप्त होता है वैसा कुत्रापि नहीं मिलता। इसी लोभवश तो मैं छिपा था; तुम्हारा कोई उपकार करनेहेतु थोड़े ही छिपा था। तुम लोगों का मेरे प्रति अगाध और निरुपाधि प्रेम है। तुम्हारे–सदृश प्रेममयी देवियों के कल्याण-सिद्धिमें रत्तीभरकी भी कमी नहीं रहती। सुतरां यह बात सत्य नहीं है कि मैंने तुम्हारे प्रेममें वृद्धिहेतु तुम्हारे प्रति उपकार करने–हेतु तुम्हें विरह–दुःख दिया था। मैं तो अपने निजीय स्वार्थ और लाभके लियेही अन्तर्हित हुआ था। सत्य है, कि अपने स्वार्थके लिये अन्यको कष्ट देना उचित नहीं, अतः मैं यह दावा भी नहीं करता कि मैंने जो कुछ किया है वह अच्छा किया है। मैंने अपने उपरोक्त अद्भुत स्वभाववश जो कुछ किया, वह अच्छा नहीं किया; अतः तुमलोग यदि चाहो तो उसके लिये मुझे अपराधी मान भी सकती हो। विशेष रूपसे मैंने तुम्हें जैसा निदारुण दुःख दिया, उसके लिये तुमलोग असूयापूर्वक मुझे जपराधी घोषित करो तो कुछ भी असंगत नहीं होगा। अपनी प्रियाओंके प्रति तादृश व्यहार वस्तुतः सर्वतोभावसे अनुचित है। अधिक क्या कहूं, यदि तुमलोग इसके लिये मेरी भर्त्सना भी करो तो उससे भी मुझे आनन्द ही प्राप्त होगा। मैं भलीभांति अवगत हू कि तुम्हारे प्रत्येक कार्य के मूलमें मेरे प्रति तुम्हारा दृढ़ अनुराग ही है। सुररां तुम्हारा प्रणयरोष, कटाक्ष दृष्टि अथवा भर्त्सना सब कुछ मधुरही लगेगा। कितना मधुर लगेगा, बताऊ ? वेदमंत्रों द्वारा स्तुति करने पर मुझे जो आनन्द मिलता है, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक आनन्द तुम्हारी प्रणय-गञ्जना से प्राप्त होता है।

प्रिया यदि मान करि करये भर्त्सन। वेदस्तुति हैते ताहा अधिक हरे मन ॥ चै. चरितामृत।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपने अनुनय चातुर्य से प्रियाओं को प्रसन्न किया ॥ २१ ॥

(३६)

व्रजदेवियोंके प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् ने मानवीय प्रेमका विश्लेषण किया है, निजप्रेमका विशेषत्व कहा है और प्रसङ्गवश गोपी प्रेमका सर्वश्रेष्ठत्व निरूपित किया है। श्रीकृष्णने अपने अनुनयचातुर्यसे गोपियोंके अन्तरमें जिस असंतोषका

धूम्र दृष्टिगोचर हुआ था, उसे भी दूर कर दिया है। यहीं पर प्रश्नोत्तर-आलोचना की समाप्ति हो जानी चाहिये थी, किन्तु श्रीकृष्णके अन्तरमें अभी तक बोलनेका वेग अवशिष्ट है। जबतक पूरी बात न कह दी जाय तबतक शान्ति नहीं मिल रही है। इसीलिये श्रीकृष्णने विना किसी प्रश्नके ही एक विशेष बात कह दी—"न पारयेऽहं⋯" श्लोकान्तर्गत।

श्रीकृष्ण बोले—"मैं नहीं कर सकूंगा क्योंकि मैं असमर्थ हूँ।" क्या नहीं कर सकेंगे? सर्वशक्तिमान्के लिये भी कोई असंभव कार्य हो सकता है क्या? बोले—"स्वसाधुकृत्यम्—अर्थात् अपनी साधुकारिताकी रक्षा नहीं कर सकूंगा।" व्यवसाय अथवा आदान-प्रदानके क्षेत्रमें कोई वचन देकर उसे पूर्णतया पालन करनेको साधुकारिता कहा जाता है। जिसकी साधुकारिता नष्ट हो जाती है उसका कोई भी विश्वास नहीं करता। श्रीभगवान्की साधुकारिता आज नष्टप्राय है क्योंकि वे अपना प्रतिज्ञा-वाक्य पूरा नहीं कर पा रहे हैं। किन्तु श्रीभगवान् अपनी प्रतिज्ञाका पालन नहीं कर पा रहे हैं, यह बात तो अन्य किसीके ध्यानमें नहीं आयी, फिर उस बातको स्व-प्रेरित होकर प्रकट करनेका क्या प्रयोजन था और किसके दबावसे उन्हें यह बात कहनी पड़ी? वे सत्यस्वरूप हैं, इसीलिये उन्हें यह बात कहनी पड़ी। गीतामें श्रीभगवान्का एक प्रतिज्ञा वाक्य है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" (४।११)—जो व्यक्ति मेरी जिस भावसे भजन करता है, मैं भी उसकी उसीभावसे भजना करता हूँ।

कृष्णेर प्रतिज्ञा दृढ सर्वकाले आछे। ये यैछे भजे कृष्ण तारे भजे तैछे॥ चै० चरितामृत।

"गोपियोंको विरह-समुद्रमें डुबाकर मैं छिप गया था (तिरोहितम्)"—इस बातको कहते समय श्रीकृष्णने अपना विशेषण दिया है 'भजता'—अर्थात् वे उस समय अपनी प्रेयसियोंकी भजना कर रहे थे। यदि यह सत्य हो, तब विचारणीय प्रश्न यह है कि श्रीकृष्णकी भजना गोपियों द्वारा किये गये भजनके अनुरूप थी या नहीं। किन्तु इसका निर्णय कौन करेगा? श्यामसुन्दर स्वयं ही स्वयंके विचारक हैं। उन्होंने स्पष्टरूपसे निर्णय किया कि उनके द्वारा गोपियोंके अनुरूप भजना नहीं हो पायी, अतः साधुकृत्यका पालन भी नहीं हुआ। गोपियोंने सर्व-त्यागपूर्वक श्रीकृष्णकी भजना की, किन्तु उन्होंने तो गोपियोंके निमित्त कुछ भी त्याग नहीं किया। इससे पूर्व त्याग नहीं किया तो कोई बात नहीं, अब त्याग करनेसे भी प्रतिज्ञाकी रक्षा हो सकती है। किन्तु श्यामसुन्दर इस प्रकारका कोई प्रयास किये विना ही बोल बैठे—"मैं गोपियोंके अनुरूप प्रेम करनेमें असमर्थ हूँ, अतः मैं इसके लिये गोपियोंका चिर-ऋणी रहूँगा।" इस श्लोकमें श्रीकृष्ण द्वारा गोपियोंके ऋणकी स्पष्ट स्वीकारोक्ति व्यक्त हुयी है।

ऐ प्रेमार अनुरूप ना पारे भजिते। अत एव ऋणी कृष्ण कहे भागवते॥ चै० चरितामृत।

कोई कोई ऐसा भी सोच सकते हैं, कि अभी नहीं तो दीर्घकालकी अवधिमें श्रीकृष्ण गोपियोंका ऋण धीरे-धीरे परिशोध कर सकते हैं। क्योंकि श्रीकृष्ण और गोपियोंकी स्थिति तो नित्यकालीन है। यदि करोड़ों रुपयोंका ऋण हो, फिर भी प्रतिदिन एक पैसा चुकाने पर भी एक दिन तो पूरे ऋणका भुगतान हो ही जायगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। ऋण का व्यवधान संख्यागत होता तो उसका परिशोध सम्भव पर हो सकता था, किन्तु जब व्यवधान गुणगत हो, तब अनन्तकालावधिमें भी उसका परिशोध होना असम्भव है।

गोपियां श्रीकृष्णके समीप जिस प्रकार दौड़ी चली आयी हैं, यदि श्रीकृष्णभी गोपियोंके निकट उसी प्रकारसे सब-कुछ त्याग करके दौड़ते हुये जा सकें, तभी साधुकृत्यकी रक्षा हो सकती है। किन्तु श्रीकृष्ण ऐसा नहीं कर सकते। दोनोंके प्रेममें एक विराट गुणगत पार्थक्य विद्यमान है।

गोपी गृह-वधू है, अतः श्रीकृष्णके निकट आनेमें उसे अनेक बाधायें लङ्घन करनी पड़ी हैं। जैसे कि आत्मीय-स्वजनोंकी बाधा, समाजकी बाधा, वेद-धर्मकी बाधा, अपने पतियोंकी प्रबल बाधा इत्यादि। वे इन समस्त बाधाओंका लंघन करके श्रीकृष्णके समीप पहुंची हैं। अन्तिम और प्रबलतम बाधाकी सृष्टिकी स्वयं श्रीकृष्णने—उपेक्षारूपी बाधा। गतिशील वस्तुमें बाधा उत्पन्न हो तो वेग वृद्धि प्राप्त होता है। स्रोतस्विनी जितनी बार बांध तोड़कर अग्रसर होती, उसकी गति भी उसी परिमाणमें तीव्रतर होगी। अनेक बाधायें अतिक्रम करने-हेतु गोपियोंके कृष्ण-प्रेमका वेग अत्यन्त प्रबल है। पक्षान्तरमें श्रीकृष्ण को गोपीके समीप आनेमें किसी बाधाका अतिक्रमण नहीं करना पड़ा, सुतरां उनके अनुरागमें उतना अधिक वेग किस प्रकार हो सकता है? गोपीका प्रेम तो मानो वर्षा ऋतुकी वेगवती स्रोतस्विनी है और कृष्णका प्रेम मानो अगाध-जलपूर्ण सरोवर है। अतः दोनोंमें गुणगत पार्थक्य भूरिमात्रायें है।

गोपियां तो सब-कुछ त्याग करके कृष्णाभिमुख धावमान हो गयीं, श्रीकृष्ण ऐसा नहीं कर सकते। गोपी भक्त है, श्रीभगवान्के अतिरिक्त उसका न कोई वांछित है, न अन्य आश्रय है। श्रीकृष्ण भगवान् हैं, उनके अनेक भक्त हैं अतः किसी भी भक्तकी उपेक्षा नहीं कर सकते। उन्हें तो सभी भक्तोंकी तरफ दृष्टि रखनी पड़ती है, भले ही वह भक्त कैसा ही क्यों न हो।

अतः दोनोंमें गुणगत पार्थक्य है। गोपी भक्त है, इसलिये उनके चित्तमें एकाग्रता, एकतानता और एक निष्ठता है, उसके लिये सर्वस्व त्याग करके एकके प्रति आत्मदान सम्भव है। श्रीकृष्ण भगवान् हैं, इसलिये उनकी दृष्टि बहुमुखी है, उन्हें अनेक जनोंकी चिंता रहती है, अतः उन्हें सर्वदा अनेक जनोंके अनुरूप भजन करना पड़ता है। सुतरां यह पार्थक्य किसी भी प्रकारसे मिटाया नहीं जा सकता (मच्चित्तन्तु बहुषु प्रेमयुक्ततया नैकनिष्ठम्–श्रीधर)। इसीलिये श्रीकृष्णने कहा कि वे यदि ब्रह्माकी आयुकालकी अवधि तक भी प्रयत्न करें, तो भी इस ऋणका परिशोध नहीं कर पायेंगे। गोपीको बंधन था, अतः बंधन छिन्नकर दिया; किन्तु श्रीकृष्णको तो कोई बंधन नहीं है अतः बंधन छिन्न करनेका प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। गोपी कृष्णके प्रति एकनिष्ठ है, कृष्णके अतिरिक्त अन्य सर्वका त्याग कर दिया है। श्रीकृष्णकी अनेक भक्तोंके प्रति निष्ठा हैं, वे किसीका भी त्याग नहीं कर सकते। इस पार्थक्य-हेतु ही गोपी-प्रेम की नदी जितने वेगसे श्रीकृष्णकी दिशामें प्रवाहित हुयी है, श्रीकृष्णकी गोपी-प्रेम-सरितामें उतना वेग उत्पन्न ही नहीं हो सका। यदि ऐसा होना सम्भव होता तो उनके प्रतिज्ञा-वाक्यकी पालना हो जाती, उनका साधुकृत्य अखण्ड रहता किन्तु ऐसा हुआ नहीं। अतएव श्रीकृष्ण ऋणी ही रह गये। सुदीर्घकालावधिमें भी इस ऋणका परिशोधन करनेका कोई उपाय नहीं है।

क्या सचमुच-ही ऋण-परिशोधका कोई उपाय नहीं है? क्या चिरकालावधि इस ऋण-भारको वहन ही करना पड़ेगा? नहीं, एक उपाय है। श्रीकृष्णने ही वह उपाय बता दिया—"तद्वः प्रतियातु साधुना"। श्रीधर स्वामिपादने इसकी टीका में लिखा है—"वो युष्माकमेव साधुना साधुकृत्येन तत् युष्मत्साधुकृत्यं प्रतियातु प्रतिकृतं भवतु। युष्मत् सौशील्येनैव ममानृण्यम्; न तु मत्कृतप्रत्युपकारेणेत्यर्थः" अर्थात् तुमलोगोंकी उदारता यानि सौशील्य गुणके द्वारा ही मेरी ऋणमुक्ति हो सकती है। श्रीकृष्णके किसी प्रयास से यह ऋण-शोध नहीं हो सकता, यह पूर्व में ही आलोचित हो चुका है।

ऋण-मुक्ति-हेतु गोपी अपने सुशीलता–गुण द्वारा क्या उपाय कर सकती? गोपी निम्न उपाय कर सकती है—"जिस प्रेम द्वारा गोपीने कृष्णको ऋणी बनाया है, वही प्रेम यदि गोपी श्रीकृष्णको दानमें दे दे, अर्थात् जिस महाभाव द्वारा कृष्ण ऋणी हुये, उस महाभाव से यदि गोपी श्रीकृष्णको पूर्णतया व्यापृत करदे, तभी ऋण शोध हो सकता है। गोपी भक्त है, उसका प्रेम आश्रयजातीय है श्रीकृष्ण भगवान् है, उनका प्रेम विषय–जातीय है। यदि गोपी अपने आश्रयजातीय प्रेमद्वारा श्रीभगवान् को पूर्णतया अभिभूत करके उन्हें प्रकृत भक्तमें परिवर्तित कर सके, तभी यह ऋण परिशोध हो सकता है।

यह एक अघटन-विशेष है। भगवान् भक्त होकर भक्तकी भांति क्रन्दन करें और अभिसारिकाकी भांति 'प्राणकान्त' कहते हुये दौड पड़ें—यह एक अपूर्व–कथन है। किन्तु यह अघटन भी एकदिन जगज्जीवोंके महाभाग्यसे घटित हुआ था। यह घटना घटित हुयी थी नवद्वीपमें शचीमाताके अंगनमें। रसिक भक्त इसका संधान रखते हैं। पुन भक्त वेशी भगवान्का, उन गोपी–वेशी गोविन्दको, उन राधावेशी श्यामसुन्दरको जीवोंके द्वार–द्वार पर क्रन्दन करते हुये देखकर श्रीश्रीप्रभुजगद्बन्धुसुन्दरने कहा है—"ठाकुर, केवल आपके क्रन्दन करने से ऋण-शोध नहीं होगा"।

"धार शोध नाइ, हरिनाम इ राइ ऋण"

केवल नयनोंसे अश्रुधारा बहाने से ऋण-मुक्ति नहीं होगी। यदि कभी विश्वके प्रत्येक जीवके कण्ठसे हरिनाम ध्वनित हो यदि विश्वके समस्त प्राणियों के मुखसे हरिनामका उच्चारण करा सको, तभी महाउद्धारण-व्रत का उद्यापन होगा और राइऋणका परिशोध होगा॥ २२॥

इति दशमस्कन्धके ३२ वें अध्यायकी फेलालव व्याख्या समाप्त हुई।

(३७)

रसराज श्रीगोविन्दने अपनी सुमधुर वाक्चातुरीसे गोपियोंके हृदयका समस्त क्षोभ, अभिमान एवं जलनका हरण कर लिया। नेत्रोंके अन्तरालमें रहते हुये भी वे अपनी प्रेयसी ब्रजाङ्गनाओंका त्याग करके कभी जाते भी नहीं, न जा ही सकते हैं। इस प्रेम-सने वचनसे गोपियोंकी कृष्ण-विरह-वेदना एवं भविष्यत्-विरह-आशंका अब पूर्णरूपसे निर्मूल हो गयी। प्राणकान्त श्रीकृष्णके परम रमणीय कर-चरणोंका स्पर्श प्राप्त करके गोपियोंको परम शांतिका अनुभव हुआ। श्रीकृष्णभी गोपियोंका अंग संग प्राप्त करके परम तृप्त हुये।

सभीका अन्तर आनन्दरससे छलक रहा है, विश्व-प्रकृति भी आनन्दमग्ना है। शारद ज्योत्स्नाविधौत यमुनापुलिनपर परमप्रेममयी गोपीवृन्दके संग श्रीकृष्णकी परममाधुर्यमयी सर्वलीलाशिरोमणि श्री श्रीरासलीला प्रारम्भ हुयी। ब्रजरामाओंने रासमण्डलीकी रचना की, वे परस्पर बाहुपाशसे आबद्ध होकर गोलाकारमें दण्डायमान हुयीं। उनके मध्यभागमें रासरसके

नायक श्री गोविन्द थे। मधुर छन्द नृत्य एवं छन्दसे दोनोंका मिलन-माधुर्य रूपायित हो उठा, गोपी-गोविन्द कलापूर्ण नृत्य-विलासमें मत्त हो गये।

रासनृत्य। रासः नाम बहुनर्त्तकी युक्तो नृत्यविशेषः—अर्थात् अनेक नर्त्तकी युक्त एक विशेष प्रकारके नृत्यका नाम रास है। क्रमसंदर्भमें वर्णित रास अथवा 'हल्लीशक' नृत्यका लक्षण यह बताया है कि नृत्यकेलिमें मण्डलाकारमें नृत्यरता असंख्य नर्त्तकियोंके मध्यमें अकेला एक ही नट नृत्याभिनय करता है। वही नृत्य विविध ताल और विचित्र गतिवेगमण्डित होने पर रासनृत्य नामसे उल्लिखित होता है। श्रीगोविन्दने अपूर्व छन्द-गतिसे प्रत्येक गोपी-मण्डलीमें प्रवेश किया और उन्हें आलिंगन प्रदान किया। सभी गोपियोंको ऐसा लग रहा है कि श्रीकृष्ण उसके निकट ही विद्यमान हैं। इस अपूर्व रासनृत्यका प्रेमिक भक्त गोविन्ददासने अपूर्व वर्णन किया है—

काञ्चन मणिगणे, जनु निरमायल, रमणीमण्डल माझ।
माझ ही माझ, महामरकत सम, श्यामरु नटवर राज॥
धनि धनि अपररूप रासविहार। घिर बिजुरि सङ्गे, चञ्चल जलधर, रस बरिखये अनिवार॥

महान् साधक विल्वमङ्गल ठाकुरने ध्यान नेत्रोंसे रासलीलाका दर्शन करके निम्नरूपसे वर्णन किया है—

अङ्गनामङ्गनामन्तरा माधवो माधवं माधवञ्चान्तरेणाङ्गना।
इत्थमाकल्पिते मण्डलि-मध्यगः वेणुना संजगौ देवकीनन्दनः॥

ऐसा लग रहा है मानो दो-दो गोपरमणियोंके मध्यमें एक श्रीकृष्ण हैं और दो-दो कृष्णके मध्यमें एक गोपरमणी हैं—इसप्रकारकी रासमण्डलीकी रचना करके मण्डलीके मध्यभागमें देवकीनन्दनने खड़े होकर अपनी मुरलीपर मधुर तान छेड़ी। जितनी गोपियां उतने-ही कृष्ण—इस दृश्यसे विराट ऐश्वर्यकी अभिव्यक्ति हुयी है। समस्त ऐश्वर्यकी अभिव्यक्ति योगशक्ति द्वारा ही सम्पन्न होती है और योगशक्ति श्रीभगवान्के अधीन रहती हैं, उनकी सेवा-मात्र करती हैं। सम्पूर्ण योगशक्तिके ईश्वर अथवा नियन्ता श्रीकृष्ण ही हैं। "योगेश्वरेण कृष्णेन" पद द्वारा यही सूचित हुआ है। श्रीकृष्ण अपने अचिन्त्य वैभवके प्रभावसे प्रत्येक व्रजाङ्गनाके पार्श्वमें निज-मूर्तिसे विराजमान हुये।

किन्तु यह विराट ऐश्वर्य भी श्रीरास रसके माधुर्यसे आवृत है। प्रत्येक गोपी प्राणगोविन्दको अपने पार्श्वमें देखकर आत्मविभोर हो गयी। विपुल ऐश्वर्यका विलास होते हुये भी रासलीलाका असमोर्ध्व माधुर्य ही सर्वोपरि विराजित है। रस-राज श्रीकृष्ण अपनी अन्तरंगा शक्ति स्वरूपिणी गोपियोंके संग रसमयी क्रीडाका विस्तार करते हुये आनन्दका आस्वादन कर रहे हैं। रसघन-विग्रह श्रीकृष्णकी रसास्वादन-लीला ही रासलीला है।

आचार्योंने लीलाका अन्यप्रकारसे भी आस्वादन किया है—अस्य व्रजाङ्गनामध्यगतत्वम् आलातमिव दर्शनं चक्रभ्रम-न्यायेन नृत्यविशेषकौशलेन इति बोध्यं न तु ऐश्वर्येन। श्रीकृष्णके एक अपरूप नृत्य-कौशल-हेतु वे एक ही समय आलात-चक्रवत् सर्वत्र अनेक-कृष्ण-मूर्तियोंकी भांति दिखलायी पड़ रहे हैं। यह मात्र नृत्य-कौशल है, किसी प्रकारका ऐश्वर्य नहीं है। श्रीशुकदेवजी ने इस दृश्यका वर्णन किया है—"स्वनिकटं मन्येरन्" पद द्वारा; अर्थात् गोपियोंने श्रीकृष्णको निज-निज पार्श्वमें मान लिया था, प्रत्यक्ष देखा नहीं था। श्री सनातन गोस्वामिपादने भी कहा है—'कयाचिन्नाट्यविद्यया असौ बहुत्र भाति', अर्थात् अपनी अपूर्व नाट्यविद्याके प्रभावसे एक ही श्रीकृष्ण अनेक स्थानोंपर प्रकाशित हो रहे हैं, किन्तु प्रत्येक गोपी अपने मनमें समझ रही है कि एकमात्र मैंने ही श्रीकृष्णका कण्ठ धारण कर रखा है। आनन्दातिरेकसे तन्मयतावश कोई भी गोपी अन्य युगलके विषयमें कुछ भी जान नहीं पायी।

गोपीमण्डलीके केन्द्रस्थानमें श्रीराधागोविन्द उपस्थित हैं। एक त्रुटिकालावधिमें ही श्रीकृष्ण रासमण्डलके केन्द्रस्थान से अपूर्व क्षिप्रतापूर्वक नृत्य करते हुये करोड़ों गोपियोंके पार्श्वमें अवस्थित होकर उन्हें आलिंगन प्रदान कर रहे हैं, और पुनः केन्द्रस्थल पर आ जाते हैं। योग मायाकी शक्तिके प्रभावसे हो श्रीभगवान् इसप्रकारका विलास-वैभव प्रकट कर रहे हैं।

"नाचत घन नन्दलाल रसवती करि संगे।" नृत्यके अपूर्व रंगसे चराचर विश्वप्रकृति भी आनन्दवश नृत्यपरायणा हो रही हैं। स्वर्गके देवगण भी आनन्दावेशमें मग्न हैं। निखिल ब्रह्माण्डके सर्वत्र रासलीलाके आनन्दकी वार्ता पहुँच गयी है। निज-निज पत्नियों सहित समागत देवताओंके विमानसमूहसे नभमण्डल परिव्याप्त हो गया है। स्वर्गलोकमें मेघमन्द्रस्वरसे दुन्दुभि अपने-आप बजने लगी हैं। आनन्दोत्फुल्ल देवगण रासनृत्य दर्शन करके श्रद्धापूर्ण हृदयसे रासस्थलीपर पुष्पवृष्टि कर

रहे हैं। श्रीराधा गोविन्दकी आनन्दवृद्धि हेतु श्रेष्ठ गन्धर्व अपनी पत्नियों सहित सम्मिलित स्वरसे श्रीगोविन्दकी पवित्र यशोगाथाका मधुर स्वरमें कीर्तन कर रहे हैं।

नृत्यकी ताल पर सुमधुर वाद्यसंगीत हो रहा है, न जाने कितने प्रकारके वाद्ययंत्र हैं और कितनी विविध प्रकारकी तानें बज रही हैं। व्रजरमणियोंके वलय, नूपुर, किङ्किणी प्रभृति उस तालमें अपनी झङ्कार मिल रही हैं।

बाजत कत यन्त्र सुतान। कत कत राग आन करु गान॥
कत कत अङ्ग भङ्ग करु कत कम्प, कङ्कण किङ्किणीं वलया निशान।
अपरूप नाचत राधा कान॥

नटवर श्रीश्यामसुन्दर और नृत्यपरायणा व्रजवधुओंके कर स्थित वलयादि, चरणस्थित नूपुरादि एवं कटितटस्थित किङ्किणीमें से उद्‌भूत निक्कण ध्वनिसे एक अभिनव तुमुल स्वरकी सृष्टि हुयी उस सम्मिलित शब्द-झङ्कारसे सारी दिशायें परिव्याप्त हो गयीं॥ १-६॥

(३८)

श्रीरासमण्डलीमें गौरवर्णा व्रजसुन्दरीगण और श्यामलाङ्ग श्रीगोविन्दके मिलन-माधुर्य का वर्णन प्रस्तुत है। व्रजाङ्गनाएँ स्वर्णकान्ति हैं और श्रीकृष्ण श्यामकान्ति हैं। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो दो स्वर्णकान्तमणियों के मध्यमें एक–एक महामरकत अर्थात् नीलमणि के संयोगसे एक दिव्य माला रचित हुयी है। वस्तुतः श्यामसुन्दर असमोर्ध्व सौन्दर्यके अधिष्ठान होने पर भी मानो आज गोपीमण्डित होने-हेतु एक अपूर्व शोभा-सम्पदसे विभूषित हो गये हैं, मानो प्रकाश एवं अंधकार एक-ही स्थान पर सम्मिलित होकर क्रीड़ा नाट्य प्रकट कर रहे हैं।

कत-कत चाँद, तिमिर पर विलसइ, तिमिरहु कत-कत चाँदे।

इसके अतिरिक्त श्लोकमें एकवचनान्त 'मध्ये' पदके प्रयोग से यह भी व्यञ्जित हो रहा है, कि गोपी-स्वर्णमणि समूहोंके मध्यमें गोविन्दाख्य एक नीलमणि विराजित है। श्रीसनातन का कथन है—"सर्वषु मध्येषु इत्यर्थः। अतो मण्डलमध्यस्थोऽप्येकं प्रकाशं ज्ञेयम्" अर्थात् मध्य कहने का तात्पर्य है, श्रीरासमण्डलीके ठीक केन्द्रस्थल पर श्रीराधाकृष्ण की युगलमूर्ति विराजमान है। यह स्वरूप ही रासमण्डली की अतिशय शोभा सम्पादन पूर्वक गौरव-सहित बिराजमान है। किन्तु प्रत्येक गोपी ही सोच रहीं थी कि श्रीगोविन्द उसके पार्श्वमें अवस्थान कर रहे हैं। माला-मध्यगत मणिकी भांति भानुनन्दिनीके प्रच्छदपटपर निज विश्वविमोहन श्यामरूप प्रतिच्छविको सर्वातिशायी सौन्दर्यमण्डित करते हुये श्रीव्रजसुन्दर गोपीमण्डलीके मध्यमें प्रकाशित हो रहे थे। अनन्त- सौन्दर्यके अधीश्वर होंने पर भी श्रीकृष्णका शोभा-सौन्दर्य व्रजाङ्गनाओं की अङ्गच्छटा-हेतु निरतिशय वृद्धिप्राप्त हो रहा है—यह एक अभिनव वार्ता है। 'अतिशुशुभे' पदद्वारा श्री शुकदेव जीने यह आश्चर्यजनक रहस्य प्रकट किया है।

गोपीमण्डलीमें श्यामसुन्दर की शोभाका वर्णन करने के पश्चात् श्रीशुकदेवजी अब गोविन्दके साहचर्य-हेतु गोपियों की अपरूप शोभाका वर्णन कर रहे हैं। जिस प्रकार विद्युल्लताके पार्श्वमें ही मेघकी उज्ज्वलता व्यक्त होती है, उसी प्रकार श्याम-मेघके पार्श्वमें ही विद्युल्लता की भी शोभा वृद्धिप्राप्त होती है। गोपी-सन्निधानमें श्यामसुन्दर सुन्दतर लगते हैं, उसी प्रकार श्याम-सन्निधानमें गोपीकी शोभा उज्ज्वलतर प्रतिभात होती है। श्रीकृष्ण-नवजलधरके सन्निधानमें गोपियां तड़ित्-लता की भांति ही शोभायमान हो रही हैं। विद्युत् चञ्चला होती है। रासमण्डलमें नृत्यपरायणा गोपियोंके कर एवं चरणोंके द्रुत सञ्चालनसे यही प्रकटित हो रहा है। व्रजसुन्दरियोंके कटिप्रदेश का मध्यभाग कृश है, नृत्यभङ्गी की मधुरता-हेतु वह बल खाता हुआ और अधिक बङ्किम हो रहा है। गोपियोंके द्रुत चंचल पद-विन्यास, हस्तसंचालन और अङ्ग-भङ्गासे उनका वक्षस्थल-स्थित उत्तरीयांचल शिथिल हो रहा है। कर्णोंके मणिकुण्डल दोलायमान होते हुये प्रेमपूर्वक उनके गण्ड-स्थलों का स्पर्श कर रहे हैं। रासके प्रारम्भमें उनके केशपाश और कटि-काञ्चा दृढता पूर्वक कसे हुये थे; रासनृत्यकी प्रस्तुतिमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं थी। उनके अधरोंके मधुर हास्य और विचित्र भ्रूविलाससे अपूर्व माधुरी व्यक्त होकर बिखर रही थी। नृत्य श्रम-हेतु मुखमण्डल पर स्वेद-बिन्दु चमकने लगे थे, मानो मेघजड़ित विद्युल्लता से जल-बिन्दु झर रहे हों। प्रेममयी गोपिया प्राणगोविन्दके रूप गुण-लीला कीर्तन में विभोर हो रही थीं। उस गीतध्वनिसे मेघगर्जनके अनुरणन का आभास हो रहा था। श्याम रूप मेघमण्डलमें गोपी-विद्युत् की माला विजड़ित होकर अनुपम शोभाका विस्तार कर रही थी।

श्लोकमें श्रीशुकदेवजीने गोपाङ्गनाओंको "कृष्णवध्वः" अर्थात् कृष्णवधू कहकर उल्लेख किया है। यदि गोपियां कृष्णवधू ही होतीं तो पूर्वमें श्यामसुन्दरने समागत गोपियोंका "रात्रिकालमें परपुरुषके निकट अवस्थान उचित नहीं है"—

इत्यादि वाक्योंसे प्रत्याख्यान क्यों किया था ? वस्तुतः गोपियां परकीया रसकी नायिकायें हैं। "परकीया प्रेमे अति रसेर उल्लास"। रसिकशेखर श्रीकृष्ण परकीया रसके ही आस्वादपरायण हैं। अतएव यहां 'कृष्णवधू' पदका तात्पर्य है—"जिस प्रकार मेघ विद्युत्का आश्रय है, पति वधूका आश्रय है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण गोपियोंके देह-मन-प्राणके सर्वतोभावसे आश्रयस्थल हैं"। उन्होंने आर्यपथका त्याग करके श्यामसुन्दरके लिये अभिसार किया था। सुतरां 'वधू' शब्दका अर्थ यहां पत्नी नहीं है। व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्णाश्रिता हैं, श्रीकृष्ण कर्तृक उपभोग्या हैं, इसलिये वधूके अनुरूप हैं—यही श्रीशुकदेवजीका हार्द अर्थात् आशय प्रतीत होता है।

विद्युत्-विलासित मेघकी भांति गोपी वेष्टित गोविन्दका अपरूप रासविलास चल रहा है। आनन्दरसके वर्षणसे सर्वदिशायें प्रफुल्लित हैं। रासरसकी एक बूंदसे त्रिभुवन प्लावित हो सकता है। कामनावासनाहत त्रितापदग्ध दुःखी जीवोंके लिये यही उपजीव्य है, दुःखनिवृत्तिकी महौषधि है और आनन्दप्राप्तिका प्रकृष्ट उपाय भी है। इसीलिये कविराज गोस्वामीने अपनी निरुपम भाषामें इसे इस प्रकार व्यक्त किया है—

कृष्ण नवजलधर, जगत् शस्य ऊपर, वरिषये लीलामृतधार।

हास्य-लास्य, नृत्य-गीत, विलासपूर्ण रासकेलिमें व्रजाङ्गनाओंके कण्ठ और गानके निरतिशय माधुर्यका सुंदर वर्णन किया गया है। विविधरागरागिणियोंसे जिनका कण्ठ अनुरञ्जित है अथवा प्रेम-हेतु जिनका कण्ठ स्निग्ध एवं कोमल हो गया है (रक्तकण्ठी), इस प्रकार की व्रजदेवियोंकी मधुर गीत-ध्वनिसे वायुमण्डल व्याप्त हो रहा है। उनके अन्तरका आनन्द आज रासरसिक सच्चिदानन्द-तनु श्रीकृष्णके अङ्गसंगलाभसे पूर्णताप्राप्त होकर उनकी उच्च संगीतलहरीमें रूपायित हो उठा है। संगीतका एक कारण 'रतिप्रियाः' शब्द द्वारा निर्देशित हुआ है। 'रति' अर्थात् श्रीकृष्ण-प्रीति ही जिनकी एकमात्र प्रिय वस्तु है। यदि वे श्रीकृष्णको सुखी कर सकेंगी तो श्रीकृष्ण उन्हें अपनी प्रीतिका दान करेंगे-इस प्रकारकी भावनासे कृष्णसुखसाधन संगीत-सुधामें मूर्त हो गया है। नृत्य और उच्चस्वरसे गान-हेतु भी उन्हें किसी प्रकारके श्रम या कष्टका अनुभव नहीं हुआ, कारण वे श्रीकृष्णके संगलाभसे प्रमुदित एवं उल्लसित हो रही थीं और उनका हृदय रासरसके दिव्य माधुर्यसे पूर्ण हो गया था। वही मधुर नृत्य और उच्च संगीतालापमें रूपायित हो रहा था। उनका नृत्य-पारिपाट्य और संगीतकलानैपुण्य दर्शन करके श्यामसुन्दर उन्हें पुनः पुनः आलिंगनद्वारा अभिनन्दित कर रहे थे। उनके राग-मधुर कण्ठविनिर्गत संगीत-सुधाके माधुर्यधारा प्रवाहसे निखिल विश्व प्लावित और अमृतमय हो उठा था।

श्रीरासलीलाकालमें गोपियोंने जिस ताल-स्वर-लय-समन्वित विविध रागोंके संगीतालाप द्वारा श्रीकृष्णका मनोरंजन किया था, इस लीलाके द्रष्टा श्रीशुकदेवजीने उसका किञ्चित विवरण दिया है। चिर आकांक्षित श्रीअंगसंगलाभ-हेतु गोपियां अतिशय उल्लसित हैं। विशाखा नामकी सखीने श्रीकृष्णके कण्ठके संग ताल मिलाकर अत्यंत मधुरस्वरसे गाना प्रारम्भ किया। यद्यपि वे श्रीकृष्णके सहित ताल मिलाकर गा रही थीं, तथापि उनके कण्ठका स्वर अविमिश्रित था। उन्होंने संगीतमें स्वरजातिकी विशुद्धताको अव्याहत रखते हुये इस प्रकारकी मनोरम मूर्च्छनाकी सृष्टिकी कि अखिल-कलागुरु श्रीमुकुन्दने भी विस्मित होकर विशाखाका बहु सम्मान और समादर किया। तब ललिता नामकी अपर सखीने उक्त स्वरजाति-समन्वित संगीतमें ध्रुपद नामकी प्रसिद्ध तानका संयोजन किया। विशाखाकी अपेक्षा भी अधिक संगीत-नैपुण्यका प्रदर्शन करने-हेतु श्रीकृष्ण अत्यधिक प्रीत हुये और उन्हें बहुतर सम्मान एवं परमादर प्रदान किया। वैष्णवकविने इसके माधुर्यका इस प्रकार आस्वादन किया है—

ललित ललित धरत ताल, मोहित मदनमोहन लाल,
कहतहि अति भाल भाल, राधा गुण-शालिनी ॥ ७-१० ॥

(३९)

श्रीरासस्थली पर नृत्य-गीत परिवेशनद्वारा श्रीकृष्णकी प्रीति सम्पादन करने वाली व्रजाङ्गनाओं को बहुतर सम्मान एवं परम आदर प्राप्त हुआ। अब कतिपय गोपियोंकी सम्भोगमय प्रेमचेष्टाओंका वर्णन किया जा रहा है। तन्मध्ये इस श्लोकमें किसी एक विशेष गोपीके प्रेम-सौभाग्यका वर्णन कर रहे हैं। श्रीरासलीलाकी सर्वश्रेष्ठ नायिका हैं कृष्ण-प्रेयसोमुख्या श्रीराधा। उनके कृष्णसुखैकतात्पर्यमय चित्त-वेलाभूमिपर नाना भावोंकी तरंगे क्रीडाकर रही हैं। प्रेममयी श्रीराधा इस समय स्वाधीनभर्तृका नायिका की भूमिकामें हैं। स्वाधीनभर्तृका का लक्षण है—'स्वायत्तासवदयिता भवेत् स्वाधीनभर्तृका' अर्थात् नायक श्रीकृष्ण सम्पूर्णरूपसे उनके प्रेमके वशीभूत होगये हैं। इसलिये श्रीकृष्ण उनका मनोरञ्जन करने-हेतु सर्वदा ही श्रीराधाके पार्श्वमें अवस्थान कर रहे हैं।

श्रीराधा रासनृत्य-हेतु परिश्रान्ता हैं और रसावेशमें संज्ञा-शून्य-सी होरही हैं। उनके श्रीहस्तोंके स्वर्ण वलय शिथिल होकर गिर रहे हैं और उनकी यत्नपूर्वक गुंथी हुई कबरी की मल्लिका-मालासे कुसुम झरकर भूमिपर पतित हो रहे हैं। तब उन्होंने अपनी दक्षिण भुजा पार्श्वस्थित श्रीकृष्णके स्कंध पर न्यस्त करके किसी प्रकारसे अपनी अलस देह के भारको सम्भाला। श्रीराधाकी प्रेमचष्टाद्वारा माधुर्य नायक अनुभाव व्यक्त हुआ है। माधुर्य अनुभावका लक्षण है-"माधुर्य नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु चारुता" अर्थात् सभी अवस्थाओंमें अब किसी चेष्टाद्वारा मनोहारित्वादि गुणों का विकाश होता है, तब उसे माधुर्य अनुभाव कहते हैं।

इस श्लोकमें प्रयुक्त 'गदाधर' शब्दसे तात्पर्य है—जो नटवृन्दाधिपतिद्वारा उपयुक्त यष्टिको धारण करते हैं, वह; अथवा जो वर्णात्मक शब्दको निनादित करती है उसे 'गदा' यानि 'वंशी' कहते हैं, इसलिये जो नटाधिपतिद्वारा उपयुक्त सष्टिके रूपमें वंशीको धारण करते हैं, श्रीरासमध्यस्थित वही श्रीकृष्णही गदाधर हैं।

श्यामनागर नृत्य-श्रम-हेतु क्लांत हो गये हैं, अतः उन्होंने अपना चन्दनचर्चित बाहुकमल पार्श्वस्थित एक सखीके स्कंधपर रखा। उस बाहुकी सौरभ उत्पलकी सौरभ अपेक्षा भी दिव्य है। और उसमें अब चन्दनकी सुगंधभी मिश्रित होगयी है। इस दिव्य सौरभका आघ्राण करके सखी श्यामला प्रेम-विवश होगयी, उनके सर्वाङ्गोंमें रोमाञ्च प्रकट होगया। प्रेमानन्दमें विह्वल श्रीराधाकी सुहृत्-सखी श्यामलाने श्रीकृष्णके बाहुका चुम्बन कर लिया। अगणित सखियोंके मध्यमें चुम्बनादि विलास द्वारा श्यामलाकी प्रेमविवशता और प्रगल्भता प्रकाशित हुयी। नायकशिरोमणि श्यामसुन्दरको सखी की प्रगल्भता से अतिशय आनन्द हुआ।

एक अन्य सखी नृत्य करते करते श्रीकृष्णकी निकटवर्ती हुयी। चपल नृत्यभङ्गी-हेतु उसके कानोंके कुण्डल हिल रहे थे। उन दोलायामान कुण्डलोंपर शुभ्र चन्द्रज्योत्स्ना झिलमिल कर रही थी। इससे उसके सुगोल सुकुमार गण्डस्थलोंकी शोभा शतगुण वर्द्धित हो रही थी। उस सखीने यह प्रदर्शित करते हुये कि मानो वह अत्यंत परिश्रान्त होगयी है, अपने गण्डस्थल को अत्यंत प्रेमपूर्वक श्रीकृष्णके गण्ड पर स्थापित कर दिया। अथवा यह भीसम्भव है कि प्रेमवत्सल श्यामसुन्दरने सखी शैव्याके उज्ज्वल गण्डस्थल पर अपना गण्ड संयोजित करके चुम्बन-छल से उसके बिम्बाधरों में अपना चर्वित ताम्बूल अर्पित कर दिया। श्रीराधाकी विपक्षा यूथेश्वरी चन्द्रावलीकी प्रधान सखी शैव्या कृष्ण-प्रेम से धन्य होगयी।

श्रीशुकदेवजीने एक अन्य व्रजसुन्दरीके नृत्यगीतमाधुरीका भी वर्णन किया है। इस सखीके कण्ठनिःसृत सुमधुर गीत एवं कलानैपुण्यपूर्ण नृत्यश्रमसे कटिप्रदेशमें धारणकी हुयी मेखला की ध्वनि से सुरझङ्कार उत्पन्न हो रहा था। नृत्यश्रमसे अत्यंत परिश्रान्त होकर उन्होंने अपनी श्रान्ति एवं क्लान्ति दूरकरनेकी इच्छासे श्रीगोविन्दके सर्वाभीष्टप्रद करकमलको अपने वक्षपर स्थापन कर लिया। ये तदीयताभावमयी और घृतस्नेहवती यूथेश्वरी चन्द्रावली हैं। मूल श्लोकोंमें सखियों के नामोंका कोई उल्लेख नहीं हैं। लीलाके द्रष्टा गौड़ीय आचार्यगणोंकी कृपासे ही ये सब बातें जानी जा सकती हैं।

श्रीरासलीलामें कुछ प्रधान सखियोंकी प्रणय-चेष्टाओंका दिव्य चित्र अङ्कित करनेके पश्चात् अब अन्यान्य गोपियोंके विलासका वर्णन किया जा रहा। रसराज श्रीगोविन्दका रूप-गुण-माधुर्य नृत्य-गीत-विहारादिमें अक्षुण्ण था एवं इसकी विच्युति कभीभी नहीं होती, इसीलिये उन्हें, अच्युत कहा जाता है। श्लोकमें 'श्रियः एकान्तवल्लभम्' पर द्वारा यही सूचित हुआ है कि वैकुण्ठनाथकी अपेक्षा भी रासविहारी श्रीकृष्ण लक्ष्मीदेवीके अधिकतर वल्लभ यानि प्रेमके विषय थे किन्तु लक्ष्मी देवी भी उन्हें कान्त या रमणरूप से प्राप्त नहीं कर सकीं, यह सौभाग्य तो गोपियोंको ही प्राप्त हुआ। केवल इतनाही नहीं, श्रीकृष्णने अपने उभय-बाहुओं द्वारा गोपियोंके कण्ठदेशको आबद्ध करके यह भी दर्शाया है कि व्रजसुन्दरियोंका विच्छेद उन्हें क्षणभरके लिये भी सह्य नहीं है। प्राणदयितके आलिंगनद्वार निरतिशय आनन्द प्राप्त करके वे श्रीकृष्णका यशोगान करते-करते श्रीरासमण्डलमें प्रम-विहार करने लगीं।

रास रजनीके समय रासलीला स्थली नाना प्रकारके असंख्य प्रस्फुटित कुसुमोंसे शोभायमान हो रही थी। उनकी सुगंधसे आकृष्ट होकर अगणित अलिकुल सुमधुर गुञ्जनध्वनि कर रहे थे। ऐसा लग रहा था मानो गोपियोंके रासनृत्यमें इन्हींने गायक की भूमिका ग्रहण कर ली थी। भ्रमर कुलोंके गुञ्जन और नृत्यपरायणा व्रजवनिताओंके वलय, नूपुर एवं किङ्किणी की मधुर ध्वनिने मिलित होकर रासस्थलीको गीतमुखर कर दिया था। गोपियोके कर्णोंमें उत्पल झूल रहे थे, जो श्यामनागरने स्वयं अपने करोंसे उन्हें पहनाये थे। उनका कपोलदेश दिव्य अलकावलीसे शोभित था और नृत्यश्रम-हेतु उनके कपोलोंपर स्वेदबिन्दु उज्ज्वल मुक्तावलीकी भांति चमक रहे थे। इससे उनकी मुख-श्री निरुपम सौन्दर्यमय हो गयी थी। उनकी कबरीसे पुष्प विगलित होकर श्यामनागरके श्रीचरणोंपर मानो पुष्पाञ्जलि अर्पित कर रहे थे। व्रजवनिताओंके इस अपूर्व महासौभाग्य दर्शनसे एवं उसके स्मरणसे किसका हृदय परमानन्दसे आप्लुत नहीं होगा!

(९४)

श्रीरासलीलामें जिस प्रकार गोपियां विविध लालित्य पूर्णभङ्गी सहित श्रीकृष्णके संग क्रीडाविहार कर रही थीं, कन्दर्प-दर्पहारी श्रीकृष्ण भी व्रजसुन्दरियोंके संग उसी प्रकार परमानन्ददायक विविध विलास-विभ्रम-पूर्ण रमण कर रहे थे। उन्होंने किसीका आलिंगन, किसीका करमर्दन, किसीके प्रति प्रेमपूर्ण कटाक्षनिक्षेप, किसीका कञ्चुकी-आकर्षण, किसीका चिबुक स्पर्श-पूर्वक प्यार-प्रदर्शन, कभी हासपरिहास एवं कभी उद्दामविलासपूर्ण क्रीडा करने लगे। श्रीधरस्वामिपादके अभिमतसे सुन्दरी युवतियोंके संग इस प्रकारके लीला विलास श्रीकृष्णको तिलमात्र भी अभिभूत नहीं कर सके। इसी तथ्य की तरफ इंगित करने हेतु गोपी-गोविन्दकी लीलाकी उपमा बालक द्वारा अपने प्रतिबिम्बके संग क्रीडासे दी गयी है। गौडीय आचार्यगणोंने आस्वादन किया है कि जिस प्रकार बालक अपनी रूपमाधुरीका अनुभव अपने प्रतिबिम्बके माध्यमसे करता है, उसीप्रकार रासरसिक रमापति श्रीकृष्णने अपने निज सौन्दर्य-माधुर्यका आस्वादन अपनी प्रतिबिम्ब-सदृश प्रेयसी गोपियोंके माध्यमसे किया। व्रजाङ्गनाओंकी प्रेमपूर्ण प्रचेष्टा व्यतीत उस माधुर्यका उदय नहीं होता।

श्रीकृष्ण-प्रेयसी श्रीराधा श्रीकृष्णसे भिन्न नहीं हैं। "दुई वस्तु भेद नाइ शास्त्रेर प्रमाण। "श्रीराधा श्रीकृष्णकी आनन्ददायिनी ह्लादिनी शक्तिकी सारात्सार हैं। अन्यान्य गोपियां भी श्रीराधाकी ही अंश हैं। श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करने-हेतु एक-ही राधाने कायव्यूहसे बहुरूप धारण किया है। सभी श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्ति हैं। श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द-तनु हैं और गोपियां कृष्ण-प्रेमकी मूर्ति, प्रेमविभावित तनु हैं। "आनन्द-चिन्मयरस प्रेमेर आख्यान।" अत एव गोपियां आनन्दघन कृष्ण का अनुरूप हैं, कृष्णके प्रतिबिम्ब हैं। श्रीगोविन्दके चित्-दर्पणमें बिम्बित ह्लादिनी शक्ति ही गोपी है। जड़ वस्तुका प्रतिबिम्ब भी जड़ ही होता है, उसमें कोई स्वातन्त्र्य या निजकी क्षमता नहीं होती। किन्तु चिन्मय वस्तुका प्रतिबिम्ब भी चिन्मय होता है। श्रीगोविन्द चिद्‌घन विग्रह है, अतः उनके प्रतिबिम्ब-सदृश गोपियां भी चिद्‌घन विग्रह हैं। गोरी और गोविन्द स्वरूपतः एवं तत्त्वतः अभिन्न हैं। श्रीगोविन्दका रासविलास आत्मारामकी आत्मरति अथवा स्वरूपानन्दका आस्वादन मात्र है। जिस प्रकार बालक अपने प्रतिबिम्बके संग हंसता है, गाता है, क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार श्रीगोविन्द भी अपने चिन्मय-प्रतिबिम्ब गोपियोंके संग क्रीडा कर रहे हैं, रमण कर रहे हैं। सच्चिदानन्दका यह आस्वादन परम माधुर्यमय है।

श्रीरासलीलामें गोपियोंके विशिष्ट सौभाग्यको सूचित करने-हेतु श्रीशुकदेवजीने श्रीकृष्णका विशेषण दिया है 'रमेश' अर्थात् रमा यानि लक्ष्मीदेवीके ईश यानि प्रभु। लक्ष्मीदेवीके प्रभु होते हुये भी श्रीकृष्णने व्रजसुन्दरियोंके संग रमण किया, न कि लक्ष्मीदेवीके संग। इससे व्यञ्जित होता है कि वे लक्ष्मीदेवीके ईश तो हैं, किन्तु रमण नहीं हैं; कारण रमण तो उन्होंने व्रजदेवियोंके संग ही किया था।

व्रजाङ्गनाओंकी चिरकांक्षित रास-रमणेच्छा पूर्ण करनेमें रसिकशेखर ने अपने प्रयत्नमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं रखी, वे अपनी विविध विलासभङ्गी द्वारा उसे पूर्ण कर रहे हैं। "रासरसेर एक कण, डुबाय सब त्रिभुवन।" गोविन्द सह गोपियां भी इस रास रस समुद्रमें डूब गयी हैं। आनन्दघनके स्पर्शसे वे आनन्दसे विवशदशाको प्राप्त हो गयी हैं। उनके देह-मन-प्राण सब आनन्द-तन्मय हो गये हैं, बाह्येन्द्रियोंका ज्ञान लुप्तप्राय है। उनकी कबरीकी पुष्पमाला, एवं देहके वसना-भूषण सब विगलित एवं स्थान भ्रष्ट हो गये हैं। उनके परिधेय वसन एवं वक्षकी कञ्चुकी जो स्खलित हो गयी है, प्रेमविह्वला गोपियोंको इसका भी भान नहीं है। उनकी देहेन्द्रियां स्व-स्ववृत्तियां भूलकर प्रेमपूर्ण पुलकसे कृष्णमय हो गयी थीं। वे अपने स्खलित वेश-भूषाको भी यथास्थान रख पानेमें असमर्थ हो गयी थीं॥ ११–१८॥

(४०)

सर्वलीलाशिरोमणि श्रीरासलीलामें श्रीकृष्णके संग व्रजाङ्गनाओंके विशेष क्रीड़ा-विलास द्वारा केवल वे स्वयं ही प्रेमानन्दमें डूबकर विवशेन्द्रिय नहीं हुयी थी किन्तु देवाङ्गनाएँ भी स्वर्गसे इस लीला का संदर्शन करके विमोहित हो गयीं थी। सुन्दरी युवतियोंके संग मदनमोहनके सुरतव्यापारमें प्राकृत कामगन्धका लेशमात्र भी नहीं हैं। शुद्ध अप्राकृत आनन्दका आस्वादन ही लीलाका निगूढ तात्पर्य है। देव गण भी मदनके सरोंसे पीड़ित रहते हैं, इसीलिये देवाङ्गनाएँ मदनविजयी लीला का दर्शन करके विमुग्ध होगयीं। निज-निज पतिके प्रति काम भावका त्याग करके उनमें श्रीकृष्ण-सम्बन्धीय काम अर्थात् विशुद्ध कृष्णप्रेमका उदय होगया (कामार्दिता) और उस कृष्ण प्रेम के आतिशय्य-हेतु वे विवश होगयीं।

नगनमें स्थित नक्षत्रपति चन्द्रदेव भी ग्रहनक्षत्रों सहित विस्मयाविष्ट होगये-और उनकी गति स्तब्ध हो गयी। इसके फल स्वरूप रासरात्रि को सहस्रयुग परिमित ब्रह्मरात्रि की दीर्घता प्राप्त हो गयी। गोपी-गोविन्द की आनन्द-विलासमयी लीला की अखण्डता और चिरन्तनता सम्पादन-हेतु अचिन्त्यशक्ति योगमायाने अपने प्रभावसे सर्वतोभावसे लीलापुष्टि-हेतु अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न करदीं।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पूर्ण हैं, आनन्दघनविग्रह है। वे श्रुतिके 'रसो वै सः" मन्त्रके मूर्तिमान् विग्रह हैं, अतः अखिलरसामृतमूर्ति हैं। "सच्चिदानन्द-तनु व्रजेन्द्रनन्दन। सर्वैश्वर्य सर्वशक्ति सर्वरसपूर्ण"। शास्त्रोंमें इन्हें आत्मरति, आत्मक्रीड़, आत्माराम कहकर कीर्तन किया गया है। स्वरूप-आनन्द की निरन्तर आस्वादन ही उनका स्वभाव एवं कार्य है। इसकी चरम परिणति रासलीलामें हुयी है। वे आत्माराम हैं—आत्मनि आरमते अर्थात् जो आत्मामें यानि अपने में ही रमण करता हो। उनको आनन्द आस्वादन-हेतु किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है। तथापि उन्होंने समस्त व्रजाङ्गनाओं के संग स्वच्छन्द लीला-विहार किया था। उन्होंने अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे उपस्थित गोपियों की संख्या जितनी ही अपनी श्रीमूर्त्ति प्रकटित करके रासस्थलीके निकटस्थ कुञ्जों के अभ्यन्तर पृथक् रूपसे सभीके संग क्रीड़ा-विहार किया था।

श्रीभगवान् आत्माराम होते हुये भी प्रेमाधीनतावश गोपियोंके अनुरूप श्रीमूर्ति धारण करके उनकी प्रेमसेवाकाङ्क्षा पूर्ण की थी। कात्यायनीव्रतका उद्यापन करके गोपकुमारिकाओंने श्रीकृष्णको पति यानि रमणरूपसे प्राप्ति की अभिलाषा प्रकट की थी। श्रीकृष्णने उन्हें 'आगामी रजनी समूह" में उनके संग विहार करने की प्रतिश्रुति प्रदान की थी। उस प्रतिश्रुतिके पालनार्थ एवं अपने स्वरूपभूत आनन्दके आस्वादन-हेतु ही श्रीभगवान् आत्माराम होकरभी बहु-मूर्ति धारण करके विहार किया था। गोपियां श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा हैं, श्रीराधासे अभिन्ना हैं। धीर-ललित नायक श्रीकृष्णमें नायकके सर्वप्रकार गुण समूह विद्यमान हैं। जो-जो गोपी श्रीराधाके जिस-जिस भावकी मूर्ति थी, श्रीकृष्णने भी उसी भावके अनुकूल मूर्ति 'धारण करके गोपियोंके संग मिलनानन्दका आस्वादन किया था। श्रीहरिवंशमें भी वर्णन आता है—

युवतीर्गोपकन्याश्च रात्रौ सङ्काल्य कालवित्। कैशोरकं मानयानः सह ताभिर्मुमोद ह ॥

अर्थात् कालज्ञ श्रीभगवान् निशाकालमें गोपयुवती और गोपकन्याओंको एकत्रित करके कैशोर-वयसकी सम्माननापूर्वक उनके संग आनन्द उपभोग करने लगे।

श्रीकृष्णने रासलीलामें व्रजसुन्दरियोंके संग पृथक्-पृथक् रति विहार किया था, जिससे गोपियां अतिशय परिश्रांत हो गयीं। उनके मुखमण्डल स्वेदाक्त होगये, वक्षस्थलका कुंकुम इतस्ततः प्रसृत होगया, केशपाश विगलित हो गये और वस्त्राभूषण-प्रसाधनादि अस्तव्यस्त हो गये। रति का अर्थ है—दम्पती-सुलभ परस्पर अनुराग और विहार का अर्थ है—विविध विदग्ध चेष्टा। श्री रासलीलामें वैदग्ध्य-विलास हेतु गोपियों को क्लान्त देखकर श्रीभगवान् रति विहारसे क्षान्त हुये एवं गोपियों की नाना प्रकार सेवा की। उन्होंने अपने परमकल्याणप्रद श्रीहस्तसे उनका स्वेद मार्जन किया और पंखा चलाकर उनकी क्लान्ति दूरकी। तत्पश्चात् उनका यथारीति प्रसाधन सम्पादित करके उन्हें चर्वित ताम्बूलादि प्रदानपूर्वक परमानन्द प्रदान किया। इस दृश्यको देखकर ऐसा प्रतीत हुआ मानो भगवान् भक्तकी सेवा कर पाने से अपने को धन्य अनुभव कर रहे हैं।

"ज्वलन्त अनल कृष्ण भक्त लागि खाय। भक्तेर किङ्कर हय आपन इच्छाय ॥" (चै. चरितामृत)

गोपियोंका केश-वेश रचना करते समय श्रीहस्तके मधुर स्पर्शसे केवल गोपियों की श्रम-जन्य क्लान्ति ही मिटी हो, ऐसी बात नहीं है, गोपियोंने भी अत्यंत आनन्दित होकर श्रीगोविन्द की विविध प्रकारसे प्रीति सम्पादन की थी। गोपियोंने अपनी अनुरागपूर्ण दृष्टि, सहास्य वदन को प्रफुल्लता एवं अपणे सुचिक्कन (मसृण) गण्डस्थलके निरुपम स्पर्श से श्रीगोविन्दके महाहर्ष का विधान किया था। तत्पश्चात् वे सब मिलित होकर श्रीकृष्ण की प्रीतिहेतु उनकी पवित्र चारितमाधुरी का गान करने लगीं। गोपियों का अङ्ग-सौन्दर्य, गीतिमाधुर्य एवं अनवद्य भावभङ्गी—सबकुछ ही मधुमय था। मधु-ब्रह्म मधुसिन्धुमें निमज्जित होगये।

वर्तमान श्लोक और परवर्ती श्लोक में (२० एवं २१वां) 'हेला' नामक अनुभाव प्रकटित हुआ है। उज्ज्वलनीलमणिके अनुभाव प्रकरणसे ज्ञात होता है, कि विकारका कारण विद्यमान रहते हुये भी चित्तकी जो अविकृति अचल रहती है, उसे स्वत्व कहते हैं। स्वत्वका प्रथम विकार—जिसमें ग्रीवाका बङ्किम भाव-विशेष एवं भ्रू नेत्रादिका विचित्र विकाश प्रकाशित होता हो उसे भाव कहते हैं। भावके ईषत् प्रकाश-विशेषको हाव कहते हैं। यह हाव ही सुव्यक्त एवं श्रृङ्गाररसका सूचक होने पर 'हेला' नामसे जाना जाता है।

श्रीरासनृत्यगीतके अन्तमें श्रीशुकदेवजी व्रजसुन्दरियोंके प्रति परमहृष्ट श्रीभगवान्की प्रेम-चेष्टाओंके वर्णन प्रसंगमें जलकेलिका वर्णन कर रहे हैं। परिश्रान्त व्रजसुन्दरियोंकी क्लान्ति दूर करने-हेतु प्रथमतः श्रीकृष्णने निज करकमलोंसे उनका स्वेद मार्जन करके उनके केश-वेशका प्रसाधन किया। अब उनकी अवशिष्ट क्लांति मिटानेके लिये, उनसे परिवृत्त होकर श्रीयमुनाजीके निर्मल नीरमें अवगाहन करते-हेतु अग्रसर हुये। गजराज अपनी हस्तिनियोंके संग विहारसे परिश्रान्त होने पर उस श्रम-क्लान्ति को मिटानेके लिये जलमें प्रवेश करता है। उस समय वह कामोन्मत्त गजराज पथ-विपथकी ओर भ्रूक्षेप किये

विना ही चलता रहता है। वह भिन्नसेतु गजराज पथमें बाधारूप आनेवाले मृत्तिकास्तूप, प्राचीर अथवा नदीतटको विदीर्ण करता हुआ ही जलमें प्रवेश करता है। ठीक उसी प्रकार रासविहारी श्रीकृष्ण रतिश्रम दूर करने-हेतु व्रजाङ्गनाओंसे वेष्टित होकर श्रीयमुनाकी ओर चले हैं। गोपियोंके वक्ष कुंकुमरञ्जित थे, प्राणनाथके संग गाढ मिलनकाल में श्रीकृष्ण-वक्षस्थित पुष्पमाला अङ्गसङ्गसे संमर्दित होकर कुंकुमरञ्जित हो गयी थी। उस संमर्दित और कुंकुमरञ्जित-पुष्पमालाके सौरभसे सारी दिशायें व्याप्त और प्रमुदित हो रही थीं। गन्धर्वपतिकी भांति गीतपरायण भ्रमरकुल उस सुगन्धसे आकृष्ट होकर परमानन्दपूर्वक गान करते-करते गोपीमण्डल-परिवृत श्रीगोविन्दका अनुसरण कर रहे थे। भिन्नसेतु हस्तीके साथ श्रीकृष्णकी तुलनाका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण और गोपियोंने भी परस्परके प्रति अपनी तीव्र अनुरागमय प्रेमचेष्टाओं द्वारा लोकमर्यादा एवं वेद-धर्मादिका उल्लंघन किया था। त्रिभुवनमें गोपीप्रेमकी तुलना नहीं है।

अब श्रीशुकदेवजी गोपियोंके संग श्रीगोविन्दकी जलकेलिका वर्णन कर रहे हैं। गजेन्द्र और उसकी प्रेयसी हस्तिनियां निज-निज शुण्डद्वारा परस्परके अंगों पर जल निक्षेप करते हुए क्रीडा करते हैं। श्रीकृष्ण भी चारों दिशाओंसे गोपियों द्वारा किये गये वारिवर्षणसे अभिषिक्त हो रहे थे और स्वयं भी अपने चंचल बाहुद्वयों द्वारा व्रजयुवतियोंपर जल निक्षेप करके उन्हें अभिषिक्त कर रहे थे। जल-केलिक्रीडामें मत्त श्रीकृष्ण आनन्दोन्मत्त व्रजाङ्गनाओंके संग जल-युद्ध, आलिंगन, चुम्बन, हास-परिहास, नर्मालाप प्रभृति विविध विलासों द्वारा आनन्दका उपभोग कर रहे थे।

सहस्र करे जलसेके, सहस्रनेत्रे गोपी देखे, सहस्रपाद निकटे गमने।
सहस्र मुख चुम्बने, सहस्र बपु सङ्गमे, गोपी नर्म शुने सहस्र काने॥ (चै. चरितामृत)

रसिकशेखर श्रीकृष्ण "स्वरति" अर्थात् आत्माराम हैं। स्वयं-पूर्ण और बाह्यापेक्षारहित होकरभी केवलमात्र अपनी प्राणप्रिया भक्तोंकी मनोवाञ्छा परिपूर्ण करने हेतु ही इस लीलाविलासका आयोजन है। स्वरति—"स्वेषु निजजनेषु स्वासु तास्वेव वा रतिः रागो यस्य सः स्वरतिः।" स्व यानि निजजन; स्वा अर्थात् निजजन समस्त गोपियां, जिनके प्रति जिसकी रति यानि अनुराग है, वे ही स्वरति श्रीकृष्ण हैं। वे व्रजगोपीकी प्रेमरज्जुसे बंधे हुये हैं। निज-जयकी अपेक्षाभी व्रजगोपियों द्वारा प्राप्त पराजयमें ही उन्हें असीम आनन्द प्राप्त होता है। वस्तुतः गोपियोंकी अपेक्षा अधिकतर निगूढ प्रेमभाजन इस त्रिभुवनमें अन्य कोई नहीं है।

लघुभागवतमें श्रीकृष्णकी उक्ति है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते। ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥

हे अर्जुन! गोपियां अपनी देह एवं उसपर धारण किये हुये आभूषण मेरी देह या मेरी सेवाके उपचार-स्वरूप ही धारण करती है, इसमें उनकी निजकी किसी प्रकारकी स्वार्थभावना नहीं है। गोपियोंके अतिरिक्त मेरे निगूढ प्रेमकी पात्र अन्य कोई नहीं है। उन गोपियोंके संग श्रीगोविन्दके इस निर्मल, कामरहित, परम रमणीय जलकेलिका दर्शन करके विमानविहारी देवगणोंने भी पुष्पवृष्टि की थी। धन्य हो, रासलीला! यह प्राकृतभाव या दृष्टिके लिये गोचर नहीं है। इस लीलामें प्रवेशका अधिकार केवल चिच्छक्ति योगमायाकी करुणासे अथवा गोपियोंके आनुगत्यसे ही प्राप्त होता है।

श्रीरासस्थलीके विविध विलास एवं जलकेलि समाप्त हुयी। अब लीलापुरुषोत्तमकी एक अन्य वैचित्र्यमयी वनविहार लीलाका वर्णन किया जा रहा है। जलकेलिके पश्चात् गोपियोंने अपने सिक्त वसन परित्याग करके नये उत्तम वसन धारण किये योगमाया स्वयं जब लीलाकी यथायोग्य व्यवस्था-हेतु तत्पर हैं, तब गोपियोंके लिये साजसज्जाकी सामग्रीका अभाव कैसे हो सकता है? अब श्रीकृष्ण अपनी प्रयसी प्रमदागणोंसे परिवृत होकर कृष्णोपवनमें वनक्रीडा-हेतु श्रीयमुनाके तीरवर्ती उपवन और काननकी ओर अग्रसर हुये। उस उपवनकी दिशा-प्रदिशायें जलजात एवं स्थलजात कुसुमोंसे पूर्ण थी। मृदुमंद मलय पवन पुष्पोंकी सुगंधको वहन करके प्रवाहित हो रहा था, अतः वह स्थान अत्यन्त सुखसेव्य बन गया था। वनविहारत गोपी-गोविन्दके संग-संग उनकी अंगगंधाकृष्ट अलिपुञ्ज मधुर गुंजन करते हुये उड़ रहे हैं। मदस्रावी गजराजकी भांति श्रीकृष्ण वनसे वनान्तरमें भ्रमण कर रहे हैं। उनकी मद-गंधसे आकृष्ट होकर भ्रमरकुल भी संग चल रहा है, और उनकी प्रीतिके आकर्षणसे गोपी-हस्तिनियां भी संग-संग चल रही हैं। श्रीकृष्ण गोपियोंके संग पुष्पचयन, निकुञ्जोंके अभ्यन्तरमें निलायन इत्यादि विविध प्रकार की क्रीडायें करते हुये विहार कर रहे हैं। वनदेवीने उपवनमें समस्त ऋतुओंके कुसुमोंको युगपत् प्रस्फुटित करके वनविहारीका आनन्द विधान किया।

श्रीभागवतके आचार्य रासलीलाका उपसंहार कर रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णने कोटि-कोटि व्रजवनिताओंके संग हास्य लास्य, नृत्यगीत, आलिंगन, चुम्बन प्रभृति विचित्र वैदग्धी विलास किया है। इस लीलमें प्राकृत भावना आरोपित करके कोई दोष दृष्टि नहीं करे, इसी आशयसे आचार्यने इस श्लोकमें (२६ वां) पाठकों और श्रोताओंको सावधान किया है।

सर्वप्रथम मनुष्यको जीव और ईश्वरके पार्थक्यका अनुभव करना चाहिये। जीव इन्द्रियाराम है, ईश्वर आत्माराम हैं। जीव कामुक है, ईश्वर प्रेमिक हैं। जीव सुखप्राप्ति हेतु बाह्यविषयोंमें अनुसंधान करता है, श्रीभगवान् अपने स्वरूपमें यानि अन्तरमें ही आनन्द-आस्वादन करते हैं। जीवको देह और आत्मामें अनेक प्रभेद हैं, किन्तु श्रीकृष्णकी देह और आत्मामें भेद नहीं है। "देह देही भिदा चात्र नेश्वरे विद्यते क्वचित्"—"देह देही नाम नामी कृष्णे नाहि भेद। जीवेर स्वरूप नाम देह विभेद॥" श्रीकृष्णकी देह और स्वरूप सच्चिदानन्दमय है। आनन्दमयका आनन्द-आस्वादन उनका स्वरूपगत धर्म है। "सुखमय कृष्ण करे सुख आस्वादन।" रसिकशेखर श्रीकृष्णके शृङ्गार-रसमय विलासमें प्राकृत जीवकी कामचेष्टा नहीं है, यही यथार्थ तथ्य है। वक्ता श्रीशुकदेवजीने भी लीला-वर्णनकालमें अनेक स्थानों पर इस तथ्यकी ओर 'भगवान्. आत्माराम, स्वरति' इत्यादि शब्दोंके द्वारा इंगित किया है। श्रीभगवान्के निजस्व प्रयोजन 'आनन्द-आस्वादन' अतिरिक्त की एक अन्य वृत्ति भी है जिसे भक्तवात्सल्य एवं करुणा कहते हैं। रसिकशेखर कृष्ण परम करुण' श्री भगवान्ने अपनी अन्तरङ्गा अनुरागिणी गोपियोंके संग रमण-विलासमें जिस सौरतसुखका भोग किया, वह उनकी आत्मामें ही सीमित था। आलोच्य श्लोकमें "आत्मन्यवरुद्धसौरतः" पद द्वारा यही तथ्य पुनः व्यक्त करके इसकी दृढतापूर्वक प्रतिष्ठा की गयी है।

श्रीभगवान् नित्य हैं और उनकी लीला भी शाश्वत है। निरन्तर कामक्रीडाइ तोंहार चरित।' श्लोकमें रात्रिके बहुवचन पदमें प्रयोगसे लीलका नित्यत्वही प्रतिपादित होता है। रात्रिका विशेषण दिया है "शशाङ्कांशुविराजिता निशाः"। इससे शारदीय पूर्णिमा की रात्रिमें आयोजित रासलीला एवं अन्यान्य पूर्णिमाओंमें सम्पन्न तादृश लीलाएँ उपलक्षित हुयी हैं। एक अन्य विशेष प्रयुक्त हुआ है "शरत्काव्यकथारसाश्रयाः"—अर्थात् शरत्कालोद्भव एवं काव्यसमूहोंमें वर्णित समस्तरसों की आश्रयभूता निशायें। शरत्कालमें जिन समस्त काव्यकथारसोंका उद्भव होता है, रासलीला–रजनी उन सबकी आश्रयस्वरूपा है। श्रीव्यासदेव, पराशर, बिल्वमंगल, जयदेव प्रभृति महापुरुषोंने अपने-अपने काव्यग्रन्थोंमें श्रीराधागोविन्दको विभिन्न ऋतुओंके उपयोगी जिन शृङ्गाररसोंका वर्णन किया है, रासलीला–रजनी पुञ्ज में उन सभीका आस्वादन हुआ है। केवल इतना ही नहीं हैं, यावतीय रजनी-पुञ्ज कहने से ज्योत्स्नामयी अन्धकारपूर्ण दोनों प्रकारकी रात्रियों का ही समावेश माना गया है। भगवान् श्रीकृष्णने तत्तत् गृहप्रवेश, तत्तत् अभिसारण एवं कुञ्जविश्रामादि एवं श्रीरासविहार द्वारा अपरापर ऋतुकी ज्योत्स्नामयी एवं अंधकारमयी रजनी-समूहकी सेवाकी थी। किस प्रकारसे सेवाकी थी? इसके उत्तरमें कहा है-आत्मामें सौरतको अवरुद्ध करके। श्रीधर स्वामिपादके मतानुसार इस श्लोकमें श्रीकृष्णकी कामजय ही ख्यापित हुयी है, कारण इन समस्त लीलाविलासोंके समय उनका सौरत यानि चरम धातु आत्मामें ही अवरुद्ध था।

गोस्वामिपादोंका अभिमत है कि भगवान् श्रीकृष्ण स्वरूपतः आत्माराम, आत्मक्रीड और आत्मानन्दी हैं, सुतरां उन्हें कामजयके वैभव–प्रदर्शनकी कोई आवश्यकता नहीं है। उनकी लीला तो उनके स्वरूपस्थित आनन्दास्वादनके स्वतः स्फूर्त स्वभाविक वेग–हेतु प्रकट होती हैं। ब्रजसुन्दरियोंके समस्त हावभाव-आदिभी कृष्णानुराग-हेतु ही प्रकट हुये थे (अनुरताबलागणः)। श्रीकृष्णने भी गोपियोंके सुरत–सम्बंधी हावभावादि अपने हृदयके गूढतम अभ्यन्तर कोनेमें संस्थापित कर लिये। इसका प्रकृत हेतु अनुराग है, कामीजनोंका काम नहीं, कारण वे सत्यकाम अर्थात् सत्यसङ्कल्प हैं इसलिये उनकी एतादृश अभिलाष या चेष्टायें व्यभिचार दोषरहित हैं। उनकी कामगंधहीन विशुद्ध प्रेमकी यह लीला निरवद्य आनन्दकी अभिव्यक्तिमात्र है, और आनन्दमयके प्रेमसेवा-सुखविधानमें पर्यवसित हुयी हैं। इस लीलामें लौकिक जगत् का भोगसम्बंध तो है ही नहीं, वरञ्च इस लीला के दर्शनसे, श्रवण से, स्मरणसे भोगलालसा विदूरित होकर श्रीकृष्णमें शुद्धरति जाग्रत होती है॥ १९–२६॥

(४१)

वंशीसंजल्पितमनुरतं राधयाऽन्तर्द्धिकेलिः प्रादुर्भूयासनमधिपटं प्रश्नकूटोत्तरञ्च।
नृत्योल्लासः पुनरपि रहःक्रीडनं वारिखेला कृष्णारण्ये विहरणमिति श्रीमती रासलीला॥

इस परम रमणीय श्रीरासलीलामें ये समस्त विविध वैचित्र्यमयी लीलायें वर्णित हुयी हैं। सर्वप्रथम वंशीवादन के पश्चात् श्रीकृष्ण एवं गोपाङ्गनाओंके मध्य परस्पर कथोपकथन, तत्पश्चात् रमण एवं श्रीराधाके संग अन्तर्धानकेलि, तत्पश्चात् श्रीकृष्णका पुनः प्रकट होकर गोपियों द्वारा प्रदत्त वसन पर उपवेशन, तत्पश्चात् श्रीकृष्णद्वारा गोपियों के कूट प्रश्नों का उत्तर-प्रदान, नृत्योल्लास, रहः क्रीडा, जलविहार, यमुनापुलिन पर विहार इत्यादि विविध रसमयी लीलामें वर्णित हुयी हैं।

अखिलरसामृतमूर्ति भगवान् श्रीकृष्णकी सर्वलीलामुकुटमणि श्रीरासलीला की परमहंसचूडामणि श्रीशुकदेवजीने अत्यंत प्रसन्नतापूर्वक भावविभोर होकर वर्णन किया। इसके श्रवणसे भक्तश्रेष्ठ महाराज परीक्षित् का अन्तर भी दिव्य आनन्दसे परिप्लुत हो गया। इससे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि लीलाके किसीभी अंशको उन्होंने दोषदृष्टिसे ग्रहण नहीं किया। वे मृत्युपथ–

यात्री हैं; अपने जीवनके अल्प अवशिष्ट क्षणोंमें आध्यात्मिक कल्याण साधनके उद्देश्यसे राज्यसुखका परित्याग करके यहां आये हैं। "श्रीकृष्ण परस्त्री-संसर्गदोषके अपराधी हैं"—इस प्रकारकी भावना का उनके मनमें अंकुरित होना ही असंभव है। इस प्रकारके संशय का बिन्दुमात्रभी यदि उनके मनमें अंकुरित हो जाता तो श्रवणाविष्ट महाराजकी विरक्ति प्रकट हो जाती। अतएव संशय-प्रश्न उनका स्वयंका नहीं है। सभामें नाना-भावों-वाले नाना व्यक्ति समागत हैं। उनमेंसे किसीके भी मनमें यदि लेशमात्र भी संशय उत्पन्न हो गया हो अथवा अनागत कालके श्रोता एवं पाठकोंके चित्तमें इस प्रकार की दोषदृष्टि यदि उपस्थित हो जाय, इसी आशंकासे उन्होंने स्वयंही संशय प्रकट करके, मानो उन्हें ही ऐसा संशय हुआ है, इस प्रकार का भाव प्रकट किया। समस्त मानवजातिके हितार्थ ऐसे संभावित संशयका योग्यतम महापुरुषके श्रीमुखसे समाधान प्राप्त हो जाय, इसी उद्देश्य से उन्होंने दो श्लोकोंमें यह संशयात्मक प्रश्न उत्थापित किये।

प्रश्न इस प्रकार है—श्रीकृष्ण इस पृथ्वी पर अधर्म (पाप) का प्रशमन करके धर्मकी संस्थापना अर्थात् धर्मको सम्यकरूपसे स्थापन करने हेतु अवतीर्ण हुये हैं। लुप्तधर्मके पुनः प्रवर्तन और प्रवृत्त धर्म के रक्षण हेतु वे ही धर्मके वक्ता, कर्ता एवं अभिरक्षिता हैं, वे स्वयं ब्रह्मण्यदेव हैं। धर्मके साक्षात् प्रतिपालक होकर भी वे शास्त्र-विगर्हित अधर्माचरणमें प्रवृत्त कैसे हो गये? कर्त्ता का अर्थ है अनुष्ठाता। अब यदि वे स्वयं ही विपरीत आचरण करने लगे तब फिर उनके उपदेशों को जनसाधारण कैसे स्वीकार करेगा? परनारीसंग महापातक है एवं गुरुतर अपराध है। इसलिये श्रीकृष्णद्वारा इस प्रकारके आचरणसे धर्म नष्ट हुआ है और अधर्मकी ही प्रतिष्ठा हुई है। पूर्वअध्यायमें गोपियोंके निकट यह स्वीकारोक्ति कि मैं अदृश्य रहकर तुम्हारी ही भजना कर रहा था"—श्रीकृष्ण द्वारा चोरोंकी भांति परदार-भजना रूपी उनके अधर्माचरण की घोषणा ही है। फिर उन्होंने तो साक्षात् रमण द्वारा अधर्मानुष्ठान एवं उसका पुनः पुनः आचरण करके अधर्मका अभ्युदय-साधन ही किया है। भविष्यत्में मनुष्य यदि उनके भांति आचरणशील हो जाँय तो देश, समाज एवं जनसाधारण का प्रभूत अकल्याण ही होगा, कारण जनसाधारण तो श्रेष्ठ व्यक्तियोंके आचरण की नकल ही करता हैं। श्रीकृष्ण स्वयं आप्तकाम हैं, इसमें हमें तिलमात्र भी संशय नहीं हैं। फिर भी उन्होंने इस प्रकारके निन्दनीय कर्मका अनुष्ठान किसी उद्देश्यसे किया? उनका अभिप्राय क्या था, अथवा इसमें यदि कोई गूढ तात्पर्य छिपा हो तो आप उसे हमारे समक्ष संशयरहितभावसे व्यक्त कीजिये।

महाराज परीक्षित्के इस प्रश्नके उत्तरमें परम कृपालु श्रीशुकदेवजीने प्रश्नके आक्षेपाभासके सम्बंधमें कुछ बोले बिना ही वर्तमान श्लोकोंके अतिरिक्त परवती '६ श्लोकोंमें इस प्रश्नका समाधान किया। उन्होंने इस प्रश्न का समाधान तीन पर्यायोंमें किया है। प्रथमतः श्रीकृष्णके विरुद्ध परदाराभिमर्षण का अभियोग स्वीकार करके उक्त कार्यमें उनके दोषका परिहार किया है। द्वितीय पर्यायमें उस अभियोग को अस्वीकार करते हुये उत्तर दिया गया है। तृतीय पर्यायके उत्तरमें यह सिद्ध किया है कि उनके इस कार्य से जगत् का अकल्याण होनेके स्थान पर परममङ्गल ही हुआ है।

ईश्वराणां धर्मव्यतिक्रमः दृष्टसाहसञ्च दृष्टम्। जो ईश्वरकोटिके पुरुष हैं अर्थात् अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न व्यक्ति हैं, उनमें धर्म-लङ्घन और साहस (निर्भरता) दृष्टिगोचर होते हैं। तुम्हारी आशंका है कि श्रीकृष्णने धर्मविरुद्ध कार्य किया है। हां, उन्होंने ऐसा ही किया है। किन्तु इससे क्या हो गया? धर्मका अनुशासन, विधिनिषेध साधारण नरनारियोंके लिये हैं, असाधारण पुरुषोंको इसका बंधन नहीं होता। अंधे व्यक्तिको ही यष्टि (लकड़ी) का सहारा आवश्यक है, चक्षुष्मानको उसकी आवश्यकता नहीं है। ईश्वर-बहिर्मुख जीव ही अज्ञानान्ध, दुःखी और कृत-कर्माधीन होता है। उनके लिये ही धर्मके विधिविधान हैं। जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे ज्ञानी और आनन्दमय होते हैं, कर्म-परतंत्र नहीं होते। इसलिये उनके लिये विधिव्यवस्था अथवा नियमावली नहीं होती। सद्वैद्य द्वारा रोगीके लिये ही पथ्य-निर्धारण आवश्यक होता है, स्वस्थ व्यक्ति यथेच्छ पौष्टिक आहार कर सकता है क्योंकि वह सब कुछ हजम कर सकता है। उसे ऐसे आहारसे क्षतिके स्थान पर पुष्टि ही प्राप्त होती है। 'तेजीयसां न दोषाय' का यह अर्थ नहीं है कि दोषजनक वस्तु या आचरण तेजस्वीके लिये दोषावह नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि जो कार्य साधारण व्यक्तिके लिये दोषजनक है वह भी असाधारण व्यक्तिके लिये दोष-सृष्टि नहीं कर सकता। जिस और जितने आहारसे दूसरोंको उदरामयसे पीड़ित होना पड़े, उस आहार्यसे द्वितीय पाण्डव महाबली भीमको उदरामय तो होगा ही नहीं वरंच उनको स्वास्थ्य एवं पुष्टि प्राप्त होगी। अग्निदेव स्वच्छ अथवा मलिन सर्वप्रकारकी वस्तुओंको भस्म कर देते हैं किन्तु मलिन वस्तुके भक्षणसे अग्निमें तिलमात्रभी मालिन्यका स्पर्श नहीं लगता। अपवित्र वस्तुओंको जलाकर वह्नि रत्तीभरभी अपवित्र नहीं हो जाती वरञ्च उस मलिन एवं अपवित्र स्थानकी शुद्धि हो जाती है। इसीलिये अग्निका एक नाम पावक भी है।

नारीके संसर्गसे साधारण पुरुषोंको जैसा चित्तविकार हो जाता है, वीर्यवान् महापुरुषोंको वैसा नहीं होता। सुतरां दोषके मध्यमेंभी वे निर्दोष ही रहते हैं, दोषलिप्त नहीं होते। इसीलिये महापुरुष अनेक समय धर्मके विधिनिषेध का उल्लंघन कर देते हैं। वे निर्भय होकर विचरण करते हैं (साहसं दृष्टम्)। सुतरां जो व्यक्ति अग्नि-सम तेजस्वी हैं, उसका कोई भी कार्य दोषावह नहीं होता। बद्ध है इसलिये छोटी पुष्करिणीका जल दूषित हो जाता है किन्तु विशाल एवं मुक्त समुद्रका जल

(११)

दूषित नहीं होता। श्रीकृष्ण अग्निकी अपेक्षा भी अनन्तगुण तेजस्वी, सागरकी अपेक्षाभी अनेक विशाल, महत्की अपेक्षाभी अनेक महीयान् (महतो महीयान्) हैं। वे ज्वलंत अग्निकी अपेक्षाभी अधिक पावक हैं। उनके दर्शन अथवा स्मरणमात्रसे ही जीव निर्दोष एवं पवित्र हो जाता है। उन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णमें दोषकी सम्भावना अथवा आशंका ही कैसे हो सकती है ?

जो ईश्वरतुल्य पुरुष हैं उनके आचरण उनके ही स्वकीय विशेषत्व हेतु उज्ज्वल होते हैं। अनीश्वर, देह-परतंत्र और कर्माधीन व्यक्तिके लिये महापुरुषके आचरणका अनुकरण करना कभी भी कर्तव्य नहीं है। यहां तक कि उनके आचरणकी मन-ही-मन कल्पना करना भी उसके लिये समीचीन नहीं है। देवाधिदेव महादेव ही सागरमन्थनोद्भूत विषपान करनेमें समर्थ हैं, अन्य कोई व्यक्ति मूढतावश यदि उनका अनुकरण करेगा तो निश्चित विनाशको प्राप्त होगा।

इसपर कोई यह आपत्ति उठा सकता है कि श्रीगीतामें निर्देश है—"यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" (३।२१)–महद्व्यक्ति जिस प्रकारका आचरण करते हैं, अन्य जनभी उनका अनुकरण करते हैं। इसीमें समाजका कल्याणभी निहित है। इसलिये यदि श्रेष्ठ व्यक्ति धर्मविरुद्ध कर्म करेंगे, तो कनिष्ठ व्यक्ति तो वैसा करेंगे ही। तब फिर धर्म, नैतिकता और समाज व्यवस्था की रक्षा किस प्रकारसे होगी ?

श्रीशुकदेवजीने इसका समुचित समाधान किया है। महद्व्यक्तियोंके आदेश-उपदेश समस्त व्यक्तियोंको सर्वदा ही पालन करना कर्तव्य है, किन्तु उनका आचरण सर्वदा अनुकरणीय नहीं है। उनके आचरण दो प्रकारके होते हैं। एक प्रकारके वे हैं जो उनके स्वकीय वैशिष्ट्यहेतु उज्ज्वल हैं, इनका अनुकरण करना विधेय नहीं है। दूसरी प्रकारके आचरण वे हैं जिनके माध्यमसे वे दूसरोंको आचरणकी शिक्षा देते हैं। ये आचरण ही अनुकरणीय हैं। स्वल्प-शक्तिविशिष्ट जीव इससे अन्यथा करने पर महाशक्तिशाली व्यक्तियोंके वैभवपूर्ण कार्योंका अनुकरण करने पर दुरधिगम्य प्रयासके फलस्वरूप निश्चित विनाशको प्राप्त होगा। रोगीका कर्तव्य है चिकित्सकके परामर्शानुयायी चलना, चिकित्सक स्वयं क्या करते हैं, यह उसका द्रष्टव्य नहीं है। महापुरुषोंके उपदेश शिरोधार्य करके आचरण करना चाहिये। उनके जो आचरण उनके उपदेशके अनुरूप हों, उन्हींका अनुसरण करना चाहिये। जीवनमें प्रकृष्ट और निश्चित कल्याणसाधनका यही पंथा है ॥ २७–३२ ॥

(४२)

जागतिक व्यवहारमें कुशल एवं अकुशल—इन दो विपरीतार्थक शब्दोंका उपयोग प्रचलित है। धर्म एवं अधर्म—ये दो इनके तुलनामूलक शब्द हैं। धर्म से पुण्य होता है और पुण्यके फल स्वरूप स्वर्गादि 'कुशल' की प्राप्ति होती है। अधर्म निन्दित है, उसके अनुष्ठानसे पाप होता है और पापके फलस्वरूप नरकादि दुर्भोगों की यानि 'अकुशल' की प्राप्ति होती है धर्म, पुण्य-स्वर्ग, मंगल इत्यादि दिनके प्रकाश की भांति हैं और अधर्म, पाप, नरक, अमंगलादि रात्रिके अंधकारके तुल्य हैं। इन दोनोंका ही इस जगत् एवं पृथ्वीके पार्थिव व्यापारमें स्थान है।

पृथ्वीपर दिन-रात्रि होते हैं किंतु सूर्यलोकमें वे नहीं होते। इसी प्रकार पृथ्वीके अधिवासियों को अच्छा-बुरा होता है, किंतु ऊर्ध्वलोक वासियों को ऐसा कुछ नहीं होता। पृथ्वीके जीवमें अहंकार और कर्तृत्वाभिमान विद्यमान रहता है किंतु निरहंकार और फलाकांक्षारहित व्यक्ति पृथ्वी पर रहते हुये भी ऊर्ध्वलोक वासी है। पार्थिव व्यक्तिमें स्वार्थपरता रहती है, अतः वह कर्माधीन हैं अपार्थिव व्यक्तिमें स्वार्थभावना नहीं रहती, अतः वह कर्मबन्धनसे मुक्त है। जिन धर्माधर्म, पाप-पुण्य आदि शब्दों का पार्थिव जीवके सम्बंधमें प्रयोग किया जाता है, वे शब्द अपार्थिव महद्व्यक्तियों पर लागू नहीं होते।

दिनरात्रि शब्द पृथ्वीपर व्यवहृत होता है किंतु जो सूर्यलोकके निकटवर्ती हैं उनके लिये इस शब्दका कोई अर्थ नहीं है। फिर सूर्यके सम्बंधमें तो इसके प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार जो श्रीभगवान्के निकटवती हैं उनके विषयमें जागतिक पाप-पुण्य का विचार नहीं चलता और स्वयं श्रीभगवान्के सम्बंधमें तो इसका प्रश्न ही नहीं उठता। दिन रात्रिके कारण हैं सूर्य; नित्य प्रकाशमय सूर्यपर दिनरात्रि नहीं हो सकते। उसी प्रकार सर्वकारण श्रीकृष्ण पाप-पुण्य, शुभाशुभ आदि सभीके हेतु, द्रष्टा और नियन्ता हैं। जो जीवको कृष्णोन्मुखी करता है वही शुभ है, जो जीवको कृष्ण—विमुख करता है वही अशुभ है। इसलिये स्वयं श्रीकृष्णके सम्बंधमें इन समस्त दोष-निर्देशक शब्दोंका प्रयोग ही अनुपयुक्त है, योग्य है। अत एव महाराज परीक्षित् का प्रश्नही त्रुटिपूर्ण है अयोग्य है। एकदा महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरने श्री श्रीप्रभु जगद्बन्धु सुन्दरसे जिज्ञासा की थी—"कृष्ण की रासलीला क्या अच्छी बात है ?" प्रभु जगद्बन्धुसुन्दरने उत्तर दिया था—"श्रीकृष्णके विषयमें फिर अच्छा-बुरा क्या होता है ? श्रीकृष्णके सम्बंधमें 'अच्छा-बुरा' इन दोनों शब्दों का प्रयोग ही अयोग्य हैं, अचल है। सुतरां आपका प्रश्न ही निरर्थक है।"

साधारण जीवमात्र ही गुणमय, कर्माधीन एवं पराधीन है। भगवान् श्रीकृष्ण गुणातीत, कर्मातीत, नित्यमुक्त और परम स्वतन्त्र हैं। कर्माधीन जीवभी यदि सर्वतोभावसे श्रीकृष्णके पादपद्मोंमें शरणागति ग्रहण करलेता है, तो वह कर्मबन्धनसे मुक्त

होकर यथेच्छ विचरण करता है। जिनके पादपद्मोंका आश्रय ग्रहण करनेमात्रसे जीव बन्धनमुक्त हो जाता है, उनका स्वयंका कर्मबधन किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? चिन्मयविग्रह श्रीकृष्णने निज-ह्लादिनीशक्तिरूपा गोपियोंको जार-प्रेमभावसे विभावित करके आत्मास्वादनरूप जो श्रीरासलीलाविलास किया था वह पार्थिव कामसे प्रेरित नहीं है, यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। श्रीकृष्णके स्मरण, ध्यान एवं उनके भुवनमंगल नाम के उच्चारण से जीवका मायिक कामभाव, इन्द्रियभोगलालसा इत्यादि पूर्णतः विदूरित हो जाते हैं। सुतरां यह कहना कि यदुपति श्रीकृष्णने निन्दित कार्य किया, सूर्यदेव तमसाच्छन्न हैं, ऐसा कहने जैसा मूढतामात्र है। कार्य-अकार्यरूप पुण्य पाप श्रीकृष्णको स्पर्श नहींकर सकते। श्रीगीतामें भगवान् ने स्वयंही कहा है— "न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा"—अर्थात् वे कर्मफलसे कभी लिप्त नहीं होते। सुतरां महाराज परीक्षित्‌का प्रश्न ही निरर्थक है, चलने योग्य भी नहीं है।

श्रीशुकदेवजीने दो प्रकारसे प्रश्नका उत्तर दे दिया। प्रथममें अभियोगको स्वीकार करके उसका समाधान किया। यह स्वीकार करलेने पर भी कि श्रीकृष्णने धर्मविरुद्ध कर्म किया, उनके पक्षमें यह दोषजनक नहीं है। दूसरे उत्तरमें उन्होंने अभियोगकी अयौक्तिकता प्रदर्शित की है। श्रीकृष्ण कर्माधीन नहीं हैं, अतएव उनके दोषका प्रश्न ही अयोग्य है। अब हम श्रीशुकदेवजी द्वारा दिया गया तीसरा उत्तर सुनेंगे। वहां स्पष्ट किया जायेगा—परात्पर पुरुषके लिये कोई अन्य नहीं है। उनकी यह लीला उनके अनादिकालके निजजनोंके संग ही हुयी है। गोपीगोविन्द की लीलामें परवधू संसर्ग हुआ ही नहीं॥ ३३-३५॥

(४२)

पूर्ववर्ती प्रकरणमें श्रीशुकदेवजीने गोपियोंका परदारत्व स्वीकार करते हुये भी श्रीकृष्णके अधर्माचरणका निरसन किया है। किन्तु इतने पर भी गोपियोंका कुलटात्व अर्थात् जारत्व दोष अपगत नहीं हो पा रहा है, इसीलिये गोपियों का नाम निःसंशय धिक्कारमें पर्यवसित न हो जाय इस उद्देश्यको ध्यानमें रखकर श्रीशुकदेवजी अब उनके परदारत्वका खण्डन कर रहे हैं। इससे श्रीकृष्णका परदारविनोदनरूप अधर्माचरणका भी सम्यक् रूपसे खण्डन हो जायेगा।

जिस प्रकार सूर्यमें अंधकारकी उपस्थिति असम्भव है, उसी प्रकार श्रीकृष्णमें भी अधर्मका अस्तित्व असंभव है। कोई यह युक्ति देसकते हैं कि मेघाच्छन्न होने पर सूर्य भी अन्धकारावृत हो जाता है। किन्तु यह सही नहीं है। मेघ सूर्यको नहीं ढक सकता, वह तो हमारे चक्षुओं को ढकता है। वायु द्वारा मेघ अपसारित होते ही चक्षुका आवरण दूर हो जाता है और सूर्य अपने स्व-स्वरूपमें प्रकाशित होकर दृष्टिगोचर हो जाता है। हम भी श्रीकृष्णको अज्ञानताके आवरण हेतु देख नहीं पाते हैं, और इसीलिये विरूप मंतव्य एवं भावना कर बैठते हैं। महापुरुषोंकी कृपासे अज्ञान विदूरित होने पर श्रीकृष्णका नित्यशाश्वत स्वरूप हमारे सम्मुख व्यक्त हो जाता है। श्रीशुकदेवजी हमारे अज्ञानको विदूरितकरने हेतु श्रीकृष्णके स्वरूप-तत्वका उद्घाटन कर रहे हैं :—

गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषाञ्चैव देहिनाम्। योन्तश्चरति सोऽध्यक्षः॥

अर्थात् गोपियोंके, उनके पतियोंके एवं अन्य समस्त विश्वजीवोंके अन्तरमें जो अध्यक्षरूप से विराजते हैं एवं बुद्धि प्रभृति के साक्षी हैं, वही परमात्मा आज क्रीड़ा अर्थात् लीला हेतु लीलाविग्रहधारी श्रीकृष्ण हैं वे सभीके अन्तरमें अन्तरतमरूपसे विराजित हैं। उनका कोई पर नहीं है, वे, पुरुष हो अथवा नारी हो—सभीके अन्तरविहारी हैं। कोई कह सकते हैं कि परमात्मा तो निराकार हैं और ये श्रीकृष्ण तो साकार हैं। इसीलिये कहा है—स एषः-ये ही वे परमात्मा हैं। ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् उन्हींके त्रिविध प्रकाशमात्र हैं।

बाह्य दृष्टिसे जो गोपी-गोविन्दकी लीला दीख रही हैं, वही अन्तर्दृष्टिसे आत्माके साथ परमात्माका विहार दृष्टिगोचर हो रहा है। बाह्यदृष्टिसे रासलीलामें गोविन्द गोपियोंका आलिङ्गन कर रहे हैं। अन्तश्चक्षुसे देखनेपर दिखाई देगा कि जो अन्तरमें नित्यकाल समालिङ्गत हैं, वहीं निजजनको पर सजाकर उसे खींचकर पुनः वक्षपर धारण कर रहे हैं। यह आलिङ्गन-विहार सभीके अन्तरमें नित्य विद्यमान है। आज अन्तरका धन बाहर प्रकट हो गया है। श्रीकृष्ण आत्माकी भी आत्मा हैं—"कृष्णमेनमवेहि त्वम् आत्मानमखिलात्मनाम्"। उनकी समस्त लीला—आत्माकी आत्माके संग आत्माका विहार मात्र है। स्वयंके संग स्वयं ही क्रीड़ाकर रहे हैं। यह नित्य आलिंगन-विहार प्रतिनियत विश्वव्यापी चल रहा है। ध्यानी योगी ध्यानमें इस विहारके दर्शन करते हैं। उसीका वैचित्र्यमयी प्रकाश यह रासलीला है जिसका आस्वादन भी परमभक्त ही करते हैं। यदि कहें, कि अन्तरमें परमात्मा अनादि कालसे आत्माके संग गाढ आलिंगनबद्ध हैं, इसमें तो दोषावह कोई बात नहीं, किन्तु यही बात बाहर क्यों प्रकट की ? इसीलिये तो इतनी सारी बातोंकी अवतारणा करनी पड़ी।

श्रीकृष्ण जन्मरहित होकर भी जिस हेतुसे जन्मग्रहण करते हैं, प्रपञ्चातीत होकर भी जिस कारणसे प्रपञ्चमें अवतीर्ण होते हैं, जगत् पिता होकर भी जिस कारणसे नन्दमहाराजको पिता सजाते हैं, चिरमुक्त होकर भी जिस हेतुसे स्वेच्छासे दाम-बंधन स्वीकार करते हैं, उसी कारणसे सबके अन्तरविहारी होकर भी लीलाविग्रहधारी नवकिशोर, नटवर यह नवरूप धारण करते हैं—उसका है अपने स्वरूपभूत आनन्दका आस्वादन ।

"योऽन्तश्चरति अध्यक्षो बुद्ध्यादिसाक्षी स एव क्रीडनेन देहभाक्, न तु अस्मादितुल्यो येन दोषः स्यादिति" —श्रीधर ।

"अतो न तस्य परोनाम कश्चिदिति के वा परदारा इति भावः । ननु स तु निराकार इति श्रूयते, तस्मादाकारवत्त्वाद-स्मदादितुल्य एवासौ । न तत्राह स एवेति । क्रीडनेन स्वैरं तदिच्छयैव न तु कर्मपरवशत्वेन देहभाक् तदुचिते देशे तदुचिते निज-देहप्रवर्तक इत्यर्थः । (वैष्णवतोषणी)

समस्त जीवोंके अन्तरविहारी वे कर्मोंके परवश होकर नहीं किन्तु अपनी स्वाधीन इच्छासे ही क्रीडाके उपयुक्त देह-धारण करके लीला-विलास करते हैं । कोई कह सकते हैं—लीलाविलास ही करना है तो रुक्मिणी, सत्यभामा प्रभृति विवाहित पत्नियोंके संग करें, पर-बन्धुओंके संग करने की क्या आवश्यकता है ? वस्तुतः गोपियां परवधू नहीं हैं, वे अत्यन्त स्वजन हैं, अन्तरंगा शक्तियोंकी मूर्तियाँ हैं । अपने स्वजनको पर ही सजाया है । परमप्रियाओंको ही परकीया भावसे विभावित किया है ।

वैकुण्ठाद्ये नाहि ये ये लीलार प्रचार ।
से से लीला करिब याते मोर चमत्कार ॥
मो विषये गोपीगणेर उपपतिभावे ।
योगमाया करिबेन आपन प्रभावे ॥ (चैतन्यचरितामृत)

लीलारसमाधुर्य आस्वादनके लिये अपने निजजनको पर सजाकर फिर अपने ही समीप खींच लेते हैं—यही क्रीडाका रूप है । यही परकीया लीला है ।

जगत्के रूपमें भी वे ही हैं । जीव उनका होनेके लिये यहां आया किन्तु भूल गया, दूर हट गया । पुनः उनके समीप पहुंच पाने पर ही शान्ति प्राप्त होगी । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयान्ति अभिसंविशन्ति तत् ब्रह्म ।" उन्हींमें से आया और पुनः उन्हींमें मिल जाना है—"सागर लहर समाना ।" जीव उन्हींका अंश, उन्हींकी परा प्रकृति है । जीवको उन्हींके पास पहुंचना है, इसीलिये साधन भजन किया जाता है । जीवका प्रयत्न देखकर वे भी सामने अग्रसर होकर चले आते हैं, करुणा करके अपने पास खींच लेते हैं । यह जो सृष्टिलीला चल रही है, इसमें भी अल्प परकीया भाव विद्यमान है । जीवको मायाके हाथोंमें सौंप दिया था, फिर उसे वहांसे खींच लाना है,—यही तो सृष्टिलीला है ।

श्रीभगवान्की अपर लीला का नाम नित्य लीला है । सृष्टिलीला चलती रहती है, बीच-बीचमें प्रलयमें लीन हो जाती है । नित्यलीला अनादि कालसे ही चल रही है– नित्य धाम गोलोक वैकुण्ठमें उसका कभी लय नहीं होता श्रीभगवान्की अपार करुणाशक्ति ही उस नित्यलीला—श्रीरासादि लीलाको श्रीवृन्दावनमें प्रकट करती हैं । नित्यलीलाकी अपेक्षा प्रकटलीलामें विशेष वैचित्र्य होता है, कारण नित्यलीलामें परकीया-रस नहीं है, विरह विच्छेद नहीं है । प्रपञ्चलीलामें स्वकीया एवं परकीया दोनों भाव ही रहते हैं । द्वारकाकी महिषीगण स्वकीया हैं, ब्रजकी गोपवधुएँ परकीया हैं । ब्रजकी केवल गोपियां ही नहीं धामके सभी उपकरण, यहां तक कि श्रीधाम भी परकीया है ।

श्रीकृष्णका जन्मस्थान, पितृभूमि मथुरा है, अतः श्रीवृन्दावन उनका परकीया निवास-स्थान है । वसुदेव-देवकी उनके पिता-माता हैं, नन्द-यशोदा उनके परकीय वात्सल्य रसके आश्रय हैं । वे क्षत्रिय कुमार हैं, ब्रजमें उनकी वेशभूषा, साजसज्जा ग्वालोचित हैं, यह भी परकीय हुयी । ब्रजके सखाओं के निकट वे गोपबालक हैं, अतः सख्यरसभी परकीय हुआ । जिन ब्रज-सुन्दरियोंके संग उन्होंने रासादि मधुर लीलायें की वे भी परकीया हैं । ब्रजका सबकुछ परकीय है किन्तु ब्रजके बाहर इसकी तिलभरभी अवस्थिति नहीं है । इसीलिये ब्रजलीलाका अपार माधुर्य अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता ।

परकीया भावे अति रसेर उल्लास । ब्रज बिनु इहार अन्यत्र नाहि वास ॥ (चै. चरितामृत)

ब्रजगोपियोंके परकीय रस-लीला का परम माधुर्य यह है, कि यह शरणागति का चरमरूप और पराभक्तिका श्रेष्ठ निदर्शन है । गीताका "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज" महामंत्र यहां साकार हुआ है । श्रीभगवान् विश्वजीवोंको निरंतर अपनी वंशीके मधुर स्वरमें पुकार रहे हैं—"समस्त धर्माधर्म त्याग करके मेरी शरणमें आओ ।" हम मूढ जीव उस

विश्व-मोहनके मोहन सुरको सुन नहीं पाते, अभिसार-पथकी दिशा देख नहीं पाते और यह भी नहीं समझ पाते कि सर्वधर्मत्याग द्वारा प्राप्य उसकी शरणका स्वरूप कैसा है। व्रजगोपियोंकी मधुर लीलासे उस अभिसार-पथकी दिशा स्पष्ट दृष्टिगोचर हुयी। हमने देखा कि इस पथ पर तो सबकुछ त्याग करके, सबकुछ पैरों से दलित करते हुये चलना पड़ता है। शरणागतिका चरम-रूपभी दृष्टिगोचर हुआ। व्रजगोपियां भगवान् की नित्यकाल की "स्वजन"—निज जन हैं। लीला हेतु पर सजकर आयी हैं। जो व्रजगोपियोंके एवं सम्पूर्ण विश्वके परम अपने हैं, उनकी वंशीकी तान पर आज वे आत्महारा होकर धावमान हैं। गोपीके उद्दाम कृष्णानुराग की बाढ़में देह-इन्द्रियोंका अभिनिवेश, गृहधर्म, लोकधर्म, सतीत्व धर्म, परलोकमें उत्तम गति—इत्यादि सभी धर्म एवं वस्तुएं तिनके की भांति बह गयीं। याज्ञिक ब्राह्मणपत्नियां भी गोपियों की भांति सर्वस्व त्याग करके कृष्णसेवा-प्राप्ति की आशामें आयीं थी। किन्तु वे उपेक्षाकी परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं हुयीं और आज्ञापालन-धर्मका त्याग करनेमें समर्थ नहीं हुयीं। श्रीकृष्ण की आज्ञा शिरोधार्य करके वे अपने गृह लौट गयीं। किन्तु गोपियोंने चरम उपेक्षाके वाक्यवाणोंके तीव्रप्रहारको भी धैर्यपूर्वक निश्चल भावसे नीरव रह कर सहन किया। वे गृह-प्रत्यावर्तन की कठोर आज्ञाका उल्लंघन करके श्रीचरणोंमें पड़ी रहीं। "पादौ पदं न चलतस्तवपादमूलात्—तुम्हारे पदद्वय त्याग करके हमारे पैर तिलमात्र भी नहीं चल पा रहे। इस प्रकार श्रीकृष्णके प्रति गाढ अनुराग हेतु वे भगवान् की आज्ञापालनरूप श्रेष्ठ धर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हुयीं। त्रिभुवनमें गोपीप्रेम की कोई तुलना नहीं है। अनुराग हेतु अपनी आज्ञाका उल्लंघन होने पर भी श्रीकृष्ण परम प्रीत हुये।

आज्ञापालने कृष्णेर यतेक सन्तोष। प्रेमे आज्ञा लङ्घिले हय कोटि सुखपोष॥ (चै. चरितामृत)

महान् महान् योगी-ऋषिगण श्रीभगवान् की आज्ञा पालन करते हुये धर्मपथ पर अग्रसर होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह परम गौरव का विषय है। किन्तु भगवत्प्रेमवश सर्वधर्म त्यागमें जो महामाधुर्य है, गीताका जो महामंत्र है, यदि गोपीगोविन्दकी प्रेमलीला नहीं होती तो वह अव्यक्त हो रह जाता। "सर्वधर्मान्" श्लोक का श्रेष्ठ निदर्शन व्रजगोपीके प्रेमाभिसारने आनन्दलोकका द्वार उन्मोचन करके जगत् जीव को परम कल्याण-पथका संधान दिया है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान् के एक और महावाक्य—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" के अनुसार अपारकरुणासिन्धु अशेषगुणनिधि श्रीकृष्णचन्द्र जब जिस भक्तकी प्रेमसेवा स्वीकार करते हैं तब उस भक्तके प्रेमभावके अनुसार विभावित होकर ही वे ऐसा करते हैं। मा यशोदा की वात्सल्य-रसपूर्ण सेवासाध पूर्ण करने हेतु वे उसका ताड़न-भर्त्सन आनन्द-पूर्ण मनसे स्वीकार करते हैं। सख्य रसमें श्रीदामादिका उच्छिष्ट भोजन करते हैं; उनके संग खेलमें हार करके उन्हें निजस्कंध पर वहन करके आनन्द पाते हैं। उसी प्रकार परकीया व्रजवधुओं की प्रेम सेवा की साध पूर्ण करने हेतु स्वयं जगत्पति होकर भी उपपतिभावसे प्रेमकला का प्रदर्शन करते हैं। सत्यस्वरूप भगवान् के ये वाक्य—"ये यैछे भजे तारे, तारे भजे तैछे" मिथ्या नहीं है।

किन्तु "सर्वधर्मान् परित्यज्य" मंत्र पूर्णाङ्ग होने पर उसका श्रीकृष्णके "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" वाक्यके संग विरोध उपस्थित हो जाता है कारण जो सबकुछ त्यागकरके उनसे प्रेम करते हैं, श्रीभगवान् के लिये भी उन्हें सबकुछ त्याग करके ही प्रेम करना आवश्यक हो जाता है तभी उपरोक्त प्रतिज्ञाकी रक्षा सम्भव है। भक्तके लिये तो सबकुछका त्याग करके एकनिष्ठ भक्त होना सहज है किन्तु भगवान्के लिये ऐसा कर पाना कभी भी सम्भव नहीं हो पाता। कारण भक्तोंकी संख्या अगणित है और सभी भक्त कुछ न कुछ भक्तिके अधिकारी हैं। प्रतिज्ञा वाक्यानुसार प्रतिदानमें कुछ न कुछ प्रेम सभीभक्तों को देना आवश्यक है। सुतरां सबकुछ त्याग करके जिन्होंने प्रेम किया उन गोपियों के प्रेम से पराजित होकर श्रीकृष्ण ऋणी ही रह जाते हैं। इस ऋणका स्वीकृतिपत्र श्रीकृष्णने "न पारयेऽहं" कहकर लिख दिया है। इस ऋणदायकी मुक्ति हेतु काले ठाकुर गौर होकर नदियाके पथ—पथ पर क्रन्दन करते हुये विचरण करते हैं।

इस प्रकारके महामाधुर्यका आस्वादन स्वकीया रुक्मिणी या सत्यभामा के संग प्राप्त नहीं हो सकता। स्वकीयामें धर्म-त्याग नहीं है, प्राप्तिकी दुर्लभता नहीं है और नित्य नवायमानता भी नहीं है। 'स्व' को 'पर' सजाने पर ही ऐसा सम्भव हो सकता है। वैकुण्ठ के द्वारपाल जय—विजय जब तक 'स्वजन' हैं, तब तक युयुत्सा की तृप्ति नहीं होती। इसीलिये उन्हें पर करके शत्रुरूपमें सजाना पड़ा। उसी प्रकार मधुररसमें जो नितान्तही अपने हैं, उन अन्तरङ्गा ह्लादिनीशक्तिरूपाओं को पर न सजाने पर माधुर्यका सार अर्थात् प्रेमरसनिर्यास आस्वादित नहीं हो सकता। पराशक्ति के संग परम शक्तिमानका—मिलन महामाधुर्य से परिपूर्ण है। बाह्यदृष्टिसे यह परकीया—भावमण्डित होने पर भी तत्त्वतः यह अन्तरंगा शक्तिके माध्यमसे रसिकशेखर श्रीकृष्णका स्वमाधुर्य आस्वादनकी लीला है। श्रीभगवान्के जन्म-कर्म दिव्य हैं, यह तत्त्वतः जाननाही शास्त्रकी विधि है। "ततो मां तत्त्वतः ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्"—श्रीभगवान्की लीलाको तत्त्वतः जानना ही प्रकृत जानना है। संदेश (मिठाई) को हाथकी मुट्ठीमें पकड़कर रखने से ही उसका ज्ञान नहीं हो जाता, जब उसको जिह्वासे कराया जाता है तब ही उसके स्वादका प्रकृत ज्ञान

होता है। अतत्त्वज्ञका जानना तो एक प्रकार से जाननाही नहीं है इसलिये लीलाको भी तत्त्वतः जानना होगा। मेघाच्छन्न धुधले सूर्यको जानना प्रकृत जानना नहीं है जब मेघ का आवरण दूर हो जाता है तभी सूर्य को तत्त्वतः देखा जा सकता है। तभी यह स्पष्ट रूपसे समझमें आता है कि सूर्यमें अंधकार नहीं रह सकता। इसी प्रकार श्रीकृष्णलीलाको तत्त्वतः जान लेने पर ही यह बात स्पष्ट रूपसे समझमें आती है कि श्रीकृष्णके सम्बंधमें परवधू-संगदोषका उच्चारण भी नहीं किया जा सकता। अतएव "परदारत्वं गोपीनां परिहृतम्।" श्रीरूपगोस्वामिपादने यही बात कही है—

लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके। न कृष्णे रस-निर्यास स्वादार्थमवतारिणे॥

अर्थात् परकीया नायिका और परकीय नायक, यह दोनों अत्यंत जुगुप्सा अर्थात् निन्दाके पात्र हैं। यह निन्दा जगत्के लिये सर्वत्र सत्य है, केवल श्रीकृष्ण और व्रजयुवतियोंके सम्बंधमें यह असुन्दर तो है ही नहीं, वरंच अपूर्व माधुर्य मण्डित है। श्रीकृष्ण का अवतार ही रस निर्यासके आस्वादनार्थ है। अपने जनको "पर" सजोनेसे ही यह निर्यास आस्वादित हुआ है, स्वकीया रहने पर यह सम्भव नहीं होता। वस्तुतः "परकीया-भावे अति रसेर उल्लास"॥ ३६॥

(४४)

महाराज परीक्षित्ने श्रीरासलीलाकी नैतिकताके सम्बन्धमें जो प्रश्न उपस्थित किया था, करुण-हृदय परमहंस चूड़ामणि श्रीशुकदेवजी उसका तीन प्रकारसे उत्तर दे चुके हैं। जिससे परस्त्री संसर्ग-दोषका सम्यक् रूपसे निरसन हो चुका है। फिर भी कोई कह सकते हैं कि जो पूर्ण-काम हैं उनमें क्रीडाकी प्रवृत्ति क्यों हुई? और यदि क्रीडाकी प्रवृत्ति हुई भी तो उन्हें एतादृश बाह्यतः लोकनिन्दनीय क्रीडामें प्रवृत्त होनेकी क्या आवश्यकता थी? अथवा यह भी मान लें कि इस लीलामें श्रीभगवान्के स्वमाधुर्य-आस्वादनकी चमत्कारिता प्रकट हुयी है, किन्तु ऐसा कार्य यदि साधारण मनुष्य की अवनतिका कारण बने तो क्या वह दोषावह नहीं है? जगज्जीवोंके विषयमें विशेष रूपसे देखना ही होगा। किसी भी लीलासे जीवको क्या लाभ-हानि हुयी यह तो विचारका माप दण्ड होना ही चाहिये। श्रीशुकदेवजीने वर्त्तमान श्लोकमें इसी प्रश्नका उत्तर दिया है।

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥ १०।३३।३७

श्रीधरस्वामिपादके मतसे इस श्लोकका तात्पर्य है—श्रीभगवान्की एतादृशी मधुर लीलाकथाके श्रवणसे भक्तोंकी तो बात ही क्या है, शृङ्गारसमें आकृष्टचित्त नितांत बहिर्मुख मूढ व्यक्तियोंकी चित्त-वृत्ति भी ईश्वरमुखी हो जाती हैं। पद्मपुराणमें भी श्रीभगवान्ने स्वयं कहा है—

मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः।

मैं अपने भक्तोंके आनन्द विधानके लिये विविध विचित्र लीलाओंका अनुष्ठान करता हूं। वे केवल स्वयं ही आनन्द-आस्वादन नहीं करते हैं, अन्य जीवोंको भी उस आनन्दका वितरण करते हैं। वे रसिक भी हैं, कारुणिक भी हैं। इस श्लोकमें भक्तके प्रति, जीवके प्रति उनकी करुणाकी वार्ताका संवाद है। अब उनकी करुणाका स्वरूप देखेंगे।

"रसो वै सः"—श्रीभगवान् रसमय हैं, रसिक शेखर हैं। रासलीलामें उनकी रसस्वरूपताकी पूर्ण अभिव्यक्ति हुयी है। फिर शास्त्रोंमें उनको अनुग्रहकी, करुणाकी मूर्ति कहकर भी कीर्तन किया गया है। यदि श्यामसुन्दर केवल आनन्दमय या रसमय होते तो इससे जीवका कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता? धनीकी धनागारमें प्रभूत ऐश्वर्य है, किन्तु उससे निर्धन दुःखी व्यक्तिको क्या लाभ है? उनमें रसमयताके संग जो कारुणिकता विद्यमान है, जीवको तो उसीसे प्रयोजन है। वे जिस समय रसमय होते हैं, उसी समय करुणामय भी होते हैं। वे जब रस-आस्वादन करते हैं, तब करुणाका वितरण भी करते हैं। वे जब भी स्वमाधुर्य-आस्वादन हेतु लीला करते हैं, उस समय उनकी अयाचित करुणाके वितरणसे जगत् प्लावित हो जाता है। आनन्ददायिनी ह्लादिनीशक्ति केवल कृष्णको आनन्द प्रदान करके ही क्षान्त नहीं हो जाती, भक्तोंको भी आनन्दका वितरण करती हैं। "भक्तगणे सुखदिते ह्लादिनी कारण"। इस श्लोकके 'भूतानाम्' के स्थान पर "भक्तानाम्" पाठभेद भी प्राप्त होता है। प्रकट लीलामें जगज्जीवोंके प्रति उनकी अशेष करुणादृष्टिके निदर्शनसे इसकी सत्यता का सहज ही अनुभव हो जाता है। इस प्रकार उनके आविर्भावके दो कारण उपलब्ध हुये। श्री चैतन्यचरितामृतमें श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने इसे सुधामय भाषामें इस प्रकार व्यक्त किया है—

रसिकशेखर कृष्ण परम करुण। एइ दुइ हेतु हय इच्छार उद्गम॥

श्रीभगवान्में अनादिकालसे रस और कृपाकी गंगा-यमुना धारा मिलित होकर एक निरुपम प्रवाह सतत प्रवाहित है।

जीवकी वासनाएँ अनन्त हैं, जीवनकी आकाङ्क्षायें किसी भी प्रकारसे पूर्ण नहीं होती। भगवान् हैं या नहीं, इस बातका कोई संधान नहीं करता, किन्तु उनके चरणोंमें प्रार्थनाओंका कोई अंत नहीं है। सब समय धन-ऐश्वर्य, मान-यश, भोग-सुख की मांग चल ही रही है। कामना पूर्ण हो जाती है तो कहते हैं, वे करुणामय हैं। किन्तु पार्थिव भोग, सुख-सम्पद तो जीवके द्वार पर उसके कर्मानुसार उपस्थित होते हैं। पुण्यका फल है सुखभोग और पापका फल दुःखभोगमें प्राप्त होता है। सुख-भोगसे पुण्यका क्षय होता है और, दुःख भोगसे पापका क्षय होता है। फलस्वरूप पुनः मर्त्यलोकमें आगमन होता है। सुतरां नश्वर धन-मान-सुखकी प्राप्तिमें करुणाका प्रकाश नहीं है। मानव जीवनकी पूर्णता भगवत्प्राप्तिमें है, ईश्वरकी प्रेम-सेवामें है और भोगेच्छामय दीनताका अवसानभी तभी होता है। इसलिये उनकी करुणाका श्रेष्ठ परिचय यही है जब वे हमें अपनी प्राप्तिका उपाय दानमें देते हैं। श्रीहरिकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय भक्तिधन ही है– "भक्त्याहम् एकया ग्राह्यः"। भक्ति गुणमय राज्यकी वस्तु नहीं है, यह तो भगवत् स्वरूपभूत और गुणातीत है। इसे अपने प्रयत्नसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, यह तो श्रीभगवान्की करुणाका ही दान है।

भक्तिदो प्रकारकी होती है—एक, औचित्यबुद्धिके ऊपर प्रतिष्ठित और अपर—हृदयके अनुरागके ऊपर प्रतिष्ठित। श्रीभगवान् सर्वापेक्षा महान् हैं, अनन्त-शक्तिसम्पन्न हैं और सर्वसम्पदके अधिकारी हैं। उनकी भक्ति करनेसे मेरे दुःख दूर होंगे और जीवनमें सुखशान्ति प्राप्त होगी, अतएव उनकी भजना करना विधेय है। इस औचित्यबोधकी भित्तिपर जो भक्ति प्रतिष्ठित है, वह वैधी भक्ति है। किन्तु किसी हेतु बिनाही श्रीभगवान्के लिये हृदयमें जो स्वाभाविक तीव्र अनुराग है—जो सुख-दुःख, न्याय अन्यायका विचार उसी प्रकार नहीं करता जिस प्रकार विषयीका विषयके प्रति लोभ, माताका संतानके प्रति वात्सल्य, नारीका उपपतिके प्रति आकर्षण किसी युक्ति या हेतु पर आधारित नहीं है—इस प्रकारका दुर्दमनीय तीव्र आकर्षण यदि श्रीभगवान्के प्रति दृष्टिगोचर हो तो उसे रागात्मिका भक्ति कहते हैं।

वैधी भक्तिकी प्रेरक बुद्धि वृत्ति होती है। जबकि रागात्मिका भक्तिका प्रेरक चित्तका भावावेग होता है। वैधी भक्ति हेतु-आधारित होने के कारण रागात्मिका भक्ति अथवा अहैतुकी भक्ति अथवा अहैतुकी भक्तिकी अपेक्षा दुर्बल होती है। वैधी-भक्ति नष्ट भी हो सकती है, किन्तु रागात्मिका भक्ति अहैतुकी होनेके कारण नष्ट नहीं होती। रागात्मिका भक्ति पूर्णतर है, मधुरतर है और उज्ज्वलतर है। श्रीभगवान् जब वैधी भक्तिका दान देते हैं तब वे करुणामय होते हैं, किन्तु जब वे रागात्मिका भक्ति प्रदान करते हैं तब वे परम कारुणिक हैं। वैधी भक्ति बुद्धि वृत्तिके ऊपर निर्भरशीला है, अतः विधिनिषेध अथवा उपदेश के द्वारा इसका दान किया जा सकता है, किन्तु रागामित्मका भक्ति शुद्ध हृदयानुरागके ऊपर निर्भरशीला है, अत एव इसका दान भक्तिभावित चित्तके द्वारा ही सम्भवपर है। रागमार्गके भक्त ही इसे प्रदान कर सकते हैं। शुद्ध रागमार्गके भक्त अत्यंत दुर्लभ हैं। जीवके दुःख से दुःखी होकर श्रीभगवान् जीवके चरम कल्याण–हेतु रागमार्गकी भक्ति प्रदान करने की इच्छा करते हैं। तब वे अपने नित्यलीलाधाम गोलोक–वैकुण्ठसे अपने नित्य-अनुरागी भक्तोंको संगलेकर भौमलीला हेतु उस मधुर लीलानिकेतन व्रजधाममें पधारते हैं। जिनकी उस लीलाके प्रत्यक्ष दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे उन्नत उज्ज्वल प्रेम-लाभ करके धन्य होगये। किन्तु जो उस लीलाके दर्शनसे वंचित हुये, उनका क्या होगा, यही महान् प्रश्न है। कारण दर्शन करने-वाले तो संख्यामें अल्प ही हैं, और असंख्य अगणित जीव तो दर्शन नहीं कर पानेवालोंकी श्रेणीभुक्त हैं इनमेंसे अधिकांश ही अनागत-कालके गर्भमें वास कर रहे थे।

दर्शन दो प्रकारसे हो सकते हैं—चाक्षुष और मानस। चाक्षुषदर्शनसे वंचित जीवोंके लिये मानस-दर्शनके अतिरिक्त गत्यन्तर नहीं है। मानस-दर्शन का प्रकृष्ट उपाय है, उस-उस लीलाका श्रवण। शुद्ध अनुरागमयी गोपियोंकी प्रेमलीला, कृष्णानु-राग-हेतु उनके सर्वस्व-त्यागकी कहानी पुनः पुनः श्रवण करनेसे ही उस प्रेम-लाभ की लालसा मनमें जाग्रत होगी और गाढ मननके फलस्वरूप मानस-नेत्रोंसे उस लीलाके दर्शन होंगे। चित्त अनुरागिणी गोपियोंके भावसे विभावित होगा और अविलम्ब कृष्णपरायण हो जायेगा (तत्परो भवेत्)। सुतरां जगज्जीवोंके प्रति परम करुणापरवश होकर ही श्रीहरिने नरतनु धारणपूर्वक एतादृश चित्ताकर्षी मधुर लीला सम्पादितकी, जिसके श्रवणसे चित्तमें अनुरागके अंकुर प्रस्फुटित होते हैं। व्रजमें अपनी लीलाका प्रकाश हो उनके अशेष अनुग्रहका निदर्शन है। जीवको शुद्ध भक्तिका संधान प्राप्त हुआ।

रागमार्गी प्रेमका वैचित्र्य ही प्रेम-पथकी बाधाओंके लंघनमें निहित है। जिस प्रकार स्वर्णको अग्निमें जलानेसे उसकी उज्ज्वलता वृद्धि प्राप्त होती है, उसी प्रकार अनुरागकी महिमा भी बाधा-विपत्तियोंसे वर्द्धित होती है। परकीया वधूके मिलनमें तो बाधा सर्वदा लगी ही रहती है। इसीलिये श्रीभगवान्ने अपनी नित्यकान्ताओंको परवधू सजाकर परकीय रस-मधुका आस्वादन किया है। इस एकही लीलासे श्रीभगवान्के दो उद्देश्य सिद्ध हो गये। प्रथमतः वे रसिकशेखर हैं इसलिये व्रजगोपियोंके संग लीलामें विशेषतः रासलीलामें उन्होंने प्रेमरस-निर्यासका आस्वादन किया। द्वितीयतः वे परम कारुणिक हैं इसलिये जगज्जीवोंको रागात्मिका भक्ति प्रदान करने की अपनी इच्छा पूर्ण करते हैं। गौर-लीलामें इस इच्छा-पूर्तिको पूर्णता

प्राप्त हुयी। श्रीकृष्ण जब अपनी स्वकीयाओंके संग लीला करते हैं तब उनका रूप होता है रसिक का और वे उस समय करुणामय होकर जगज्जीवोंको वेधी-भक्तिका वितरण करते हैं। किन्तु जब वे अपनी स्वकीयाओंको परकीया सजाकर लीला करते हैं तब वे रसिकशेखर बन जाते हैं। तब वे परम कारुणिक होकर जगज्जीवोंको रागात्मिका भक्तिका वितरण करते हैं।

स्वकीयाको परकीया सजानेका कार्य करती हैं योगमाया। जो नित्यपति हैं उन्हें उप-पति और जो निजकान्ता हैं उन्हें परवधूभावसे विभावित कर देती हैं। यह उप-पति अथवा परवधू-भाव एक अभिमान मात्र है, वास्तविक कुछ भी नहीं है। इस अभिमानका कारण है लीलाशक्ति योगमाया। वे इस अभिमानको गोपी-गोविन्द दोनोंके मनमें जाग्रत रखती हैं किन्तु उन्हें इस बातका ज्ञान नहीं होने देती।

मो विषये गोपीगण उपपतिभावे। योगमाया करिवेन आपन प्रभावे॥
आमि ह ना जानि ना जाने गोपीगण। दोहार रूपेगुणे दोहार नित्य हरे मन॥ (चैतन्य चरितामृत)

श्रीरासलीला-वर्णनके प्रारम्भमें ही "योगमायाम् उपाश्रितः" पद द्वारा यही तात्पर्य व्यक्त हुआ है। लीलाके सुष्ठु-सम्पादनमें योगमायाका कृतित्व अनेक हैं, विशेषतः रासलीलामें—

योगमाया चिच्छक्ति, विशुद्ध सत्त्व परिणति, तार शक्ति लोके देखाइते।
एइरूप रतन, भक्तगणेर गूढ धन, प्रकट कैल नित्यलीला हैते॥

परवर्ती श्लोकमें योगमायादेवीके कुछ अन्य अद्भुत कार्योंका परिचय प्राप्त होगा। अवश्य, ये सभी कार्य गोपी-गोविन्दकी लीलाकी पुष्टि-हेतु ही किये गये हैं। इन समस्त कार्योंका एकमात्र उद्देश्य श्रीगोविन्दकी सेवा ही है॥ ३७॥

(४५)

महाराज परीक्षित्‌ने जो संशयात्मक प्रश्न उपस्थित किया था उसका सम्यक्‌रूपसे समाधान किया जा चुका है। किन्तु इसके पश्चात् भी मानो कुछ उद्वेग बना ही रहता है। यदि वक्तव्यको कुछ और अधिक परिस्फुट नहीं किया जाता है तो उसे विना संशयके ग्रहण कर पाना मुश्किल है। परीक्षित् के संशयके समाधान हेतु जो युक्तियां प्रस्तुत की गयी हैं, कोई कोई उसे वेदविरुद्धाचारी व्यक्तियों की अपने कुकर्मके समर्थनका अपकौशल मात्र भी समझ सकते हैं। कोई कोई यह भी कह सकते हैं कि—"चलो हम स्वीकार कर लेते हैं कि श्रीकृष्ण परमात्मा हैं और उन्होंने अपनी नित्यकान्ता गोपियोंके संगही क्रीड़ा विहार किया था। इससे गोपियोंका परदारत्व निराकृत भी हो सकता है, किन्तु श्रीकृष्ण परमात्मा हैं, इसका निर्भरयोग्य प्रमाण कहां है? दूसरोंकी बात छोड़ भीदें, तो भी उनकी नित्यप्रेयसी गोपियां भी तो उन्हें परमात्मा बोलकर कहां जानती थीं? वे तो उन्हें अपना परम कान्त ही मानती थीं (कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने)। यदि गोपियां नित्यकान्ता ही हैं तो फिर उनके परदारत्व की बात क्यों सुनने में आती है? गोपियोंके अन्यत्र विवाहकी बात भी सर्व-स्वीकृत है, सुतरां उसको सहजमें नकारा नहीं जा सकता। पूर्वजन्ममें वे कुछ भी रही हों किन्तु वर्तमान जन्ममें विवाह-सम्बंध हेतु वे तत्-तत् गोपकी पत्नी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उन गोपीजनोंके संग पर-पुरुष कृष्णकी कामक्रीड़ाकी व्याख्या इस प्रकार कैसे की जा सकती है कि जीवकी ईश्वरमें तत्पर करने हेतु अथवा भक्तों के प्रति अनुग्रह करने हेतु संघटित हुयी थी? और भक्तपर अनुग्रह करने का यह कौन सा तरीका है? गोपगण श्रीकृष्णके परम भक्त हैं। अब यदि कृष्ण उन्हीका पत्नियोंको रात्रिकालमें घरसे बाहर निकालकर निर्जन वनमें उनके संग आमोद-प्रमोदमें मत्त हो जाते हैं, तब स्वभाविकरूप से ही कृष्णके प्रति उनकी भक्ति तो रहेगी ही नहीं, वरंच उनके मनमें कृष्णके प्रति असूया ही उत्पन्न होगी। तब वे श्रीकृष्ण अथवा अपनी पत्नियोंको सहजमें ही क्षमा नहीं कर देंगे। इससे तो कृष्णकी अपकीर्ति ही फैलेगी और गोपियोंके ऊपर भी अत्याचार होगा। सर्वोपरि श्रीकृष्णद्वारा गोपियोंके प्रति व्यभिचार एवं परमभक्त ब्रजवासियों के प्रति उनकी शठता की बात श्रवण करके अभक्त तो क्या, भक्त भी उनके विरुद्ध हो जाँयगे। इन समस्त शंकाओं के समाधान हेतु ही श्रीशुकदेवजीने वर्तमान श्लोककी अवतारणा की है।

श्रधरस्वामिपादने इस श्लोक का तात्पर्य निर्णय करते हुये अविश्वासी जनसमाज को सावधान करते हुये कहा है—"जिनके पास एतादृश ऐश्वर्य नहीं हो, वे यदि उक्त प्रकारके कार्योंमें तत्पर होंगे तो वह मूर्तिमान पाप ही गिना जायेगा और वे मूढ अविलम्ब नष्ट हो जायेंगे।" कुछ लोग सोचते हैं कि गोपगण जानें या नहीं जानें किन्तु श्रीकृष्णने स्वयं उनका इस प्रकार का अनिष्ट किया, यह श्री कृष्णके पक्षमेंभी उचित कार्य तो नहीं कहा जा सकता। इस आरोपके उत्तरमें कहा जा सकता है कि यदि कृष्णप्रेयसी गोपियां विवाह द्वारा तत्-तत् ब्रजवासी की पत्नी हों, तो निश्चय ही यह उचित कार्य

नहीं है। किन्तु उनव्रजवासी गोपोंने यदि उन गोपियों की विवाहित पत्नीकी भांति प्रतीति-मात्र की हो और वास्तविकरूपसे यदि वे श्रीकृष्णकी ही पत्नी हों एवं श्रीकृष्ण उन्हें आकर्षित करके ले गये हों तब तो गोपोंके यह बात नहीं जान पानेसे भी कोई दोषावह कार्य नहीं होता। श्रीशुकदेवजीने इस श्लोकमें यही बात कही है—

"तस्य मायया योगमायया मोहिताः सन्तः ते तस्य दारान् स्वान्–स्वान् मन्यमानाः स्व-स्व-पार्श्वस्थांश्च मन्यमानाः।" श्रीकृष्णकी मायासे अर्थात प्रेमवैचित्री-सम्पादनार्थ लीलाशक्ति योगमाया द्वारा मोहित हुये व्रजवासियोंने उन श्रीकृष्णकी पत्नियों को निज निज पत्नी मानकर उन्हें अपने पार्श्वमें अवस्थित मान लिया।

यह एक अभिनव वार्ता है। व्रजवासियों द्वारा ऐसा माननेका कारण क्या है? क्या गोपियां वंशीनाद सुनकर दौड़ी नहीं गयीं? क्या यह सत्य नहीं है कि गमनकालमें वे अपने भ्राता-पति प्रभृति द्वारा प्रतिहत नहीं हुयीं थी? फिर श्रीकृष्णने किसके संग लीला-विहार किया? यदि वे सचमुचमें वनमें चली गयीं तो उनके पतियोंने उन्हें अपने पार्श्वमें किस प्रकार देखा? एक और प्रश्न उपस्थित होता है, क्या गोपगण इस बातसे अवगत थे कि उनकी पत्नियोंके अभिसारका कारण कृष्णका अद्भुत आकर्षण है? यदि वे यह बात नहीं जानते थे तो फिर श्रीकृष्णके प्रति उनके मनमें असूया उत्पन्न नहीं हो सकती। और यदि वे ऐसा जानते होते तो अपनी पत्नियों को अपने पार्श्वमें अवस्थित देखकर वे समझते कि उनकी पत्नियोंने उनकी निषेधाज्ञाका पालन किया है अतः वे गोपियोंके प्रति तो असूया नहीं करते किन्तु श्रीकृष्णके प्रति अवश्य असूया करते। किन्तु वास्तवमें उन्होंने कुछ भी नहीं किया। इन सभी प्रश्नोंका समाधान वर्तमान श्लोकमें प्राप्त होगा।

श्रीशुकदेवजीके वचनोंसे यही प्रतिपादित होता है, कि उक्त व्रजगोपोंका योगमायाकल्पित गोपियोंके संग ही विवाह सम्पादित हुआ था, भगवान्की नित्य प्रेयसियोंके संग नहीं। सुतरां ये व्रजवासी श्रीकृष्णकी नित्य-प्रेयसियोंको ही अपनी पत्नी मानते थे, यद्यपि वस्तुतः ऐसा कुछ था नहीं। श्रीकृष्णकी सम्मोहिनी वंशीध्वनि उनकी प्रेयसी व्रजगोपियोंके अतिरिक्त अन्य किसीके कर्णगोचर नहीं हुयी। सुतरां गोपियां श्रीकृष्णके द्वारा आकृष्ट होकर गमन कर रही हैं, गोपोंके ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं था। किन्तु श्रीकृष्ण अपने स्वाभाविक माधुर्य एवं असमोर्ध्व रूप-गुणसे व्रजके सभी प्राणियोंको पुनः पुनः आकर्षित करते रहते थे, अतः गोपियां भी सम्भवतः श्रीकृष्णके दर्शनार्थ गमन कर रही हों, यह आशंका गोपोंके मनमें उदय हो भी सकती है। गोपगण श्रीकृष्णके प्रति अत्यन्त प्रीतिपूर्ण थे, अतः उनकी श्रीकृष्णके प्रति दोषदृष्टि नहीं होना ही स्वाभाविक है। किन्तु हो सकता है रात्रिकाल का असमय देखकर उन्होंने गोपियों का गमनसे निवारण किया हो। किन्तु उन्होंने यदि निवारण किया भी हो तो वे योगमायाकल्पित गोपियों का था, कृष्ण-प्रेयसियोंका नहीं। सुतरां श्रीशुकदेवजी के इंगितसे ऐसा समझमें आता है कि गोपाङ्गनाओं की एक मूर्त्ति श्रीकृष्णके समीप गयी थी और एक मूर्ति निज-निज स्वामीके निकट अवस्थान कर रही थी। किन्तु यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है? योगमायाके प्रभावसे श्रीकृष्ण को प्रेम रसनिर्यास का आस्वादन करने हेतु ही गोपियों की ये दो मूर्तियां सृष्ट हुयी हैं। इनमें से एक असली, वास्तविक और प्रकृत है, अपर नकल, मायामय एवं योगमाया कल्पित है। जो वास्तव थी वह सत्यस्वरूप श्रीकृष्णके सन्निधानमें गयी और जो मायिक, कृत्रिम थी, वह मायिक स्वामियोंके निकट रही।

केवल व्रजगोपी ही नहीं, हमारे-आपके सभीके अस्तित्वके दो अंश है। एक अंश नित्य, शाश्वत एवं सत्य है; दूसरा अंश अनित्य, मिथ्या एवं मायिक है। जो नित्य अंश है, वह सत्यस्वरूप भगवान्का है, जो अनित्य अंश है वह मायामय मिथ्या संसारका है। हमारेमें जितनी-सी भगवान् श्रीकृष्ण की सम्पद् है, वे उसी की वाञ्छा करते हैं; पुकार कर कहते हैं, मेरा धन मुझे दो। तुम्हारी आत्मा जो मेरा ही अंश है मुझे समर्पण करो। अपना कहने-योग्य जो कुछ है सब मुझे अर्पण करो (तत् कुरुस्व मदर्पणम् –गीता)।" व्रजगोपियोंने उनके प्राणमनोहारी वंशीरवमें उनका यह शाश्वत संदेश सुना था और अपना सर्वस्व श्रीकृष्णके पादपद्ममें समर्पित कर दिया था। योगमायाकल्पित जो मायामय छायासम देह थी, वही संसारी स्वामियोंके पास रह गयी थी। सुतरां यह कहना सत्य नहीं है कि श्रीकृष्ण ने परस्त्रियोंके संग रास-विलास किया था। व्रजवधूमें जितनी-सी श्रीकृष्ण की सम्पद् है, वही मात्र उनके द्वारा आस्वाद्य है। उन्होंने इतना ही चाहा था एवं वही पाया भी था। गोपियोंकी मायामय देह ही बाधा-प्राप्त हुयी थी एवं गोपोंने उसे ही अपने पार्श्वमें देखा था।

गोपरमणियों की चिन्मय एवं मायिक–इन दोनों मूर्तियों के रूपायन का कार्य योगमाया देवी का है। वे अघटन-घटना-पटीयसी हैं, उनके लिये कोई भी कार्य असम्भव नहीं है। वे कब, किस प्रकारसे क्या करती हैं, यह बात गोपियोंके—यहां तक कि भगवान श्रीकृष्णके भी अगोचर है। "आमि ह ना जानि, ना जाने गोपीगण"। श्रीकृष्ण भी जिस बात को नहीं जान पाते, उसे जाननेकी शक्ति जीवमें कहांसे होगी? फिर भी परम कृपावश होकर लीलारसिक आचार्य श्रीशुकदेवजीने इसका किञ्चित् ज्ञान प्रकाशित किया है। श्लोकमें "तस्य मायया" पद द्वारा निजमाया योगमाया देवी को लक्ष्य किया गया है। प्रेम-वैचित्र्य वर्णन-हेतु विचित्रलीला-समुल्लासिका योगमाया द्वारा ही यह व्यवस्था की गयी है। उन्होंने व्रजगोपीके चिन्मय स्वरूप

को सच्चिदानन्द गोविन्दके समीप भेज दिया और गोपीके मायामय अलीक रूपको मायिक स्वामीके पार्श्वमें रख दिया— "मायया योगमाययैव न तु बहिरङ्ग-मायया मोनहञ्च गोपीषु कृष्णमभिसृतवतीषु तादृशीस्तावतीरेव च ।"

केवल एक रात्रि ही नहीं, निखिलरजनीसमूहावधि गोपियोंने श्रीकृष्णके संग निर्जन वनमें क्रीड़ाविहार किया था। यद्यपि व्रजवासी गोपोंकी श्रीकृष्णके प्रति असूया सम्भव नहीं थी, फिर भी असूयाका आभास तो प्रकट हो ही जाता। किन्तु योगमायाके प्रभावसे निज-निज पत्नी को अपने पार्श्वमें अवस्थित देखने-हेतु गोपोंमें असूयाका आभास तक उदित नहीं हुआ। श्रीकृष्ण की मायासे मोहित होकर उन्होंने माया-निर्मित निज-निज पत्नीको अपने पार्श्वमें ही मान लिया था।

यहां पर यह भी समझ लेना होगा कि इस प्रकार का मानना केवल उस एक ही दिन नहीं हुआ था। वह दिन तो उपलक्ष्य मात्र है। विवाह आदि सभी अवस्थाओंमें इसी प्रकार की घटना घटी थी॥ ३८॥

(४६)

श्रीरासलीलाके विषयमें संशयात्मा जनगणके चित्तमें जिस प्रकारकी दोषदृष्टि सम्भव है, महाराज परीक्षित् द्वारा उसकी अवतारणा करने पर श्रीशुकदेवजीने गभीर अन्तर्दृष्टि और सुयुक्तियों की सहायता से रासतत्त्व एवं रासरसकी परम पवित्रताका वर्णन करके समस्त संशयोंका निरसन कर दिया। परम मधुर लीलाका अवसान हुआ। रात्रि शेष होनेको आया, ब्राह्ममुहुर्त उपस्थित हुआ। किन्तु कृष्णैकगतप्राणा व्रजगोपियां प्राण रहते श्रीकृष्णको त्यागकर जाना नहीं चाहती। तब रसिकशेखर श्याम-सुन्दरने लीला-वैचित्र्य-आस्वादन हेतु व्रजाङ्गनाओंको अपने गृह प्रत्यागमन करने की अनुमति प्रदान कीं। मिलनके माधुर्य हेतु मिलनके पश्चात् विरह आवश्यक है। सम्भोगके पश्चात् विप्रलम्भ प्रयोजनीय है। सम्भोगमें बाह्य-प्राप्ति है तो अन्तरमें अ-प्राप्ति की वेदना सहन करनी पड़ती हैं, विप्रलम्भमें बाह्य विरहावस्था होते हुये भी अन्तरमें प्राप्तिका आनन्द है। रसकी पुष्टि हेतु विप्रलम्भ अत्यन्त प्रयोजनीय और अपरिहार्य है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादने "ब्रह्मरात्र उपावृत्ते" पदके एक अन्य अर्थका भी आस्वादन किया है। ब्रह्माकी एक-रात्रि-काल व्यतीत होने पर रासलीला का समापन हुआ। कविराज गोस्वामिपादने ब्रह्माके दिन-रात्रिका परिमाण उस प्रकार दिया :—

सत्य त्रेता द्वापर कलि चारि युग जानि। सेइ चारियुग एक दिव्ययुग मानि॥
एकात्तर चतुर्युगे एक मन्वन्तर। चौद्द मन्वन्तर ब्रह्मार दिवस भितर॥ (चैतन्य चरितामृत)

अर्थात् सत्य-त्रेता-द्वापर कलि ये चारों युग ९९४ बार एकत्र करने पर ब्रह्माका एक दिन या एक रात्रिके समान होगा। हमारे संवत्सरके मापदण्डसे इसका परिमाण चार सौ उन्तीस करोड़ चालीस लाख अस्सी हजार वर्ष होगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अचिन्त्य शक्ति स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी इच्छा से ही यह रासलीला करोड़ों वर्षों तक चली थी। रासपञ्चाध्यायी के प्रथम श्लोकमेंभी "भगवानपि ताः रात्रीः" पदमें रात्रिका बहुवचन शब्द प्रयुक्त हुआ है। चीरहरण-लीलाके समय भी गोपियोंको वर प्रदान करते हुये श्रीकृष्णने कहा था—"मयेदं रंस्यथ क्षपाः"। यहां भी रात्रिवाचक 'क्षपा' शब्दका बहुवचनमें प्रयोग हुआ है। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि रासरजनीमें अनेक रात्रियोंका समावेश हुआ था। योगमायाकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे ही ऐसा सम्भव हुआ था। श्रीभागवतामृतमें दृष्ट होता है—

एवं प्रभोः प्रियानाञ्च धाम्नः समयस्य च। अविचिन्त्य प्रभवत्त्वादत्र किञ्चिन्न दुर्घटः॥

आलोच्य श्लोकके "वासुदेवानुमोदिताः" शब्दका अर्थ किया गया है—'श्रीकृष्ण कर्तृक आदिष्ट होकर'। एक अन्य अर्थ भी किया जा सकता है। वासुदेव चित्तके अधिष्ठात्री देवताका नाम है। उनके द्वारा प्रेरित होकर व्रजगोपियोंके निजचित्तमें प्रेरणा हुयी कि अब रासलीलाका समापन किया जाय। हो सकता है उनके मनमें अपने गृह-परिवारके दायित्वकी बात स्मरण हो आयी हो। वे अनिच्छावश अत्यंत कष्टसे ही वहांसे प्रस्थान कर पायीं। अपने प्राण त्यागनेका किसीकी इच्छा हो सकती है क्या? श्रीकृष्ण तो उनके प्राणोंके भी प्राण हैं, उनका संग त्याग करना तो प्राण त्यागनेके ही समान है। इसीलिये गमनकी इच्छा नहीं हो रही। अथवा, यह भी हो सकता है कि उनके गमनकी अनिच्छाका यह कारण हो कि उनके विरहमें श्रीकृष्ण संतप्त होंगे, उन्हें कष्ट होगा।

विरहकालका एक क्षण भी युगके समान और मिलनकालके शत युग भी क्षणार्धके समान प्रतीत होते हैं। सुदीर्घ रासरजनी व्यतीत हो गयी। किस प्रकारसे और कितनी शीघ्रतासे रासरजनी अतिवाहित हो गयी, इसका रसिक पदकर्ताने इस प्रकार आस्वादन किया है—

गत यामिनी, जित दामिनी, कामिनी कुललाजे॥

कामिनीकुलको लज्जित करनेके लिये रात्रि विद्युतगतिसे चली गयी। समस्त गोपाङ्गनायें पुनर्मिलनकी आशा हृदयमें संजोये अपने अपने घर लौट गयीं। उनके संगमें केवल विरहवेदना, आशाबन्ध एवं विगत रासरजनीकी मधुर स्मृति ही रह गयी। अब तो वही उनके जीवनका सहारा, पथका पाथेय एवं एकमात्र सम्पद् है। क्या केवल गोपियोंका ही ऐसा है! हमारा-आपका, निखिल जीवसमूह का यही तो एकमात्र सहारा, पाथेय एवं सम्पद् है॥ ३९॥

(४७)

इस अन्तिम श्लोकमें रासपञ्चाध्यायीका उपसंहार किया गया है। अनन्त-वैचित्र्यमयी लीलाका दिग्दर्शन समाप्त हुआ। वर्तमान श्लोकमें इस परम पवित्र लीलाके श्रवण एवं कीर्तनकी फलश्रुति है। अगणित ऋषि-मुनि, ब्रह्मचारी एवं सज्जनोंसे भरी सभामें श्रीभागवतवक्ता श्रीशुकदेवजीने दृप्त-कण्ठसे घोषणा की, कि ब्रजवधुओंके संग ब्रजराजनन्दनकी इस परम मधुर रासविहारका जो श्रद्धापूर्ण चित्तसे अनुक्षण श्रवण, कीर्तन, स्मरण करेंगे, उन्हें शीघ्र ही श्रीभगवान्‌की परा-भक्ति प्राप्त होगी। बहिर्मुख संशयी जीवोंको नित्य पीड़ादायक उन्हींके हृदयमें स्थित अज्ञान-तमोजनित जो उत्कट कामव्याधि है, रासलीलाके श्रवण-कीर्तनसे उसकी चिरनिवृत्ति हो जायगी। तत्पश्चात् वे स्थायी शान्ति और परमानन्दके अधिकारी हो जायेंगे। "कृष्णभक्त निष्काम अतएव शान्त"—इस परम अवस्थाकी प्राप्ति हो जायगी। वस्तुतः चित्तमें तिलमात्र प्राकृत कामनाके रहते हुये भी श्री रासलीलाके माधुर्यके आस्वादनका सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। यदि गोपी-आनुगत्य हेतु भोग-लालसामुक्त शुद्ध चित्तमें गोपी-भावामृतलाभकी इच्छा जागृत होगी, तभी यह रास-रस-भोग हो सकता है। इस विशुद्ध माधुर्यकी लीलाको प्राकृत काम-क्रीडा मानने जैसी भयानक विभ्रान्ति और क्या हो सकती है? विशुद्ध-सत्त्व उज्ज्वल ब्रह्मचर्यके साकार विग्रह परमहंस-चूड़ामणि श्रीशुकदेवजी जिस लीलाके वक्ता हों, अगणित देवर्षि एवं परमभागवतमहानुभावों सहित मृत्युपथयात्री विषय-विरागी महाराज परीक्षित् जिसके श्रद्धाशील श्रोता हों, वह रासलीला दिव्य एवं परम अप्राकृत माधुर्यमण्डित होगी, इसमें संदेहकी तिलमात्र सम्भावना भी नहीं है। इस लीलाकी गभीरतामें जो निगूढ़ रसतत्त्वका निर्यास झलमल कर रहा है, उसके बिन्दुमात्र आस्वादनके लिये महान् महान् योगी-ऋषि-भक्तगण निरन्तर उत्सुक रहते हैं और भजनमें निमग्न रहते हैं।

इस लीलाके नायक हैं पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण और नायिकायें हैं उनकी स्वरूपशक्ति। नायक स्वरूपतः ही निष्काम, आत्माराम, रसिकशेखर, रसब्रह्म हैं। वेद रसब्रह्म की खोजमें निरन्तर लग्न रहते हुये भी उसे कहीं खोज नहीं पाये। पके आमकी सुमिष्टता उस आम्रवृक्षकी मूल, काण्ड, शाखा, पत्ते, मुकुल अथवा कच्चे आममें भी कहीं खोजे नहीं मिलेगी। वृक्ष स्वयं इस असमञ्जसमें पड़ जायगा कि यह मिष्टता आयी कहां से। श्रीभागवतभी वेद-कल्पवृक्षका गलित फल है, सर्ववेदान्तसार है। वेद जिस रस ब्रह्मकी खोजमें रत थे, वह श्रीभागवतमें मिल गये। श्रीभागवतके आविर्भावसे वेद चकित तो थे ही, उसमें वर्णित समस्त लीलाओंसे अधिक आश्चर्य चकित होगये। यह किसी भी प्रकारसे बुद्धि-विचार गम्य नहीं, हैं, केवल रसिक भक्तोंके अनुभववेद्य हैं। रसब्रह्मकी आनन्द दायिनी शक्ति है ह्लादिनी और उस शक्तिकी परिकर हैं महाभावस्वरूपिणी ब्रज-गोपियां। उनके द्वारा ही रसकी पुष्टि एवं रसका विस्तार होता है। इस आनन्दरस का आस्वादन उन्हींकी कृपासापेक्ष है यद्यपि उनकी विभु कृपाकी निरन्तर वर्षा हो रही है। केवल अहंकारी एवं संशयशील व्यक्ति ही इस कृपासे वंचित रहते हैं। अनुराग-पूर्ण चित्तसे लीलाके श्रवण-कीर्तन परायण व्यक्ति ही इस कृपा-वर्षाको धारण करनेमें समर्थ होते हैं। "श्रवणादि शुद्ध चित्ते करये उदय।" इस श्लोकमें यही फलश्रुति वर्णित हुयी है। हृदयस्थित प्रतापी कामका नाश करनेमें श्रीरासलीलाका श्रवण-कीर्तन ही महौषधि है।

श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित्‌के प्रश्नका उत्तर यथायथरूपसे दे चुके, फिर भी उनके अन्तरमें इसको और स्पष्ट करने की व्याकुलता रह गयी। कलश्रुतिमें भी प्रश्नका उत्तर छिपा है। श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं—"यह विषयी जीवोंकी काम-चेष्टा नहीं है, यह तो आत्माराम का आत्मास्वादन है, इस परम पवित्र लीलामृतके स्पर्शसे ही जीव की अन्तरस्थित भोगेच्छा नष्ट हो जाती है। श्रीगीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।" श्रद्धा किसे कहते है? "श्रद्धा शब्दे कहे शास्त्रे सुदृढ निश्चय।" "शास्त्रवाक्य, ऋषिवाक्य अभ्रान्त सत्य हैं, उनमें किसी प्रकारका भ्रम-प्रमाद नहीं है"—इस विश्वास का नाम श्रद्धा है। शास्त्रवाक्य नाटक-उपन्यास की भांति मिथ्या कल्पना मात्र हैं—इस प्रकारकी भावना को ही अश्रद्धा कहते हैं। अज्ञ, श्रद्धारहित और संशययुक्त व्यक्ति सत्यसे भ्रष्ट होकर निश्चितरूपसे विनाशको प्राप्त होता है। "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति"—(गी.४।४०)।

इस लीलामें वेद-वेदान्तोंका सार दिव्य परम तत्त्वका वर्णन है। इसमें त्रितापमयी संसारकी दुर्वार भोगमुखी-गतिको विपरीत दिशामें परिचालित करने की अव्यर्थ शक्ति है। श्रीभागवत का पाठ-कीर्तन इसी प्रकारकी गभीर श्रद्धाके सहित करना होगा; तभी चित्तगुहास्थित अविद्याके अंधकारका नाश होगा और अन्तर प्रज्ञानके शुभ्रालोकसे उद्भासित होगा। हृत्‌यमुनामें चिरसुन्दर श्यामसुन्दर मधुरलीलाके आनन्दरससे प्लावन आ जायगा। श्रीहरिके पाद-पद्मोंमें दुर्लभ परा-भक्ति की प्राप्ति होगी।

श्रीरासलीलाके श्रवण-कीर्तनसे हृद्रोग दूर हो जायगा। एक यही रोग समस्त रोगोंका मूल है। हृदय की भोग-लालसा, कामवासना, इन्द्रियभोग्य वस्तुओंके प्रति दुर्दमनीय आकर्षण प्रभृति संसारकी सर्वविध अशान्ति का हेतु यह रोग ही है। हिंसा, विद्वेष, असूया, कलह, वादविवाद, युद्ध-विग्रह इत्यादि समस्त अनर्थों की मूलमें यह हृद्रोग ही है। शास्त्रों और साधकोंमें इस रोगको दूर करनेके उपाय खोजने की अशेष प्रचेष्टा रही है। यदि इस रोगका सामयिक प्रतिकार न किया जाय तो समग्र मानव समाज उच्छृङ्खल होकर ध्वंसप्राप्त हो सकता है। इतने दुःसाध्य हृद्रोग काम को दूर करने की एकमात्र प्रकृष्ट औषधि श्रीरासलीला का श्रवण-कीर्तन है।

व्रजगोपियोंके कृष्णानुराग की कथा नित्य अनुक्षण श्रवण-आदिके फलस्वरूप चित्तकी भोग-उन्मुखता मिट जायगी और चित्त कृष्णोन्मुखी हो जायगा। चित्त कृष्णोन्मुखी होनेसे ही भजन की इच्छा होगी और भजनपरायणता ही समस्त अनर्थोंका नाश कर देगी। अनर्थ-नाशसे चित्तमें प्रशान्ति का उदय होगा और जीव धीर-स्वभाव हो जायगा। धीरता का अर्थ है चित्तकी अचञ्चलता। धीरके लक्षण महाकवि कालिदासने इस प्रकार निर्देशित किये है—

विकार-हेतौ सति विक्रियन्ते। येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥

विकार-हेतु का अस्तित्व होते हुये भी जिनके चित्तमें किसी प्रकारकी विकृति नहीं होती, वे ही धीर स्वभाव व्यक्ति है। रासलीलाके श्रवण-कीर्तनसे इस स्वभावकी प्राप्ति होगी।

सर्वश्रेष्ठ लाभ होगा परा-भक्ति की प्राप्तिके रूपमें। परा-भक्ति ब्रह्मज्ञानीके लिये भी दुर्लभ वस्तु है। श्रीशुकदेवजीने इसके लिये 'प्रतिलभ्य' शब्दका प्रयोग किया है। श्रीसनातनने इसका अर्थ किया है—"प्रतिक्षणं नूतनेन लब्ध्वा"। जो भक्ति प्रतिक्षण नवायमान रूप से आस्वाद्य है एवं जिस भक्तिका आराध्य देव प्रतिक्षण नव-नव माधुर्यमण्डित होता रहता है। अर्थात् व्रजगोपियोंके प्रेमका अनुसरण करनेवाली जो प्रेमलक्षणा भक्ति है, वही परा-भक्ति है। यह वस्तु ब्रह्मा, रुद्र, लक्ष्मीदेवी की भी सदैव काम्य है। यही परमपुरुषार्थ है। इसकी प्राप्तिके पश्चात् चाहने और पाने को कुछभी बाकी नहीं रहता ॥ ४० ॥

(४८)

उपसंहार

श्रीशुकदेवजीका कथन है कि गोपी-गोविन्दकी इस मधुररसाश्रित लीलाका जो व्यक्ति श्रद्धा सहित अनुक्षण श्रवण करते हैं एवं श्रवणानन्तर वर्णन करते हैं (अनुशृणुयात् अथ वर्णयेत्), उन्हें पराभक्तिकी प्राप्ति होती है। श्रीवैष्णवतोषणीकार कहते हैं,—"शृणुयात् अथ वर्णयेत् च उपलक्षणञ्चैतत् स्मरेत् च"—श्रवण-वर्णन उपलक्षण हैं, इसमें स्मरणका भी समावेश है। श्रवण करने हेतु एक वक्ताकी आवश्यकता होती है, वर्णन करनेमें भी उसकी योग्यता आवश्यक है किन्तु स्मरणरूपी भजनमें अन्यापेक्षा नहीं है, वह सहजतर है इसलिये प्रकृष्ट है। श्रीनरोत्तम ठाकुर महाशयने कहा है,—"साधन स्मरण लीला, इहाते ना कर हेला।" निरन्तर स्मरणार्थ पूर्ववर्णित लीलाके पर्यायोंका स्मरण किया जा रहा है।

पौर्णमासी प्रदोष शारदाकाश। पूर्णशशी, सुखे बसि, सौख्य भाष ॥ (प्रभु जगद्बन्धु)

शरत्कालीन पूर्णिमाकी रजनी है, निर्मल मेघहीन आकाश है। पूर्णिमाकी शुचि शुभ्र सुन्दर ज्योत्सनाकी किरणछटासे कुञ्ज-वीथि, सैकत भूमि उद्भासित है। मल्लिका, मालती, कुन्द प्रभृति पुष्पराजि प्रस्फुटित होकर वायुको सुरभित कर रहे हैं। व्रजकी काननभूमि सर्वतोभावसे सुषमामण्डित हो रही है। कोकिलकी कुहुतान एवं भ्रमरके गुञ्जरणसे वनभूमि मुखरित हो रही है।

शारद चन्द, पवन मन्द, विपिने भरिल कुसुमगन्ध।
फुल्ल मल्लिका, मालती यूथि, मत्त मधुकर भरणी ॥

"हेरत राति, ऐछन भाति"—रात्रिकी इस अपरूप शोभाका दर्शन करके मुरलीधरने यमुनातट पर त्रिभङ्ग-भङ्गिमासे दण्डायमान होकर मोहन-मुरली बजाई। "जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्"—वंशीपर अपनी प्रेयसियोंको आकर्षित करनेवाले मधुर सुरकी संयोजना की। उस वंशीरवसे आकृष्ट होकर वामनयना व्रजसुन्दरियां उन्मादिनीकी भांति दौड़ पड़ीं। उन्होंने गृहधर्म, नारीधर्म, लज्जा-धैर्य-भय इत्यादिका विसर्जन कर दिया। व्रजवधूगण सागरगामिनी तटिनीकी भांति पथकी समस्त विघ्नबाधाओंका तिरस्कार करती हुयी उद्दामवेगसे चल पड़ीं। श्रीगीताके 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' मंत्रका मर्मार्थ साकार हो उठा।

रंगलाल नन्ददुलालने अपनी प्रियतमाओंकी प्रीतिकी गभीरताकी परीक्षा करने हेतु एवं स्वचक्षुओंसे उनकी विरहार्ति का उपभोग करने हेतु निर्मम भाषामें उपेक्षा-भाव प्रदर्शित करते हुये एक जालकी रचनाकी। किन्तु उस कठोर परीक्षामें गोपाङ्गनाएँ पूर्णाङ्क लेकर उत्तीर्ण हुयीं। अपनी सर्वस्वत्यागकी महामहिमा एवं पूर्ण आत्मसमर्पणकी गुरुगरिमासे मण्डित वे धन्य हैं। कालिन्दीके पुलिन-अङ्गनपर रमणरेतीपर रासोत्सव प्रारम्भ हुआ। कोटि-कोटि गोपी; जितनी गोपियां श्रीकृष्णने उतने ही रूप धारण कर लिये। श्रीगोविन्द दो-दो गोपियोंके कण्ठ धारण करके उनके मध्यमें शोभित हुये। प्रेमरूपी गोपी भावातुर हैं और प्रेमवश गोविन्द आवेश-भर हैं। रस-उदधि उद्वेलित हो उठा। आदर, आप्यायन, आलिङ्गन, चुम्बन आदिमें आनन्द रसवस्तु आकारित होकर रास गोपी-गोपीनाथके महामिलनमें मूर्त हो गया।

रसोदधिमें एक नूतन तरङ्गकी सृष्टि हुयी। आनन्दघन पुरुषोत्तमके आदरके आतिशयसे आनन्दरससिन्धु उद्वेलित हो उठा। गोपियां गर्विता हो गयीं और भानुदुलारी श्रीराधाठाकुराणी मानिनी हो गयीं। मदनमोहन गर्वके प्रशमन-हेतु और मानके प्रसादन-हेतु मानिनीको संग लेकर अन्तर्धान हो गये। रासमण्डलस्थ अन्य गोपियोंको इसकी भनकभी नहीं पड़ी (तत्रैवान्तरधीयत)। आनन्दघन रसिक नागरके अदर्शन-हेतु गोपीगण विषाद-सिन्धुमें निमज्जित हो गयीं। कुलललनायें गोविन्दका अनुसंधान, अनुकरण, अनुसरण करती हुयीं उन्मादिनी होकर विचरण करने लगीं। विरहिणियोंने वृक्षलता, पुष्प, कानन, तुलसीवन, हरिणी, पुलकिता धरणी प्रभृति प्रत्येकसे कृष्णकी वार्ता जिज्ञासाकी। किन्तु हाय ! उनकी कोई भी प्रचेष्टा सफल नहीं हुयी; हारानिधि श्रीगोविन्दका दर्शन नहीं हुआ।

विरह-व्यथासे, प्रेमतन्मयतासे कृष्ण-भावसे विभाविता व्रजगोपियां कृष्ण-लीलाका अनुकरण करती हुयीं पागल हो गयीं। भावोन्मत्तता-हेतु वे कभी स्मरण, कभी मनन, कभी अनुध्यान और कभी अनुसंधान करने लगीं। सहसा उन्हें भूमिपर ध्वजवज्राङ्कित श्रीचरणचिह्नोंके दर्शन हुये। श्रीगोविन्दके चरणचिह्नोंके संग-संग श्रीराधाके चरणचिह्न भी थे। नैराश्यके अंधकारमें आशारूपी प्रकाशकी किरण दिखायी दी। अब प्राणगोविन्दके दर्शन अवश्य प्राप्त हो जाँयगे। उस छाया-घिरी वनवीथिपर युगलचरणोंको देखते-देखते, नाना प्रकारकी सम्भावनाओंका चिन्तन करते-करते वे अग्रसर हुयीं।

श्यामसुन्दरने अपनी मनमोहिनी भामिनी राइधनीको आदर, आश्लेषण, स्नेहवर्षणकी आनन्दमयी धारासे आप्लावित कर दिया। स्वयंभी न जाने कितनी देर तक प्रेममयीके प्रेम रसमें डूबे रहे। इच्छामयके मनमें पुनः नवायमान रसास्वादनकी इच्छा जाग्रत हुयी। उसी क्षण श्रीराधारानीके मनमें गर्वरूपी सञ्चारीभावका उदय हुआ और वे कहने लगीं—"अब पैरोंमें आगे चलनेकी शक्ति नहीं है।" प्रेमाधीन श्रीगोविन्दने उन्हें अपने स्कंध पर अरोहण करनेको कहा। ज्योंहि श्रीराधा आरोहण करनेको उद्यत हुयी कि भानुदुलालीमें प्रेमवैचित्त्य विरह प्रकट होगया। वे 'हा नाथ !' कहती हुयी आर्तनाद कर उठीं। व्रजनागर किसी लताकी ओटमें छिपकर प्रेममयीके विप्रलम्भ रसमाधुर्यका आस्वादन करने लगे।

वरहिणी गोपियां खोजते-खोजते मूर्च्छिता राधारानीके समीप उपस्थित हुयीं। देखा भानुदुलाली "हा नाथ ! हा रमण" कहती हुयीं आर्तवाद कर रही हैं। आर्तस्वरमें केवल यही कह रही हैं—'हा नाथ, हा रमण, क्वासि !"—कहां हो, कहां हो !; "दर्शय सन्निधिम्"–निकट आकर अपने दर्शन दो। मुखसे केवल "हा हरि, हा हरि" उच्चारण हो रहा है और धूलिमें लटपोट हो रही हैं। अन्य समस्त गोपियों की सेवा–शुश्रुषा से राधारानी किंचित् प्रकृतिस्थ हुयीं। पुन श्रीहरिका सामूहिक अनुसंधान प्रारम्भ हुआ। अन्तमें श्रीराधाने कहा—नही, अब अधिक अनुसंधान निरर्थक है। इस अंधकार गहन कंटकाकीर्ण वनमें चलते हुये अपने प्रियतमके श्रीचरणोंमें कितनी व्यथा हो रही होगी। जब वे हमारे दृष्टि-पथसे और अधिक दूर रहनेकी चेष्टा कर रहे हैं, तो हम उनका पश्चादृगमन करके उनकी अधिक वेदनाका कारण नहीं बनेगीं। आओ, हम सब एकत्र होकर क्रन्दन करें, जिससे प्रियके अदर्शनकी वेदनाका कुछ लाघव हो। आओ, हम सब समवेतभावसे एकतानसे एक प्राणसे "गोविन्द, दर्शन दो" पुकारती हुयी क्रन्दन करें। बस, अनर्गल अविरत अश्रुधारासे उनके वक्षके वसन सिक्त हो गये। गोपाङ्गनाएँ प्राण खोलकर रोईं और विरहकी एक मर्मस्पर्शी गीतिका का सस्वर गान किया। अन्तमें कहने लगीं—"हे प्रिय ! तुम्हारे अदर्शन-हेतु हमें जितनी वेदना हो रहा है, उससे अधिकतर वेदना हमें यह सोचकर हो रही है कि तुम अपने सुकोमल चरणोंसे इस शिलतृणां-कुरमय अंधेरे पथपर किस प्रकार चल रहे हो और तुम्हें इससे कितनी भीषण व्यथा हो रही होगी।" चरम प्रतीक्षाके पश्चात् मदनमोहन "साक्षात मन्मथमन्मथ" रूपसे अपने मोहन वेशमें मधुर स्मित-हास्य करते हुये प्रकट हुये। एक हस्तमें धृत था पीताम्बर, कण्ठमें शोभित थी वनमाला। व्रजगोपियोंकी मृतदेहोंमें प्राण सञ्चारित हुये, उनके हृदयमें जीवनीशक्तिका स्पंदन हुआ। हठात् समस्त गोपियोंने एकसाथ खड़े होकर हृदय खोलकर प्राणप्रियका स्वागत किया और अपने वसनांचलका आसन समर्पित किया। प्रेमप्रीतिके परम विश्लेषणसे पूर्ण गोपी-गोविन्दका प्रश्नोत्तर हुआ। गोपीप्रेमके सम्मुख व्रजविहारीने अपनी हार मान ली और राधापतिने ऋणकी स्वीकृति दी। उसी ऋणकी दायसे भानुदुलालीके अंगोंसे अंग ढककर, उनके भावसे विभावित होकर उन्हें गौराङ्ग बनना पड़ा। एक युग पश्चात् उन्हें नदिया नगरमें जगन्नाथ मिश्रके आंगनमें आना पड़ा।

गोपी-प्रेमकी स्वीकृतिसे उनके अन्तर की सम्पूर्ण ग्लानि दूर हो गयी। रसिकशेखर समस्त गोपियोंको संग लेकर यमुनां-पुलिन पर एकत्र हुये। रासोत्सव महासमारोह प्रारम्भ हुआ। दो-दो गोपी, एक-एक कृष्ण। "अङ्गनामङ्गनामन्तरा माधवो" पुनः "माधवं माधवं चान्तरेण अङ्गना"। दो-दो कृष्ण, एक-एक गोपी; इस प्रकार नीलमणि एवं हेममणिसे गुंथी अभिनव गोपी-गोविन्द की मालिकासे रासस्थली शोभायमान हुयी। एक कृष्ण और एक गोपी—मानो आलोक और अंधकार का खेल चल रहा हो। मेघके तनु पर विद्युत् का मिलन। विद्युत्वर्णा गोपी मेघवर्ण गोविन्दके पार्श्वमें स्थित होकर नृत्य कर रही है। मानो चन्द्रके संग चकोरका मिलन हो। चन्द्रवर्णा गोपियोंके पार्श्वमें चकोर रूप नन्दनन्दन उनकी माधुरीका आस्वादन कर रहे हैं। कभी–कभी गोपीयूथ स्थिर होकर दण्डायमान है और सम्मुखमें नटवर आलातचक्रवत् मेघचक्र का विस्तार करते हुये नृत्य कर रहे हैं। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो विद्युत् स्थिर है, मेघ चंचल हैं। इस अपरूप रासविहारमें सबकुछ ही अपूर्व है। श्रीकृष्ण गोपीके निर्देशानुयायी नृत्य कर रहे हैं। वे अत्यंत द्रुतगतिसे नृत्य कर रहे हैं किन्तु वनमाला दोलायमान नहीं हो रही, नुपुरों की झङ्कारका शब्द तक नहीं हो रहा। फिर गोपियां श्रीकृष्णके निर्देशानुसार नृत्य कर रही हैं किन्तु अत्यंत द्रुततालपर नृत्य चलते हुये भी न तो उनके श्रवण-कुण्डल हिल रहे हैं, न मोती जड़ी नथ ही हिल रही है। इस विचित्र नृत्यानुष्ठानमें कभी विनोदिनी राइ की नथ की शर्त्त बदी जाती है तो कभी वनमाली की वंशी की शर्त्तबदी जाती है। एक नटवर चूड़ामणि है, अपर नटिनी-शिरोमणि हैं और सङ्गिनियां रसतरङ्गिणियां हैं।

इस रासनृत्यमें विश्व-जगत् ही नाचता है। पुष्पके ऊपर नृत्य करती है भ्रमर-भ्रमरी, मेघकी ताल पर नृत्य करते हैं मयूर-मयूरी। कदम्बशाखापर नृत्य करते हैं शुक-सारी। वृषभवाहन पर पार्वतीके संग नृत्य करते हैं शंकर। विमानारूढ इन्द्राणी के संग नाचते हैं इन्द्र। ब्रह्मलोकमें सावित्रीके संग नृत्य करते है ब्रह्मा, चन्द्रलोकमें रोहिणीके संग नृत्य करते हैं पूर्णचन्द्र। वृक्षलता, पशुपक्षी, जलस्थल-आकाश-वायु सभी गोपी-गोविन्दके प्रेमकी उद्वेलता-जन्य आनन्दसे नृत्य करते हैं। इस आनन्दमय रसनृत्य का विराम नहीं हैं, यह निरन्तर, निरवच्छिन्न, निरवद्य चलता ही रहता है। इस आनन्दके रससे मत्त होकर ही वैदिक ऋषिने मधुमंत्र गाया है—"मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।" इस लीला-रससमुद्रमें निमज्जित होकर ही अजय-तट पर जयदेवने कोमल कान्त पदावलीमें गाया—"श्रृङ्गारः सखि मूर्त्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीड़ति।" आदिरसके घन-विग्रह श्रीहरिके रासनृत्य की कवि वर्णन करते हैं—

लीलामृत वरिषणे, सिञ्चे चौद्दभुवने,

प्रमरसमें सिक्त होकर चतुर्दश भुवन नृत्य करते हैं। तुमुल नर्त्तनानन्द समाप्त होनेको आया। महारासके महानृत्यसे सभीमें महाक्लान्ति प्रकट हुयी। तब सबने श्रीयमुनाजीके स्निग्धशीतल वारिमें जल-विहार करके प्रशान्ति प्राप्त की। तत्पश्चात् रासश्रमजन्य आलससे पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त हुयी। प्रभु जगद्बन्धुसुन्दरके मधुमय पदका आस्वादन एवं स्मरण करें:—

सानन्दे कालिन्दी जले, करे केलि कुतूहले, श्यामसने सकल गोपिनी।
रासश्रमे अवशाङ्ग, जलकेलि करि साङ्ग, उठे सब रासविलासिनी॥
बसन सम्बरि, सब सहचरी, याय पुनः कुञ्जवने।
सुखेर बासरे, राधा दामोदरे, बसाय रतनासने॥
नाना आभरणे, साजाय दु'जने, उपहार सारि सारि।
चर्व्य चूष्य पेय, केह आनि देय, वारिपूर्ण स्वर्ण झारि॥
सानन्दे भोजन, करि समापन, दोंहे आचमन करे।
अति सुमधुर, ताम्बुल कर्पूर, ललिता अधरे धरे॥
राइ लये अङ्के, रतन पालङ्के, सुइल नागर राय।
सब सखीगण, आनन्दे मगन, हेम चामर डुलाय॥
हेर लो सजनी सब, शु'येछे राधामाधव, प्रति अङ्गे प्रति अङ्ग राखि।
नागर बाहु शिथान, कमलिनी निद्रा यान, मुदित सरसीरुह आँखि॥
देख देख ओ सजनी, निद्रावेशे राइधनि, श्याम अङ्गे राखियाछे पा।
सबे सावधान हओ, धीरे धीरे कथा कओ, प्यारी येन ना घुचान पा॥

तखन, निज निज कुञ्जे सबे करिल शयन। दास जगद्‌बन्धु करे तोरण रक्षण ॥

स्वानुभवजन्य आनन्दमें मग्न प्रभु जगद्‌बन्धु हरि लीलातोरण के पार्श्वमें पहरेदारी करने लगे। यह भी तो देखाना होगा कि इसमें अनधिकारी का प्रवेश नहीं हो। किन्तु अन्तरका गूढ अभिप्राय यह भी था कि अनधिकारीको कृपा-वृष्टि से आप्लावित करके उसे अधिकार दिलाकर अपने संगमें ले लेंगे ॥

(४९)

श्रीश्रीरासलीलाका वैचित्र्य और वैशिष्ट्य

श्रीश्रीरास एक अपूर्व और असाधारण माधुर्यमण्डित लीला है। इस लीलाका वैचित्र्य और वैशिष्ट्य अपार है, जिसमेंसे कुछ अल्पमात्रामें लीलावर्णन कालमें दिग्दर्शन कराया गया है। स्मरणार्थ पुनरावृत्तिकी जा रही है :—रासलीलाके मुख्य वक्तव्य विषय आठ हैं। इन आठ विषयोंमें आठ ही वैचित्र्य और चौदह वैशिष्ट्य हैं जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) श्रीकृष्णकी वेणुका आकर्षण—वेणुनाद वैसे "सर्वभूतमनोहरम्", है, किन्तु रासके दिनकी विचित्रता यह है कि उस दिनकी वंशीध्वनि केवल "वामदृशां मनोहरम्" थी –केवल श्रीकृष्णकी प्रेयसियोंको ही कर्णगोचर हुयी।

(२) व्रजाङ्गनाओंका अभिसार :—वंशी सुनकर सभी गोपियोंने एक ही पथसे अभिसार किया किन्तु वैचित्र्य यह हुआ कि आज गोपियां "अन्योन्यमलक्षितोद्यमाः" थी—एकका उद्यम अर्थात् कर्मचेष्टा यानि गमन अन्य गोपीको मालुम ही नहीं पड़ा। इसके द्वारा भावतन्मयताकी पराकाष्ठा प्रदर्शित हुयी है।

(३) व्रजाङ्गनाओंका आत्मसमर्पण :—श्रीभगवान् द्वारा करुणा-वृष्टि होने पर ही साधना पूर्णता-प्राप्त होती है। श्रीगोविन्दकी वंशीके प्रबल आकर्षणसे ही गोपियोंकी साधना पूर्णता प्राप्त हुयी। इस पूर्णाङ्ग समर्पण द्वारा ही गीताका चरम मंत्र "सर्वधर्मान् परित्यज्य" मूर्तिमान् हुआ। यही वचित्र्य है।

(४) गोपियोंमें सौभाग्यजनित मदके उदयके फलस्वरूप वे अपने प्राणप्रिय कृष्णधनसे वञ्चित हुयीं। इसका वैचित्र्य दो प्रकारसे आस्वादनीय है—बहिरङ्गदिक् और अन्तरङ्गदिक्। बहिरङ्गदिक्—श्रीहरि अपने भक्तका स्वल्प-सा अहंकार भी सहन नहीं करते। "अहंकार ना सहेन ईश्वर सर्वथा"। हम भी श्रीकृष्णके नित्यदास हैं, उनके संग नित्ययुक्त हैं, किन्तु युक्त होते हुये भी वियुक्त हैं कारण अहंकारसे विमूढ होकर कृष्णधन खो बैठे हैं। गोपियोंका मद-गर्व चूर्ण-विचूर्ण होनेके पश्चात् श्यामसुन्दरने पुनः दर्शन दिया। अन्तरङ्गदिक्—यह मद अथवा गर्व गोपियोंके हृदयस्थित कृष्ण-प्रेमसमुद्रका एक सञ्चारीभाव है। इसका आविर्भाव कृष्णसुखार्थ हुआ है। मद-हेतु कृष्णसे विच्युत होकर वे विरहानलमें दग्धीभूत हो गयीं। इस विरहका हेतु है सम्भोगरसको पूर्णाङ्गमें आस्वादित कराना।

(५) श्रीराधारानीके मानोदय के फलस्वरूप श्रीकृष्ण उनको संग लेकर अन्तर्हित हो गये; उद्‌देश्य था उनके मानका प्रसादन। इसका वैचित्र्य भी दो प्रकार से आस्वादनीय है—बहिरङ्गदिक् और अन्तरङ्ग दिक्। बहिरङ्गदिक्—समस्त गोपियोंकी अपेक्षा श्रीराधाका श्रेष्ठत्व प्रकट करने हेतु इस मानलीला का आविष्कार है। श्रीराधा कृष्ण प्रेम-कल्पलता है और गोपियां उसके पल्लव–पुष्प हैं। लता और पत्रावलीमें, श्रीराधा और गोपियोंमें क्या पार्थक्य है, यह जगज्जीवोंको ज्ञात हुआ, गोपियोंको भी ज्ञात हुआ। अन्तरङ्गदिक्—लीलारस प्रेम-भूमिपर अवस्थित है, इसे महाभाव-भूमि पर उन्नीत करना होगा। प्रेमवृद्धि होने पर स्नेह होता है और स्नेह-वृद्धि होनेपर मान होता है। मान के पश्चात् प्रणय-भूमि अवस्थित है। प्रणयके प्रश्चात् क्रमशः राग, अनुराग, भाव और महाभाव-भूमि स्थित है। मान हुये बिना प्रणय का आविर्भाव नही होता। श्रीराधाका स्वरूप है श्रीकृष्णकी 'प्रणय-विकृति'। विकृति का अर्थ यहां 'चरम परिणति' है। प्रेमरस प्रणयभूमिपर गाढता-प्राप्त न हो तो अपनी चरम परिणति महाभाव-अवस्था पर उपनीत नहीं हो पाता। स्नेहसे प्रणय तककी यात्राके मध्यमें मानलीला एकान्त प्रयोजनीय है। मान-विरहके पश्चात् दोनोंकी एकात्मता अधिक निविड़ होजाती है। लीलारसको चरम परिणति पर उपनीत करने-हेतु ही योगमायाने मान-लीलाकी योजनाकी।

(६) श्रीराधासह गोपियोंने समवेतरूपसे कृष्णानुसंधान किया; फिर अनुसंधान त्यागकर यमुनातट पर समवेत स्वरमें केवल क्रन्दन किया। अनुसंधानसे उनकी प्राप्ति नहीं हो सकती; वे तो करुणावश होकर ही आते है। आवेगपूर्ण क्रन्दनसे पूर्ण करुणाको धारण करनेकी योग्यता प्राप्त होती है। अन्तमें मदनमोहनको प्रकट होना पड़ा। क्रन्दन करते-करते जब वह अपने चरम पर पहुँच गया तो खोया हुआ माणिक पुनः प्राप्त हुआ। श्रीकृष्ण हम सभीके खोये-धन हैं; उनको पुन प्राप्त करने का एकमात्र उपाय तीव्र व्याकुलता है। यह बात अन्यत्र भी कही गयी है किन्तु रासमें यह पूर्णतः साकार होगयी है। प्रबल आकुलता के फलस्वरूप मदनमोहन की मधुर हास्य बिखेरते हुये पुनः प्रकट होना ही पड़ा।

(७) गोपी-गोविन्दका प्रश्नोत्तर एक चमत्कार प्रकरण है। प्रश्नकर्त्री रसमयी व्रजाङ्गनाएँ हैं और उत्तरदाता रसिक-शेखर श्रीराधारमण हैं। रासस्थल जैसे उल्लासमय स्थान पर प्रेमरसतत्त्वका विश्लेषण किया गया है। इस प्रकारके स्थान पर, इस प्रकारके वक्ता-प्रश्नकर्ताके मध्यमें इस प्रकारके विषय की इतनी चमत्कारिक आलोचना शास्त्रोंमें अन्यत्र कुत्रापि दृष्टिगोचर नहीं होती। इस आलोचनाके फलस्वरूप गोपी-प्रेमकी अनन्यसाधारणता एवं श्रीकृष्ण द्वारा गोपियोंके अनन्यप्रेम की चिरऋणत्व की स्वीकृति स्वयं श्रीमुखोक्त 'न पारयेऽहं' श्लोकमें स्पष्टरूपसे व्यक्त हुयी है। इस प्रकरण का यही अपूर्व वैचित्र्य है।

(८) गोपी-गोविन्दका मिलनानन्द। इस मिलनानन्दमें अचिन्त्यभेदाभेदवाद मूर्त्त हो उठा है। अद्वैतवादी ज्ञानीके मतसे साधक ब्रह्मसे एकात्मता प्राप्त करता है। भक्तिवादीके मतसे साधक की पृथक् सत्ता रहती है। यदि पृथक् सत्ता रहती है, तो उस पृथक् सत्तासे क्या महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित होता है? इसीका उत्तर गोपी-गोविन्दके नृत्यमय परम मिलनानन्दमें प्राप्त होता है। चिन्मय देहसे भक्त-भगवान् की मिलन- मधुरिमाका निविड़ आस्वादन ही रासलीलाका मूल वर्णनीय विषय है। गोपी-गोविन्द तत्त्वतः अभेद हैं किन्तु वस्तुतः आश्रयावलम्बन और विषयालम्बन-भेदद्वारा भेद-विशिष्ट भी हैं। यह अभेदमें भेद ही वेदान्तवेद्य परात्पर तत्त्व है।

इस लीलामें इन आठ वैचित्र्योंके अतिरिक्त चौदह वैशिष्ट्य भी है—

(१) गोपीके अभिसारमें सावित्रीमंत्र मूर्त्त हुआ है।

(२) "तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत"–श्रीगीताका यह मंत्र गोपीके अभिसारमें पूर्णरूपसे मूर्तिमन्त हुआ है।

(३) श्रीकृष्णकी प्रत्याख्यान उक्ति की कठोरताके फलस्वरूप एक अपूर्व वैशिष्ट्य व्यक्त हुआ है। प्रियतमके सम्मुख दण्डायमान रहते हुये ही व्रजाङ्गनाओंने तीव्र विरह-वेदना भोगी। प्रियतमके सान्निध्यमें, मिलनोचित नैकट्यमें भी विरह मिला। श्यामसुन्दरने समीपमें रहकर ही प्रियतमाओं की विरह-वेदना, स्वयंके अदर्शन-हेतु गोपियाँ को कितनी गभीर वेदना भोग करनी पड़ती है और गोपियोंके प्रेमकी गभीरता कितनी अधिक है, इन सब बातों का आस्वादन किया।

(४) गोपियोंका सौभाग्यमद एवं श्रीराधारानीका मान; गर्वका प्रशमन एवं मानका प्रसाधन, श्रीगोविन्दने ये दोनों कार्य—रासस्थलीसे श्रीराधाके संग अन्तर्हित होकर सुष्ठुरूपसे संपादित किये।

(५) जबतक गोपियां श्रीराधाके आनुगत्यमें हैं अर्थात् कृष्ण सुखैकतात्पर्यमयी हैं, तभीतक श्रीरासलीला सम्भव है। अन्यथा श्रीराधा अन्तर्धान हो जाती हैं। गोपीका गर्व ही श्रीराधानुगत्यसे विच्युतिका कारण है। जो अनुगता हैं, वे गर्विता किस प्रकार हो सकती हैं? गोपियों द्वारा स्व-स्व भावमें पृथक्-पृथक् स्थिति और श्रीराधाका अन्तर्धान—एक ही बात है। श्रीराधा शृङ्खला हैं, माला का सूत्र हैं। सूत्र छिन्न होते ही पुष्पराशि पृथक् एवं शृङ्खला-हीन हो जाती है। एक श्रीराधाके अन्तर्हित होते ही कोटि-कोटि गोपियोंके रहते हुये भी रास सम्भव नहीं हुआ। यह एक और वैशिष्ट्य है।

(६) गोपियों द्वारा कृष्णानुसंधान। इस प्रकार का अनुसंधान आज तक किसीने किसी भी कालमें नहीं किया। श्रीभगवद् प्राप्ति ही जिनके जीवनका चरम साध्य हो, उनके लिये कृष्णानुसंधान ही श्रेष्ठ साधना है। जो इस साधनाके पुरोवर्ती हैं, जिनकी व्याकुलता अति तीव्र है, कृष्णके प्रति प्रधावन की गति जिनकी सर्वाधिक है, वेही समस्त साधकोंके आचार्य-स्थानीय हैं, गुरु हैं। अतः गोपीगण ही सर्वश्रेष्ठ गुरु हैं। वे अनादिकालसे कृष्ण-प्राप्ति-हेतु धावमान हैं और इस प्रकार सर्वकालीन समस्त नर-नारियों की पथ-प्रदर्शक हैं। उनका आनुगत्य ग्रहण करना ही सर्वश्रेष्ठ पन्था है, कृष्ण-प्राप्तिका अचूक उपाय है। "गोपी अनुगति विना ऐश्वर्य ज्ञाने। भजिले ओ नाहि पाय व्रजेन्द्रनन्दने ॥" (चै. च.)

(७) सौभाग्यमदसे कृष्ण को खोकर व्रजाङ्गनाएँ तीव्रताप हेतु प्रतिरूढमूर्त्ति हो गयीं एवं श्रीकृष्णकी पूर्ववर्ती समस्त लीलाओंका अनुकरण एवं आस्वादन करने लगीं। तीव्र विरहके मध्यमें भी मिलन प्राप्त हुआ। विरह की तप्त मरुभूमिमें प्रतिरूढ मूर्तिका आस्वादन मरु-उद्यान तुल्य आनन्द दायक हो गया।

(८) श्रीराधाका प्रेमवैचित्त्य। यह मिलन कालमें भी विरह की स्फूर्ति कराता है। रसराज्यमें यह एक अपूर्व आस्वादनीय वस्तु है।

(९) विरहिणी गोपियोंके संग विरह-सन्तप्ता श्रीराधाका मिलन। सभी गोपियां विरह-कातर हैं इसलिये उनका पारस्परिक भेद विलीन होगया और मिलन—हेतु राधानुगत्य विकसित होगया।

(१०) समवेत क्रन्दन की वेलामें वे सभी समभावसे श्रीराधाभावमयी हो गयीं और तत्पश्चात् अविलम्ब श्रीराधानाथ का प्राकट्य होगया। अनुगत्य की शिथिलता अथवा अभाव ही अपराध है और इसीलिये विरह-वेदना का भोग भी करना पड़ता है आनुगत्यसे ही श्रीकृष्ण-प्राप्ति एवं मिलनानन्द प्राप्त होता है।

(११) श्रीकृष्ण का मन्मथ-मन्मथरूपमें आविर्भाव हुआ। अप्राकृत मदन आज मदनमोहन होगये। दीर्घ विरहके पश्चात् गोपियों को चरम मिलनानन्दका आस्वादन हुआ। मदनमोहन स्वरूप परम कारुण्यका परिचायक है। इस स्वरूप की कृपासे ही प्राकृत भोग-सुखाविष्टता का तत्क्षण नाश होता है और परमपुरुषमें प्रीतिका उदय होता है।

(१२) गोपियोंके प्रश्नके उत्तरमें श्रीकृष्णने निजमुखसे ही गोपी-प्रेमकी श्रेष्ठता स्वीकार की है। श्रीकृष्णके श्रीमुखसे अपनी अधमर्णता की (अतिशय ऋणी जिससे निष्कृति नहीं मिल सकती) अपूर्व स्वीकारोक्ति प्रकट हुयी है।

(१३) श्रीरासनृत्यकी विशिष्टता :—विद्युत्वर्णा गोपियोंके मध्यमें श्रीकृष्णने मेघचक्र की सृष्टि की। रासनृत्यसे यह तथ्य सुव्यक्त होगया कि गोपी-गोविन्द उभयही कितने कलाविद् हैं। ये ही नृत्य-गीतादि समस्त कलाओंके आदि गुरु हैं।

(१४) महाराज परीक्षित् और श्रीशुकदेवजीके प्रश्नोत्तरसे लीलाका स्वरूप-तत्त्व उद्घाटित हुआ है। इससे यह यह बात निर्विवाद और असन्दिग्धरूपसे सिद्ध हो गयी कि रासलीला प्राकृत कामक्रीड़ा जनित क्षणिक सुख की लीला नहीं है किन्तु यह अप्राकृत (दिव्य) प्रेममाधुर्य-सम्पुटित नित्य आनन्द की अभिव्यक्ति है।

श्रीरासलीलामें इन समस्त वैचित्र्य और वैशिष्ट्योंके अतिरिक्त भी अनेक चमत्कारपूर्ण संदेश सर्वातिशायीरूपसे विद्यमान हैं।

श्रीभगवान् स्वरूपतः षडविध–ऐश्वर्यमय हैं श्रीरासलीलामें ये छओं ऐश्वर्य ही प्रकाशित हुये हैं। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्णचन्द्रमें चार अनन्यसाधारण माधुर्य भी विद्यमान हैं—रूपमाधुर्य, वेणुमाधुर्य, प्रेममाधुर्य और लीलामाधुर्य। रासलीलामें ये सभी माधुर्य चमत्कारिकरूपसे प्रस्फुटित हुये हैं। अतएव श्रीरासलीला असमोर्ध्व–ऐश्वर्य-माधुर्यमण्डित एक अखण्डलीला है। इस रससमुद्रकी लीलाकी गंभीरतामें गोताखोर बनकर सतत डुबकी लगाकर लीलाके माधुर्यरत्नोंका आहरण करना होगा। आइये, हमभी श्रीगुरुका आनुगत्य, भजनसाधना और गौरगोविन्दकी कृपाका सहारा लेकर यात्रा करें। श्रीगौरचन्द्रकी करुणा–चन्द्रिकाकी ज्योत्स्नासे व्रजके निभृत निकुञ्जका पथ आलोकित होगा। हृदयमें व्रजकी विविध वैचित्र्यमयी लीलाका रस-माधुर्य निरन्तर स्फूर्त होगा। श्री राधामाधवकी करुणासे एवं प्रेमसे हम धन्य होंगे।

गौर-प्रेम-रसार्णवे, से तरङ्गे येवा डुबे, से राधामाधव अन्तरङ्ग।

इति श्रीरासपञ्चाध्यायीकी फेलालव व्याख्या समाप्त।

श्रीहरिः

व्याख्याकर्ता :—डॉ० श्रीमन् महानामव्रत ब्रह्मचारी
एम० ए०, पी० एच० डी०, डि० लिट्,
अनुवादक—चतुर्भुज तोषनीवाल